



शतशत वन्दन



प्रभात शुक

शत-शत वन्दन ! शुभ अभिनन्दन !! नव वसन्त 'यशवन्त' की।
सह्याद्रि के धन-उपघन के रसमय-सरस सुगन्ध की ॥

वीर-वीर मुरकानों से जो वीर निशा की छाती को,
जन-जागृति के हेतु सदा स्नेह-दीप की याती को;
अधिरल जला-जला कर साथी आँधी आँ, तूफान में,
चला अडिग विश्वास लिए जो बापू के वरदान में;
जाग्रत प्रतिमा छत्रपति के पौरुष अमित अनन्त की !
शत-शत वन्दन ! शुभ अभिनन्दन !! नव वसन्त 'यशवन्त' की ॥

अभिनन्दन शत बार हमारा उस माई के लाल का,
सदा दाहिना हाथ रहा जो वीर जवाहरलाल का;
जिनकी विजयों का साक्षी वह हिन्दूकुशा गिरिराज है,
वीर मराठों के जन-मन का गौरवमय सिरताज है;
आज चन्द्रिका-सी फैली है धवल कीर्ति 'यशवन्त' की !
शत-शत वन्दन ! शुभ अभिनन्दन !! नव वसन्त 'यशवन्त' की !!



भाषा साहित्य और अशान्तराज्य चर्चा



अनन्त गोपाल शेषडे

श्री यशवन्तराजजी चव्दान साहब से मेरी पहली मुलाकात हुई—
२ अक्टूबर १९५६ को। वे श्री कलमवारजी के निवास-स्थान
पर ठहरे हुए थे और दिन भर गान्धी-जयन्ती के कार्यक्रमों को निपटाकर
थके-मांटे देर से लौटे थे। एक साहित्यिक-पत्रकार मित्र के ज़रिए यह
भेंट तय हुई थी।

उस समय श्री चव्दान पुराने बम्बई राज्य के एक मन्त्री मात्र थे।
नए विशाल द्विभाषी बम्बई राज्य के निर्माण का निश्चय हो चुका था, पर
उस वक्त यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि उसके मुख्य-मन्त्री वे
होंगे। उन दिनों तो यही लज़ता था कि श्री मोरारजीभाई देसाई के
हाथ में ही इसके संचालन की ज़िम्मेदारी सौंपी जाएगी।

एक तरह से काफी संघर्ष और वाद-विवाद के दिन थे। बम्बई के
प्रश्न को लेकर तनाव पैदा हो गया था और मराठी एवं गुजराती भाषी
लोगों में कुछ मनमुटाव पैदा हो गया था जो वांछनीय नहीं था। हालांकि
प्रत्यक्ष राजनीति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था—न तब था और न अब
है—फिर भी एक साहित्यिक एवं तटस्थ पत्रकार की दृष्टि से तथा एक
नागरिक की हैसियत से भी, मेरे मन में इन घटनाओं की प्रतिक्रियाएँ
अवश्य हुआ करती थीं। शायद मेरी अलिप्तता और तटस्थता के कारण
ही मेरे विचारों का कुछ मूल्य रहा हो और उसी कारण संभवतः मेरे
साहित्यिक मित्र ने इस भेंट का आयोजन किया हो।

हमारी भेंट के लिए कोई हेतु या विषय तो था नहीं—वह
एक मुलाकात के लिए मुलाकात थी। महज़ एक सम्पर्क। इसलिए
बातचीत का सिलसिला कोई पूर्व-नियोजित नहीं था, वहीं के वहीं
चल पड़ा।

मुझे स्मरण है कि मैंने श्री चव्दान साहब से दो मुद्दों पर विशेष रूप
से बातचीत की थी। एक तो यह कि यदि द्विभाषी बम्बई राज्य का प्रयोग
सफल करना हो तो गुजराती बन्धुओं की हार्दिक सद्भावना सद्भावना और
सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें यह कदापि नहीं अनुभव होना चाहिए
कि चूं कि वे कम संख्या में हैं इसलिए उन्हें जरा भी नुकसान होगा।
उन्हें हमेशा यह महसूस होना चाहिए कि वे बराबरी के इज्जतदार साझेदार
हैं जिनके सहयोग की कद्र की जाती है। तभी वे तहेदिल से इस प्रयोग
को सफल बनाने के लिए जी-जान से कोशिश करेंगे। दोनों भाषा-भाषियों
में अपने-अपने विशिष्ट गुण हैं, और यदि दोषों को दर-किनारा रखकर

इन गुणों पर ही जोर दिया जाए तो नया बम्बई राज्य अत्यन्त समृद्ध और वैभवशाली बन सकता है।

मेरा दूसरा मुद्दा यह था कि इस प्रदेश की जनता, जो पुराने मध्य-प्रदेश से हटकर नए बम्बई राज्य में सम्मिलित की जा रही है, यह अपेक्षा रखती है कि शासन शुद्ध, तटस्थ और स्वच्छ हो, भ्रष्टाचार से मुक्त हो, और चुस्त, तेज और कार्यक्षम हो, और चूंकि वह प्रजातान्त्रिक शासन है इसलिए जनताभिमुख तो उसे होना ही चाहिए।

इन दोनों बातों के बारे में श्री यशवन्तरावजी ने तुरन्त कहा कि इसमें मतभेद की तो कोई गुंजाइश नहीं है—मैं शब्दों से क्या कहूँ ? हमारी कृति ही हमारे प्रयत्नों का सबूत दे सकती है। मेरी इच्छा है कि इस विभाग की जनता की ये आकांक्षाएं पूरी होनी चाहिए।

उस समय स्वतंत्र विदर्भ का प्रश्न विशेष जोर पर नहीं था। इस मत के माननेवाले लोगों को द्विभाषी बम्बई राज्य में रहने में इतराज नहीं था। यह मामला तो तब खड़ा हुआ जब द्विभाषी राज्य टूटा और महाराष्ट्र राज्य बना।

नए शासन के बारे में यहां के लोगों को जो अनुभव हुआ वह काफी निराशाजनक रहा। वह तटस्थ और निर्व्यक्ति (impersonal) तो था, पर इतना अत्यधिक, कि लगता था जैसे वह काठ की मशीन हो, जिस में मानवीयता या स्पंदन के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रजातान्त्रिक भावनाओं से यह मेल नहीं रखता था। इसका कारण था बम्बई राज्य की नौकरशाही की परम्पराएं जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने से चली आ रही थीं। इस व्यवस्था में कागज़ के घोंडों को ज्यादा महत्त्व था, मानवीय तत्त्वों को कम।

पुराना अनुभव इससे अलग था। वह एक दूसरे छोर पर था। वहां मानव तत्त्व इतना प्रकट था कि आप यदि सत्ताधारियों के दोस्त हैं तो फिर आपकी शान-सुविधाओं की सीमा नहीं, और यदि आप उसके दुश्मन हैं तो फिर शासन आपके पीछे सतुआ बांधकर पड़ जाएगा और आपको भागते रास्ता नहीं मिलेगा। इन दोनों आत्यन्तिक प्रवृत्तियों के पीछे न्याय-अन्याय का, औचित्य-अनौचित्य का कोई सर्वाल नहीं था। इसमें जिनकी चलती थी वे मजे लूटते थे, जिनकी नहीं चलती थी वे त्राहि त्राहि पुकारते थे। मेरी धारणा रही है कि पुराने मध्यप्रदेश के टूटने के पीछे यह अतिरेक काफी जिम्मेदार रहा है।

अतिरेक दोनों ओर था, पुराने मध्यप्रदेश में तथा पुराने बम्बई राज्य में। और चूंकि घड़ी का पेण्डुलम एकदम एक छोर से दूसरे विरुद्ध छोर पर चला गया इसलिए वह ज्यादा अखरा, कर्कश लगा, ऐसे लगा जैसे शासकीय गाड़ी के पहियों का तेल-औगन चुक गया हो, उसमें रेत पड़ गई हो।

जाहिर है कि ये दोनों अतिरेक अनुचित हैं, और इन दोनों के बीच का सुवर्ण-मध्य निकालनेकी ज़रूरत है तभी ठीक संतुलन कायम होगा, और शासन तथा समाज का ऊंट ठीक करवट पर बैठेगा।

यह बात तो मैंने एक सर्वसाधारण जन या नागरिक की दृष्टि से कही। उसकी सर्वसाधारण दृष्टि तो यह है कि—“को नृप होय हमें का हानि !” राजा कोई भी हो, हमें क्या नुकसान है। वह तो यह चाहता है

कि शासन के साथ उसका जो भी सम्बंध आता है उसमें उसे दिक्रत न हो, परेशानी या कठिनाई न हो। यह दिक्रत या परेशानी तब होती है जब जिस सरकारी अधिकारी के सामने उसे जाना पड़ता है वह समझता हो कि वह उसका मालिक है, उसकी आकड़ के सामने नागरिक को हमेशा विधियाना-मिमियाना चाहिए, अर्जी लेकर खड़े होना चाहिए, और बार बार चक्कर काटना चाहिए। यह वृत्ति किसी एक विशिष्ट राज्य में नहीं सारे देश में दिखाई देती है। नौकरशाही या शासन समाज पर कितना हावी बन बैठा है उसीका यह लक्षण है।

इसके लिए ज़रूरत यह है कि हमारी नौकरशाही और अधिकारी-वर्ग का ही सबसे पहले प्रशिक्षण होना चाहिए। प्रत्येक शासकीय कर्मचारी को यह महसूस करना चाहिए कि प्रजातन्त्र में नागरिक के हाथ में ही सार्वभौम सत्ता होती है, वही सर्वोपरि है और कर्मचारी उसका सेवक है। नागरिक के प्रति स्नेह, आदर और न्यायबुद्धि रखना उसका कर्तव्य है, वह इसी के लिए वेतन पाता है। नागरिक का सुख-स्वास्थ्य सफल प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है। प्रजातन्त्र एक जीवन-प्रणाली है जिसमें उदारता और सहिष्णुता अनिवार्य है। यह दृष्टि यदि शासन की तथा उसके नेताओं की होगी तो प्रजातन्त्र सफल होगा और उसके मीठे फल हमें चखने के लिये मिलेंगे।

प्रजातन्त्र में राजनीति भी अवश्यम्भावी है। भिन्न भिन्न पक्षों के बिना प्रजातान्त्रिक शासन चल नहीं पाता। उसी के परिणाम-स्वरूप पक्ष-गत राजनीति का जन्म होता है। और चूंकि एक पक्ष के हाथ में सत्ता आ जाती है तो उससे सत्तात्मक राजनीति का प्रादुर्भाव होता है। जहां एक हद तक यह अनिवार्य है वहां उससे कुछ बुराइयां भी पैदा हो जाती हैं। खासकर बुराई तब पैदा होती है जब सत्ता को साधन न मान कर साध्य मान लिया जाए।

प्रजातान्त्रिक प्रणाली में सत्ता को सेवा का साधन मानना आवश्यक है। जिनके पास सत्ता है उन्हें यह विवेक रखना चाहिए कि वे उसके न्यासी (ट्रस्टी) हैं, विश्वस्त हैं, और वह जन-कल्याण का एक उपकरण (instrument) है, माध्यम है। सत्ताधारी व्यक्तियों की ऐसी वृत्ति रही तो भारत की जनता ऐसी उदार है कि वह बार बार उन्हीं के हाथों में सत्ता सौंपेगी। जनता का यह प्रेम और विश्वास निभा ले जाना ही हमारे नेतृत्व की कसौटी है। उस कसौटी पर यदि वे खरे उतरे तो उन्हें, समाज या देश को कोई खतरा नहीं है। फिर हमारे देश में प्रजातन्त्र मजे में चल सकता है, खूब बन सकता है।

पर इसके विपरीत सत्तात्मक राजनीति की होड़ लगा जाए, और सेवा-त्मक राजनीति गौण हो जाए तो फिर विघटन और विभेद के तत्त्व जोर पकड़ेंगे। आज प्रायः प्रत्येक सूबे में यही हो रहा है, महाराष्ट्र और गुजरात में ही शायद स्वामित्व और मजबूती की भावना सबसे प्रबल है, और बाकी जगह दलबन्दी, और वह भी शासकीय पक्ष के भीतर, काफी बड़े प्रमाण में सिर उठा रही है।

एक बुनियादी सवाल उठता है कि जो स्वतंत्रता-संग्राम के लिए सैनिक थे, जिन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में कन्धे से कन्धा मिटा कर अंग्रेजों से अनेक लड़ाइयां लड़ीं, जिनके बदन पर आज भी युद्धक्षेत्र

की चोटों के निशान दिखाई देते हैं, वे आज आपस में क्यों लड़ते हुए जान पड़ते हैं? उसका कारण है, सत्तात्मक राजनीति! जिनके हाथ में सत्ता है वे यदि उसका उपयोग अपने दल या ग्रूप के हाथों में सत्ता रखने के लिए ही करें, और सेवा के लिए नहीं, तो फिर परिस्थिति और भी बिगड़ जाती है। और यदि इसी सत्ता का उपयोग न्यायबुद्धि से, सेवा और कल्याण के लिए हो, तो यह सवाल गौण हो जाता है कि सत्ता किसके हाथ में रहे।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीति, विशेषतः सत्तात्मक राजनीति, संघर्ष, विभेद और विघटन के तत्वों का पोषण करती है और उसी से तनाव पैदा होता है, कड़ता पैदा होती है। जिनके हाथ में सत्ता होती है वे उसीसे चिपके बैठे रहना चाहते हैं, और जिनके हाथ में नहीं होती वे सत्ताधारियों को जैसे बने वैसे, हर किसी उपाय से, निकाल-बाहर करने के लिए जमीन-आस्मान एक करते रहते हैं। मूल संघर्ष का कारण तो यह होता है, पर उस पर मुलम्मा चढ़ाने के लिए, पर्दा डालने के लिए, तरह तरह की तरकीबों और दलीलों खोज ली जाती है, और भाषा का मामला भी खड़ा कर दिया जाता है। कारण या उपकरण या हथियार कुछ भी हो, बुनियादी मामला यही होता है कि जो ताकत हमारे हाथ में नहीं है उसे हम कैसे हथियारें।

भाषा और धर्म का मामला बड़ा नाजुक होता है। वह यदि खड़ा कर दिया तो फिर बड़ा से बड़ा आदमी भी अपना विवेक खो देता है और समस्या का असली स्वरूप विकृत हो जाता है, उस पर काल परदा पड़ जाता है। यह मामला तो बड़ी सहिष्णुता, दूरदर्शिता और समझदारी से निपटाना जरूरी है। ज़रा हम भावना के आवेग में बहें, जो कि बिल्कुल स्वाभाविक है, तो हम फिर इस समस्या को नहीं सुलझा सकते। भाषायी समस्या भी कुछ इसी प्रकार की कठिन समस्या है, जिस पर पिछले पांच-सात वर्षों में काफी सोचा-लिखा गया, और जिसके मीठे-कड़वे परिणाम हम सबको देखने को मिले।

भाषायी समस्या के बारे में एक साहित्यिक का दृष्टिकोण राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोण से भिन्न होना स्वाभाविक है। वह तो मानता है कि—“सबै भूमि गोपाल की” सब भूमि गोपाल की है इसलिए जिसकी जहां मर्जी हो, रहे। इसके अलावा, साहित्य दिलों को जोड़नेवाली वस्तु है, तोड़नेवाली नहीं। राजनीति में पक्षगत या दलगत राजनीति आ जाती है इसलिए हो सकता है कि वह विभेद की दीवालें खड़ी करे, पर इन दीवारों को गिराना ही साहित्य का काम है। राजनीतिज्ञ दो भिन्न भिन्न भाषायी प्रान्तों की सरहद को सीमा मानता है तो साहित्यिक, संगम। इसलिए राजनीति यदि जोशखरोश की बात करेगी तो साहित्य शान्त-चित्त से तर्क और न्याय की बात करने का प्रयत्न करेगा।

इसलिए साहित्यकार की यह वृत्ति होती है कि यह कदापि मानने की ज़रूरत नहीं है कि यदि भाषायी प्रान्त नहीं बनते तो कोई बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता, और यदि बन गए हैं तो बहुत बड़ा अनर्थ हो गया। यह तो शासन-व्यवस्था का इन्तजाम है, जो स्वतंत्रता के बाद अंग्रेज़ों की जगह मातृभाषा और राष्ट्रभाषा को जो महत्व प्राप्त हुआ, उसका स्वाभाविक पर्यवसान है। प्रजातन्त्र में प्रजा को भाषा का सर्वोपरि महत्व है,

इसलिए प्रजा की भाषा में शासन, शिक्षा, और वैधानिक कार्यवाई होना अनिवार्य है। गान्धीजी ने उसे मान्यता दी उसके पीछे यही दृष्टि थी।

पर साथ ही साथ गान्धीजी ने राष्ट्रभाषा पर भी अत्यन्त ज़ोर दिया क्यों कि भिन्न भिन्न भाषाओं के मणियों को एकत्रित लाने का वही एक-मात्र सूत्र है। राष्ट्रभाषा के सूत्र के बिना बिखरे हुए मोतियों का आभूषण तैयार नहीं होगा, और मां राष्ट्र-भारती के गले को सुशोभित एवं अलंकृत नहीं कर सकेगा।

इस पृष्ठभूमि पर यह मान लेना कि भिन्न भिन्न भाषी प्रान्तों के बनने से भारतीय एकता को खतरा होगा, तर्क-संगत नहीं लगता। भिन्न भिन्न भाषाएं बोलनेके कारण हमारी संस्कृति भिन्न भिन्न नहीं हो जाती। ब्रिटीश-केदारनाथ की यात्रा पर सब प्रान्तों और भाषाओं को बोलनेवाले लोग जाते हैं, और उसी प्रकार रामेश्वरम् के शिवलिंग पर सभी लोग गंगोत्री का जल चढ़ाते हैं। भारतीय संस्कृति की एकता के ये प्रतीकस्थल हमारे पूर्वजों ने शताब्दियों पहले से स्थिर कर के रखे हैं जिसके कारण राज्य और राजनीति भले ही बदलती रहे हमारी मूलभूत सांस्कृतिक एकता अधुण ही बनी रहती है।

और फिर, एक तो भाषायी प्रान्त बनाना नहीं चाहिए था,—आन्ध्र का भी नहीं! और यदि बनाया था तो फिर भाषायी प्रान्तरचना का जो तर्क (Logic) है उसे अन्त तक निबाहना चाहिए। राष्ट्रीय नेताओं ने अन्तमें चले कर इसी दूसरे पर्याय को स्वीकार किया है।

भाषायी वैमनस्य या तनाव एक कृत्रिम एवं विकृत स्थिति है, मूल स्वाभाविक स्थिति है भाषायी सामञ्जस्य और सहयोग की। मनुष्य के जो चारों पुरुषार्थ हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, वे भाषा से प्रभावित नहीं होते। बल्कि वे उनसे परे हैं। भाषा के निर्माण की प्रसव-वेदना संतों और साहित्यिकों ने मोगी है। कोई भी सच्चा संत या साहित्यिक किसी भी भाषा का द्वेष कर सकता है इसकी स्वप्न में भी कल्पना करना असंभव है। जो मानव मानव के हृदयों को, तथा मानव और ईश्वर को मिलाने का प्रयत्न करते हैं उनके दिल में विद्वेष की भावना भला कैसे आ सकती है?

संघर्ष और विद्वेष यह राजनीति की, विशेषतः सत्तात्मक राजनीति की देन है। जैसा कि पहले कहा गया है, जो सत्ता के लिये झगड़ते हैं, हाथापायी करते हैं, वे फिर हर किसी दलील या हथियार का उपयोग करने लगते हैं—भाषायी द्वेष-विद्वेष का भी। वे तो इस सिद्धान्त पर चलते हैं कि लड़ाई में किसी भी चीज़ का इस्तेमाल करना जायज़ है।

विदर्भ की मांग के आन्दोलन का इसी पृष्ठभूमि पर विचार करना चाहिए। तभी हम इस समस्या को सही सही समझ सकते हैं, और उसका निराकरण या समाधान कर सकते हैं।

जो लोग स्वतंत्र विदर्भ की मांग करते हैं उन्हें विशाल द्विभाषी बम्बई राज्य में रहने में एतराज नहीं था। लेकिन महाराष्ट्र के अलग राज्य के बनते ही उनके आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा—वह भड़क उठा। अगर भी क्यों? इसका क्या कारण है? इसपर हमें सहानुभूति से, तटस्थता-पूर्वक और गहराई में जाकर विचार करना चाहिए—असहिष्णुता, दुराग्रह या डण्डेबाजी से नहीं। हम लोग प्रजातन्त्र के युग में रहते हैं

जहां इन तीन कमज़ोरियों के लिए—असहिष्णुता, दुराग्रह और ज़ोर-जबर्दस्ती के लिए स्थान नहीं है।

पुराना मध्य प्रदेश कई वर्षों से द्विभाषी राज्य रहा है जिसमें हिन्दी और मराठी भाषी जनता करीब करीब बराबरी की लोकसंख्या में मिल-जुलकर रहती आई है। जब सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी तब तो दोनों के संघर्ष का कोई सवाल ही नहीं था, दोनों मिलकर अंग्रेजों से लड़ा करते थे। पर जब १९३५ के एक्ट के बाद सत्ता का काफी प्रमाण में हस्तांतर हुआ और राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बने तब आपस के तनाव पैदा होने लगे कि सत्ता के मुख्य सूत्र किस दल के हाथ में रहें। सत्ताकामिनी के प्रभाव और प्रलोभन से उंचा उठ कर काम करना कठिन होता है। वह एक योग है जिसका सतत जागरूक रह कर पालन करना होता है। और फिर, प्रत्येक भाषिक क्षेत्रों में ऐसे लोग तो होते ही हैं जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए विद्वेष की अग्नि में तेल झोंकते हैं, जिनके प्रभाव-परिधि से बाहर रहना स्थितप्रज्ञ का ही काम है।

ऐसे तनावों का पहला विस्फोट खरे-प्रकरण में हुआ और तबसे इस प्रदेश को एक विचित्र दुर्भाग्य ने आ घेरा। दोनों दलों के समस-दार और विवेकी लोग इस स्थिति से दुखी थे और इस वातावरण को सुधारने का प्रयत्न करते थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद एक अरसा ऐसा भी आया जब दोनों के सम्बन्ध सुधरे। पर फिर राजनीति ने पलटा खाया और आपस का तनाव बढ़ गया। इसको घटाने का एकमात्र उपाय यही था कि हिन्दी भाषी लोग मराठी भाषियों का और मराठी भाषी लोग हिन्दी भाषियों का स्नेह और विश्वास संपादन कर पाते पर ऐसा नहीं हो पाया बल्कि उल्टा यह हुआ कि सत्ताधारी व्यक्तियों के रवैये के कारण यह स्नेह और विश्वास कटुता और द्वेष में परिवर्तित हो गया, इस हद तक कि जब राज्य-पुनर्गठन आयोग की स्थापना हुई तो एक भी मराठी भाषी व्यक्ति यह कहने के लिए सामने नहीं आया कि मध्यप्रदेश न टूटे, हम पुराने दोस्तों के साथ रहने के लिए तैयार हैं। जिनके हाथ में सत्ता थी वे स्वाभाविकतः नहीं चाहते थे कि राज्य टूटे। पर जिनके हाथ में नहीं थी उन्हें तो राज्य के टूटने के बिना कोई आशा ही नहीं थी। उन्होंने सोचा कि चलो, यहां तो हमें सुल-चैन नसीब नहीं हुआ, दूसरी बस्ती ही रमाएँ। जिस परिस्थिति और वातावरण में यह हुआ यह सुखदायी हर्षिज्ञ नहीं था।

राज्य-पुनर्गठन के बाद जिन लोगों के हाथ में सत्ता थी वे सत्ताहीन हो गए, और सत्ता का केन्द्र अन्य लोगों के हाथ में चला गया। भाषायी प्रान्तरचना में यह अनिवार्य था, इसलिये इस प्रदेश में जब हिन्दी भाषिकों के हाथ से मराठी भाषिकों के हाथ में सत्ता चली गई तो एक दल में विशेष आनन्द और उत्साह हुआ तो दूसरे में निराशा और निरुत्साह। जिसके मन में जितनी कटुता थी उसी प्रमाण में यह उत्साह या निरुत्साह पैदा हुआ। और जिनका सत्तात्मक राजनीति से कोई लेना-देना नहीं था, वे तब भी बोले—“को नृप होय हमें का हानि”। पहले भी हम मज़े में रहे, अब भी हम मज़े में रहेंगे।

राजनैतिक परिवर्तनों और परिस्थितियों से समरस होने में समथ लगता है, कठिनाई होती है। इसलिये कभी कभी स्वतंत्र विदर्भ की

मांग करनेवालों में अत्यधिक कटुता और विद्वेष के लक्षण दिखाई दें तो उससे क्रोधित नहीं होना चाहिए बल्कि उसकी पुरानी घृष्टभूमि को ध्यान में रखकर उसे सहानुभूति से समझने की कोशिश करनी चाहिए। क्रोध को अक्रोध से, और विद्वेष को प्रेम से जीता जा सकता है।

जिस प्रकार बम्बई में महाराष्ट्र राज्य के प्रारंभ में कुछ दिनों तक ऐसा भय था कि उस नगरी का सर्वोपेक्ष स्वल्प नष्ट होने की संभावना है, और वहां रहने वाले विविध जाति, भाषा और धर्मों के लोगों को अनुकूलता का वातावरण नहीं मिलेगा, पर कुछ महीनों में ही यह भय निराधार साबित हुआ। आज वहां गुजराती समाज, हिन्दी भाषी तथा बाकी सभी समाजों के लोग अपना नित्य का जीवन आनन्दपूर्वक संपन्न कर रहे हैं। उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव से विदर्भ के मराठीतर लोगों को भी विदित होगा कि उनकी आशंकाएं बेबुनियाद हैं।

यूं महाराष्ट्र में शताब्दियों से हिन्दी की परम्परा चली आ रही है। महाराष्ट्र के संतों ने, नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि ने, हिन्दी में मजनों और भक्तिगीतों का निर्माण किया है। महाराष्ट्र में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने में किंचित् मात्र विरोध भी नहीं हुआ है, बल्कि उसका हृदय से स्वागत किया गया है। लिपि की सहूलियत के कारण भी महाराष्ट्रीय लोगों को हिन्दी सीखने में कोई दिक्कत नहीं मालूम पड़ती और कई महाराष्ट्रीय लोगों ने हिन्दी साहित्य एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में काफी ठोस कार्य किया है। महाराष्ट्र सरकार का भी हिन्दी के प्रति अत्यन्त सहानुभूति का रुख है, और राष्ट्रभाषा के रूप में वह समूचे महाराष्ट्र राज्य में स्वीकृत हो चुकी है। महाराष्ट्र सरकार को हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिए और भी ठोस कदम उठाने चाहिए। इस सम्बन्ध में हमने साहित्यकार संगम की ओर से एक डेप्युटेशन भी श्री यशवंतरावजी चव्हान के समुख उपस्थित किया था जिसमें उन्होंने इस विचारधारा का तुरन्त स्वीकार कर लिया। एक बार हमें महाराष्ट्र राज्य के शिक्षा मन्त्री श्री बाळासाहेब देसाई से भी इस विषय पर चर्चा करने का मौका मिला था और उन्हें भी ये विचार पसन्त आए थे। गरजे की महाराष्ट्र में हिन्दी के लिए सर्वथा अनुकूल वातावरण है जैसे जैसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव अधिकाधिक प्रमाण में होता जाएगा वैसे वैसे कटुता और विद्वेष की भावना कम होती जायगी। श्री यशवंतराव चव्हान, श्री बाळासाहेब देसाई आदि मित्रों को इतना ज़रूर देखना चाहिए कि उनकी हिन्दी के प्रति उदार नीति का व्यावहारिक अमल सचिवालय के लाल फीते में न अटक जाए।

प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को वैधानिक एवं शान्त उपायों से अपने मत का प्रचार करने का अधिकार है, पर हिंसा, द्वेष और कटुता के लिए उसमें स्थान नहीं है। कटुता और विद्वेष का दुश्चक्र कभी कोई बड़ा कार्य नहीं कर पाता। उससे वातावरण विधाक्त हो जाता है। फिर भी जो शासन में है उन्हें तो सहिष्णुता और संतुलन से ही काम लेना चाहिए।

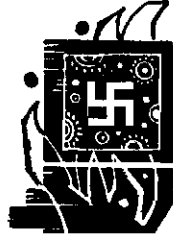
श्री यशवंतराव चव्हान महाराष्ट्र राज्य को एक उदार, प्रगतिशील और आदर्श प्रजातान्त्रिक राज्य बनाना चाहते हैं। वे किसी भी बात के बारे में कट्टर दुराग्रही नहीं हैं। मुझे उनसे दो-चार बार मिलने का

मौका आया है और मेरा अनुभव है कि वे हमेशा नवीन विचारों और दृष्टिकोणों का स्वागत करते हैं, जो बात उनकी बुद्धि को पटती है उसे तुरन्त स्वीकार करते हैं, और नहीं पटती तो बड़े सौजन्य और विनय के साथ अस्वीकार कर देते हैं। वे अपनी टीम के नेता जरूर हैं, पर अपने सहयोगियों के साथ उनका व्यवहार एक साथी जैसा रहता है। अकड़ या अहंकार की भावना, जो अक्सर पद-ग्रहण करनेवालों में दिखाई देती है, उनमें नहीं दृष्टिगोचर होती। किसी भी अच्छे कार्य के प्रति उनकी स्वामाविक सहानुभूति होती है और मैत्री निमाने में भी वे बहुत दक्ष-चित्त रहते हैं।

अक्सर राजनीतिज्ञों में देखा जाता है कि उन्हें वाचन, अध्ययन करने के लिए एक तो वक्त नहीं रहता और दूसरे रुचि भी नहीं होती। श्री यशवंतरावजी चव्हान इसके अपवाद हैं। वे बुद्धिवादी हैं, अध्ययनशील हैं, और साहित्य, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकें अक्सर खरीद कर पढ़ा करते हैं। उन्होंने औरंगाबाद के किसी भाषण में कहा था कि महाराष्ट्र में संतों और विद्वानों के सामने सिर छुकाने की परम्परा चली आई है। भक्ति, ज्ञान और साहित्य के प्रति इतनी आस्था संस्कारिता के लक्षण है। ऐसी व्यापक बुद्धिमत्ता

चतुर्विध रुचि, सत्ता के साथ ही साथ शील और सौजन्य, कुशल राजनीतिज्ञता तथा लोकनीति के प्रति आस्था, चारित्र्य और व्यक्तित्व एक साथ कम दिखाई पड़ता है।

श्री यशवंतराव चव्हान आज अपने जीवन के ४८ वर्ष पूरे कर रहे हैं। वे काफी तपण हैं, और इतनी छोटी उम्र में उन्होंने नेतृत्व की जो योग्यता बतलाई है वह भारतीय नेतृत्व की अगली पीढ़ी के लिए शुभ लक्षण है। गांधीजी ने मिट्टी से धीरे पुरुष बनाए और धुरन्धर राष्ट्र-नेताओं की एक लोह-पंक्ति खड़ी कर दी। गांधीजी की पीढ़ी धीरे धीरे विराम पा रही है। सब देशप्रेमियों को इस बात की चिन्ता और शिकायत रही है कि हम लोग अपने देश में नेतृत्व की दूसरी पंक्ति खड़ी नहीं कर पाए। इस चिन्ता और शिकायत के श्री यशवंतरावजी अपवाद हैं। काश, उनके जैसे व्यक्ति और होते, हरेक सबे में होते! महाराष्ट्र राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री के रूप में वे उपलब्ध हुए यह सौभाग्य की बात है। वे न केवल महाराष्ट्र के ही लिए बरन सारे देश के लिए भूषणास्पद साबित होंगे ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है। वे दीर्घायु हों और अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त करें तथा देश की अधिकाधिक सेवा करने में समर्थ हों यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है।



“संयुक्त महाराष्ट्र केवल एक साध्य नहीं है बल्कि सामाजिक एकता और समानता की प्राप्ति का वह साधन है। महाराष्ट्र की सभी समस्याएँ भारत की समस्याएँ समझकर सुलझानी चाहिये और इस राज्य को भारत का एक आंतरिक घटक समझकर ही उसका विकास किया जाना चाहिये।”

—यशवंतराव चव्हान

महाराष्ट्र दर्शन



डॉ. ज्ञानवती दरबार

पम्. ए., पीएच. डी.

भारत के इतिहास की परंपरा में नवनिर्मित महाराष्ट्र प्रदेश का विशेष स्थान है। जन-आन्दोलन की इस प्राचीन और प्रगतिशील पुण्यभूमि में आज एक बार पुनः वहां की जनता में नवोत्साह के दर्शन होते हैं। मराठी भाषा-भाषी लोगों के छिन्नभिन्न समुदायों का शासकीय दृष्टि से एकीकरण कर इस नवप्रदेश का निर्माण हुआ है। वहां के भ्रमण और दर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रदेश की जनता के हृदय में ऐतिहासिक दशाओं और शासकीय व्यवस्थाओं से प्रादुर्भूत विभिन्न भावनाएं विद्यमान हैं। सन् १९४७ में जब भारत को स्वतंत्रता के प्रथम दर्शन हुए तब जन-हृदयों में बड़ी बड़ी आशाएं और उमंगें थीं। किसी भी वर्ग या समुदाय का कोई व्यक्ति क्यों न हो, उसे राष्ट्र की इस नवचेतना के प्रति विशेष उल्लास था और अपने अपूर्ण जीवन में विविध रूप से पूर्णता प्राप्ति की आकांक्षा। आज के महाराष्ट्र में इस तथ्य का एक बार पुनः दर्शन होता है। फिर भी यद्यपि नव-स्वातंत्र्य के प्रति जन-हृदय में विशेष श्रद्धा का भाव था, किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से उसमें किंचित् निराशा अथवा अनुत्साह का वातावरण प्रतीत होता था। राजनीतिक व्यवस्था का पट-परिवर्तन जनता की प्रमुख अभिलाषा थी। इस पृष्ठभूमि में वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेश का निर्माण जन-हृदय की चिर-अपूर्त वांछा की पूर्ति एवं जन-साधारण को संतोष प्रदान करनेवाला कहा जाएगा। यूं ऐतिहासिक और भौगोलिक कारण इसमें सहायक हुए, किन्तु इसका मुख्य श्रेय वर्तमान नेताओं की सज्ज और उनके द्वारा जनता में उपयुक्त भावनाओं की जागृति ही कहा जाएगा।

अभी हाल ही में उत्साह और उमंग की जिस उत्ताल तरंग के इस नवप्रदेश में विशेष दर्शन हुए, उसमें आशाओं की तरल तान और अभिलाषाओं का मूर्त दर्शन होता है। वहां की चलती फिरती मानव मूर्तियों और गलियों के दृश्य हमें बरबस उस भूतकाल में पहुंचा देते हैं और वहां के मैदान हमें उनके कण-कण में व्याप्त अतीत का एक महान संदेश सुनाते मालूम होते हैं। उन मैदानों के उस पार बिखरी सखाद्री की शैल मालाएं हमसे मानों बातें करती हैं और उस समय से आज तक वर्षा और आतप में तपे हुए किले मानों उन वीरगाथाओं को सुनने के लिये हमें निमंत्रण देते हुए मालूम होते हैं। वास्तव में सारा वातावरण स्वयं एक मूर्तजीवन बनकर सामने आता है, वह



बोल्ता है, चलता है और प्रेरणा देता है। इस बाहरी वातावरण से प्रभावित होकर मनुष्य अन्तर्देश में झाँकता है। कोई बस्तु उसे विश्वास दिलाती हुई जान पड़ती है कि महाराष्ट्र को जानने और इस परिवर्तन के महत्त्व को समझने के लिये यही बाह्यान्तर दर्शन, उसका समन्वित चिन्तन और भूत तथा भर्वाचीन का समीकरण ही सहायक बन सकता है।

महाराष्ट्र जिन विविध रूपों और अभिनव दृश्यों को उपस्थित करता है उन्हें देखने का मुझे अवसर मिला है। एक ओर पुरानी वीर गाथाओं और व्यापार की प्राचीन वैभवपूर्ण गतिविधियों से थके दूर उत्तर कोंकण का शांत सागर-तट अपने नादमय स्वरो से स्वागत करता प्रतीत होता है। मुरुड से अलीबाग तक का सागरप्रदेश सदा मानों अपने ही संसार में डूबता, उतरता और लहरता रहता है। दूसरी ओर नीचे दक्षिण की ओर जैसे जैसे नारियल के कुंज घने बनते जाते हैं, हरियाली का रंग गहरा होता है और कोंकण की परंपरा मोट बनती है, तब दृश्य भी मनोहारी बनते जाते हैं और चित्र भी बदल जाते हैं। इससे भी आगे गोआ के पुर्तगाली भाग को पीछे छोड़कर जहाँ मराठा प्रदेश की सीमा कन्नड भाषी फर्नाटक से जुड़ती है, एक विस्कुल नयी हवा का झोंका हमें स्पर्श करता है। इस समुद्र के किनारे के पूर्व में सद्माद्रि की पर्वत श्रेणियाँ एक के बाद एक घनी पंक्ति में खड़ी दक्षिण को एक विशेषता प्रदान करती हैं और साथ ही साथ कृष्णा और गोदावरी दो प्रमुख नदियों को जन्म देती हैं। यह वही प्रदेश है जहाँ के वीरान मैदान और पर्वत इन नदियों को अलग करते हैं और यही वह प्रदेश है जहाँ पराक्रमी मराठा रहते थे। यही उस वीर मराठा जाति की जन्मभूमि है जिसने तत्कालीन परिस्थितियों में देश में दूर दूर अपने शौर्य और पराक्रम का शिक्षा जमा दिया था।

इस उन्साह की लहर पर यदि एक घड़ी ठहरकर विचार किया जाय तो हम इसे महाराष्ट्र के अतीत के तट से जुड़ा पाएंगे। इसलिये यह कोई आकस्मिक और अस्वाभाविक घटना नहीं है। इतिहास की भाषा में यह कहा जा सकता है कि इस प्रदेश का अतीत वर्तमान से आ मिला है और इस प्रकार वे सब भावनाएँ जो कुछ समय तक सोयी पड़ी थीं, अब जाग उठीं और आधुनिक चेतना का एक अंग बन गयीं हैं। इस भूमि को और इसके द्वारा देश के अन्य भागों को शिवाजी ने जिस तरह आंदोलित किया था उसका असर मानो अभी भी यहाँ की पहाड़ियों और मैदानों पर है। इसलिये नवचेतना की उस लहर को जो स्वाधीनता से पूर्व और उसके पश्चात् उद्भूत हुई, महाराष्ट्र के बीते इतिहास से वेग मिलना स्वाभाविक है।

जिस समय राजपूत लोक उत्तर-पश्चिम से आनेवाले सुल्तानों के प्रति आत्मसमर्पण कर चुके थे, शिवाजी के नेतृत्व में मराठों ने ही मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सफल रोकथाम की व्यवस्था की। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद, बंगाल के साथ महाराष्ट्र ने भी स्वातंत्र्य-युद्ध में अग्रणी भाग लिया। गोखले, तिलक और अन्य नेताओं ने अपने नेतृत्व द्वारा जनसाधारण की उमंगों को अभिव्यक्त किया। 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग पहली बार लोकमान्य तिलक ने किया।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस प्रदेश का जीवन कम समृद्ध और प्रेरणा-

दायक नहीं। यहीं के पावन और शान्त वातावरण में बौद्ध मिथुओं और जैन तथा हिन्दू साधुओं की तप और चिन्तन की प्रेरणा मिली। उन्होंने अपने रहने के लिये यहाँ की पहाड़ियों में अनेक कन्दराएँ बना डालीं। आधुनिक अक्स्ता और हलोरा तथा एलिफंटा की गुफाएँ उसी धर्ममूलक कलात्मक चेतना के नमूने हैं। मध्ययुग में संत शानेश्वर ने इस परम्परा को सूत्रबद्ध किया और उनके बाद नामदेव, तुकाराम आदि सन्तों ने भक्ति-मार्ग द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा का व्यापक प्रसार किया। कौन कह सकता है कि यह विरासत आज भी भारत के, विशेषकर महाराष्ट्र के कलाकारों को अनुप्राणित नहीं कर रही ?

पूना नगर का दर्शन हमें महाराष्ट्र के ऐतिहासिक वैभव की रंगबिरंगी झलक दिखाता है। इस नगर के उदय एवं विकास का इतिहास मराठा शक्ति के उत्थान का इतिहास है। शिवाजी के अभ्युदय से मुगल, बहामनी तथा अन्य कुछ सत्ताओं के कारण पूना की हुई दुर्दशा और अपमान के एक अध्याय की परिस्मृति हुई। शिवाजी ने पूना नगर की जो प्रतिष्ठा स्थापित की वह आज तक विद्यमान है। न केवल उन्होंने किन्तु उनके पश्चात् पेशवाओं ने भी पूना को ही अपनी राजधानी बनाया। इसलिये महाराष्ट्र की जनता में आज भी पूना नगर के प्रति सम्मान की भावना तथा इसकी समुच्चति में योग देने वालों के प्रति श्रद्धा और गौरव का भाव रहना स्वाभाविक ही है। आज हमारा देश स्वतंत्र है और हमारे भारतीय गणराज्य के सभी प्रदेश एक सूत्र में आवद्ध हैं, अतः किसी प्रदेश विशेष का गौरव तथा उसकी महत्ता समूचे भारत का गौरव और महत्ता है और हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस भावना को प्रोत्साहन दें। यह धारणा अममामत्र है कि राष्ट्रीय गौरव और प्रादेशिक महत्त्व में परस्पर विरोध है। एक बार यदि यह बात हमारे हृदय में स्पष्ट हो जाय तो महाराष्ट्र के दर्शन और वहाँ के उल्लास और उमंगों से पूरित जन-हृदयों को देखकर अखिल राष्ट्र की नवचेतना का रहस्य हमारे सम्मुख उद्घाटित हो जाएगा और यह दृश्य हर दर्शक के लिये प्रेरणा का स्रोत बन सकेगा।

अभी कुछ समय पूर्व तक अनेक भागों में छिन्नभिन्न रूप से फैले हुए महाराष्ट्र की दशा एक भूलभुलैया के समान पहेली सी बनी हुई थी। स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर देशी रियासतों और रजवाड़ों के विलीनीकरण के साथ भारत की प्रादेशिक सीमाओं का पुनर्गठन हुआ। गत मई मास में बम्बई के द्विभाषी प्रान्त का विभाजन इस प्रक्रिया का अंतिम चरण था। सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूप राज्यों के तर्क को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो महाराष्ट्र में अथवा किसी भी अन्य भाषाभाषी क्षेत्र में एकीकरण के जो आन्दोलन हुए, वे निरापद दिखाई देंगे। कम से कम महाराष्ट्र में भाषा और संस्कृति के आधार पर एकीकरण एक प्रबल जनजागरण का श्रीगणेश हुआ दीख पड़ता है। इस प्रदेश में जागरण की यह लहर एक वरदान के समान है जिसे यहाँ के विवेकशील नेताओं ने राज्य के विकासार्थ एक सुअवसर के रूप में बदल दिया है।

जन और साधन दोनों ही दृष्टि से महाराष्ट्र सम्पन्न प्रदेश है। केन्द्रीय सरकार तथा योजना आयोग अनिहित के लिये इन साधनों के

समुचित उपयोग के लिये प्रयत्नशील है, किन्तु यह समस्या जितने विकट रूप में आब उपस्थित है ऐसी पहले कभी नहीं थी। जब हम वहां के विभिन्न भागों में कार्यान्वित योजनाओं का दर्शन करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार यहां के लोग शासन को सहयोग देने और उनसे लाभ उठाने में एक दूसरे से होड़ कर रहे हैं। यह महाराष्ट्र की समृद्धि और उसके सुन्दर भविष्य का प्रमाण है और इस प्रकार समस्त भारत के उज्वल भविष्य का भी सूचक है।

जिन लोगों ने यह कल्पना की थी कि बम्बई के विभाजन के बाद अपने अनुभव की कमी के कारण महाराष्ट्र उद्योग और व्यापार चलाने और बढ़ाने में पीछे रह जाएगा या कठिनाइयों से टकराकर पीछे हट जाएगा, उनकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई है। पहले तो व्यापार की दृष्टि से इस प्रदेश के लोगों की असमर्थ क्षमता को आंकना ही अतिशयोक्तिपूर्ण था। दूसरे, यह सोचना भी निरर्थक था कि महाराष्ट्र बन जाने के बाद अन्य भाषाभाषी व्यक्ति इस प्रदेश से अपना कामकाज समेटकर बाहर चले जाएंगे। इसका श्रेय इस प्रदेश के दूरदर्शी और योग्य मुख्यमंत्री को ही देना होगा जिन्होंने इस विभाजन के समय, महाराष्ट्र की नवनिर्माण वेला पर अपने पहले पहल भाषण में यह घोषणा की और विश्वास दिलाया कि पूर्वनिर्मित बम्बई प्रान्त में बसने वाले सभी व्यक्तियों के साथ भाषा-भेद के विचार के बिना समान व्यवहार किया जाएगा। यह विचार और आश्वासन कितना सत्य था और कितने सच्चे दिल से कहा गया था यह अब स्पष्ट हो चुका है। भाषा-भेद के कारण कोई भी व्यापार या उद्योग आज बम्बई (महाराष्ट्र) में बन्द नहीं हुआ। दूसरी ओर कई गुजराती व्यापार केन्द्रों का विस्तार राज्य सरकार की सहायता से हुआ है। किसी भी बाहरी दर्शक के लिये सच्ची राष्ट्रीयता की यह भावना और श्री चव्हान तथा उनकी सरकार की यह उदारता ही इस नवोदित महाराष्ट्र का बहुत बड़ा संबल है। जब तक विवेकशील उदारतापूर्ण यह महाराष्ट्र की रीति नीति बनी रहती है, अपने गौरवपूर्ण भूतकाल के स्थिर आधार पर खड़ा महाराष्ट्र प्रगति के भवन की मंजिलें बनाता चला जाएगा, व्यापार और उद्योग में बढ़ता जाएगा और साहित्य तथा संस्कृति की उस परंपरा को निर्माता रहेगा।

आहूये, अब हम महाराष्ट्र के मौलिक साधनों और उसकी औद्योगिक संभावनाओं को देखें। कृषि उत्पादन की दृष्टि से महाराष्ट्र आत्मभरित ही नहीं बल्कि दूसरों को भी कुछ दे सकता है। इसमें कपास, तिलहन और गन्ने की खेती बड़े पैमाने पर होती है और इस प्रकार राज्य के बड़े उद्योगों के लिये कच्चा माल सुरक्षित है। जैसे जैसे नयी योजनाएं अमल में आती जाएंगी, अधिकाधिक भूमि में सिंचाई होगी और उत्पादन बढ़ेगा। खानदेश, विदर्भ और कोंकण के क्षेत्रों में किसानों को नयी सुविधाएं मिलने जा रही हैं। कुछ तटवर्ती इलाकों में भी काजू, सुपारी, नारियल इत्यादि नकदी फसलों को बहुत प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इन सबके फलस्वरूप किसान वर्ग की संपन्नता और उत्पादन में वृद्धि निश्चित है।

बम्बई के उद्योगों ने देश के सभी भागों से पूंजी और साहसी व्यापारियों को अपनी ओर खींचा है। सीमा और प्रशासन सम्बन्धी

अदलाबदली के बावजूद यह प्रक्रिया अभी भी जारी है। सबसे कड़ी कमी बम्बई के देशी क्षेत्रों में और सच पूछा जाय तो बम्बई नगरी को छोड़ राज्य के सभी भागों में बिजली का अभाव था। इसी समस्या के निवारण के लिये कोयना योजना हाथ में ली गयी है जिसका सर्वप्रथम उद्देश्य सस्ती बिजली उपलब्ध करना है। इस योजना के कार्यान्वित होते ही महाराष्ट्र बड़े पैमाने पर घरेलू और छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन दे सकेगा। सवाल केवल समय का है। कोई भी इस बात की कल्पना कर सकता है कि कुछ ही सालों में महाराष्ट्र के विस्तृत प्रदेश में औद्योगिक योजनाओं का पूर्ण विस्तार हो जायेगा।

महाराष्ट्र की औद्योगिक संभावनाओं के विषय में यदि किसी को संदेह था तो वह वहां की खनिज संपत्ति के पर्यवेक्षण से दूर हो गया है। विदर्भ और मराठावाड़ा की खनिज संपत्ति इतनी अधिक और विस्तृत है कि उसके आचार पर लोग इस क्षेत्र को भारत का भाषी "सर" (यूरोप का प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र) समझने लगे हैं। इन साधनों का पूरा पूरा उपयोग किया जाएगा। महाराष्ट्र सरकार की दृढ़ नीति और केन्द्र में उसकी साख इस बात की गारंटी है।

शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में महाराष्ट्र का नेतृत्व सर्वमान्य है। राज्य के सभी भागों में शिक्षा के विकास में केवल राज्य सरकार की सहायता से नहीं, निजी रूप से भी अनेकविध संस्थाओंने पूरा योगदान दिया है। महाराष्ट्र की यात्रा करते हुए सभी स्थानों में इन संस्थाओं की कृतियों के आदर्श नमूने हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। और संपूर्ण महाराष्ट्र-भूमि वास्तव में विद्यार्जन के लिये बनी एक तपोभूमि मालूम होती है जहां आचार्य और विद्यार्थी विनय और अनुशासन का आज के युग में अकल्पनीय उदाहरण प्रस्तुत कर हमारी उस बिसरती हुई प्राचीन परंपरा का स्मरण दिलाते हैं। प्राचीन परंपरा के साथ चली आती हुई इस कड़ी का नया जोड़ हम चिपकूणकर, आगरकर और तिलक के दिनों से जुड़ा पाते हैं जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान की धाराओं को मिलाया और भारतीय वातावरण में नवशिक्षण का मार्ग प्रशस्त किया। इससे पूर्व उच्च शिक्षा की प्रायः सभी संस्थाएं तत्कालीन सरकार अथवा ईसाई पादरियों द्वारा संचालित थीं। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप महाराष्ट्र में 'दक्षिण एज्युकेशन सोसायटी' की स्थापना हुई और यह कदम संक्रामक बन गया। महाराष्ट्रीय नेताओं के सेवाभाव, विद्यानुराग और त्याग के कारण ऐसी ही कई संस्थाओं का जन्म हुआ जिससे महाराष्ट्र के सभी बालक बालिकाओं के लिये विद्यामंदिर का द्वार खुल गया। कोंकण एज्युकेशन सोसायटी, महाराष्ट्र एज्युकेशन सोसायटी, शिवाजी एज्युकेशन सोसायटी और रैयत एज्युकेशन सोसायटी इत्यादि ऐसी संस्थाएं हैं जिनके कारण महाराष्ट्र शिक्षा के क्षेत्र में भारत भर में अग्रणी हो गया है और इस प्रकार महाराष्ट्र में नवबाग-रण के युग का उदय हुआ। आज महाराष्ट्र की प्रगति को देखते हुए यह विश्वास होता है कि इस क्षेत्र में महाराष्ट्र अपने नेतृत्व को बनाए रखेगा। शिक्षा के अतिरिक्त महाराष्ट्र संस्कृत और शास्त्रीय अध्ययन तथा भारतीय पुरातत्त्व भारत विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान में भी अग्रणी रहा है। इस अध्ययन और अनुसंधान को अब पूना विश्वविद्यालय की

स्थापना से और भी अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। राज्य सरकार की ओर से भी अनुसंधान कार्य के लिये विशेष उदारता की नीति बरती जा रही है। यह भी पूरी आशा है कि संस्कृत की कुछ अप्राप्य कृतियों के प्रकाशन द्वारा हमें अपनी प्राचीन संस्कृति के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

आज के महाराष्ट्र में मानों यौवन की एक नई छटा देखने को मिलती है। सभी क्षेत्रों में विशेष उत्साह तथा लयन के दर्शन होते हैं। वहाँ के न केवल वर्तमान नेताओं में अपितु जन जन में इस उल्लास का भाव दृष्टिगोचर होता है। भारत के अन्य प्रदेशों के छात्रों से हम यहाँ के छात्रों की तुलना करें तो हमें शान्त होगा कि जो अनुशासन व कर्तव्य पालन की भावना यहाँ के छात्रों में है वह अन्य प्रदेशों के छात्रों के लिये अनुकरणीय है। चाहे वहाँ के कृषक समाज को लें या शासन के कर्मचारियों को, जनसाधारण को या कारीगर व मजदूर समुदाय को,

सभी में हमें एक नयी उद्योग-भावना का दर्शन होता है। मानो महाराष्ट्र का मानव नये सिरे से नव जीवन, नव समाज निर्माण के लिये कटिबद्ध है। यही वस्तु महाराष्ट्र दर्शन में आज प्रमुख रूप से दर्शनीय है। बस आवश्यकता इतनी भर है कि इस उत्साह के रहते ही उसके सदुपयोग द्वारा देश के भावी निर्माण का कार्य पूरा हो अन्यथा आन्ध्र की मांति यहाँ भी यदि फूट-वैमनस्य व अन्य सामाजिक दुरुहताओं का बीजारोपण हो गया तो यह महान विषाद का कारण सिद्ध हो जायगा। किन्तु जो भी परिस्थितियाँ व प्रगति के लक्षण हमें आज यहाँ नजर आते हैं उनसे सहज ही विश्वास होता है कि जिस प्रकार कोयना के जलप्रवाह को संयत कर उससे राष्ट्रीय योजनाओं की पूर्ति का पूरा प्रयास किया जा रहा है वैसे ही यहाँ की जनता की अपरिमित कार्यशक्ति का सदुपयोग अवश्य ही उस प्रदेश को भारत का भावी सिरमोर होने का सौभाग्य प्रदान करेगा।



“महाराष्ट्र का निर्माण इतिहास का एक आब्दान है। इस आब्दान की पूर्ति उसकी जनता किस प्रकार करेगी इस पर उस का भविष्य निर्भर है। शुभारंभ के लिए और शक्ति संग्रह के लिए महान् और गौरवपूर्ण परंपरा का उत्तराधिकार इस राज्य को प्राप्त है। मानवों के उत्कृष्ट गुणों की उस में प्रतिष्ठापना की गयी है।

अब एक नयी यात्रा शुरू होती है—एक दीर्घ तथा परिश्रमपूर्ण यात्रा—क्योंकि इसी यात्रा के अंत में जनता का अंतिम लाभ सुप्त है।”

—यशवंतराव चव्हाण

श्री यशवंतराव चव्हाण- पत्रकार की विगाह में-



भगवान प्रसाद त्रिपाठी

पत्रकार, वर्धा

यह घटना उन दिनों की है जब आजके मुख्य मंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण मुख्यमंत्री नहीं बल्कि बम्बई सरकार के एक मिनिस्टर के रूप में नागपुर आए थे। वे भूतपूर्व मध्य प्रदेश सरकार के स्वास्थ्य-मंत्री श्री कन्नमवारजी के अतिथि थे। सम्भवतः उनका आगमन 'नागपुर करार' के सिलसिले में था। राजनैतिक उथल पुथल के बीच उनका नागपुर आगमन काफी महत्वपूर्ण माना गया। श्री कन्नमवारजी के बंगले पर कुछ राजनैतिक कार्यकर्ताओं से उनकी आपसी चर्चा चल रही थी। उस समय उनके चर्चा करने का ढंग, उनकी हाजिर जवाबी स्वाभाविक रूप से अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। उस समय किसी भी राजनैतिक कार्यकर्ता ने यह नहीं सोचा था कि एक दिन महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री के रूप में इस व्यक्ति का नाम प्रमुख रूप से सामने आएगा। भविष्य में यही व्यक्तित्व मुख्यमंत्रित्व के रूप में निखर उठा।

भाषावार प्रान्तरचना कमीशन ने द्विभाषी राज्य का निर्माण कर उक्त नवीन प्रान्त के नेतृत्व का भार देश के सब से कम उम्र वाले मुख्य-मंत्री श्री चव्हाण के हाथों में सौंप दिया। मुख्यमंत्री का पद सम्हालते ही श्री चव्हाण का नाम सामने आया और सभी अखबारों के मुखपृष्ठों पर यह नाम चमक उठा। राजनैतिक थपेडों के बीच गुजरात और महाराष्ट्र का एकीकरण कितनी खूबसूरती के साथ किया गया, इसकी जानकारी सभी को है। गुजराती, मराठी और हिन्दी भाषा भाषियों के झमेले को सुन्दरता के साथ निपटाते हुए शासन की गाड़ी आगे बढ़ती गई। परिस्थितियों ने करवट बदली और गुजरात पृथक् हो गया। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री के रूप में श्री चव्हाण का चुनाव किया गया। गुजराती विधान सभा सदस्य जब अलगा होने लगे, तब प्रत्येक के चेहरे देखने योग्य थे। उन्हें महाराष्ट्र से अलगा होने का दुख तो था, पर साथ साथ मुख्यमंत्री के नेतृत्व से वंचित होने का भी उन्हें कम सदमा नहीं था। प्रत्येक गुजराती विधानसभा सदस्य ने श्री चव्हाण के नेतृत्व की प्रशंसा की और कुशल नेतृत्व का लाभ गुजरात को भविष्य में न मिलने पर भारी दुख प्रकट किया। उस समय भी हम लोग केवल अखबारों के माध्यम से श्री चव्हाण को जान और समझ पाए थे।

अच्छा भाई, चलो बाहर चलते हैं

वर्धा रेलवे स्टेशन का भी यह सौभाग्य रहा कि आते-जाते वहां न जाने कितने आकर्षक व्यक्तित्व मिल जाया करते हैं। मुख्यमंत्री श्री चव्हाण



रेल द्वारा कलकत्ता काँग्रेस की एक बैठक में भाग लेने जा रहे थे। वर्षा रेल्वे स्टेशन पर जनता की ओर से उनका भव्य-स्वागत किया गया। स्वागत होने के पश्चात् वे जल्दी ही डब्बे में जाकर बैठ गए। ट्रेन रुकी रही और जनता भी अपने नेता के दर्शन करने के लिए डटी रही। श्री चव्हाण का अपने डब्बे में जाकर पहले बैठ जाना लोगों को काफी खटक। कुछ लोग कड़ी जुबान का भी उपयोग करने लगे।

“यह क्या सभ्यता है, तहज़ीब है कि लोग बाहर उत्सुकतापूर्वक खड़े रहें और हमारे नेता डिब्बों में एअर कन्डीशन की बहार लटते रहें।” इस प्रकार की आलोचनाएं प्रारम्भ हो गईं। एक युवक हिमत कर अन्दर डिब्बे में घुस गया और मुख्यमंत्री से कहने लगा— “चव्हाण साहब आपके दर्शन के लिए बाहर मीड़ खड़ी है”

मुख्यमंत्री ने झट जवाब दिया—

“तो क्या मुझे बाहर चलना ही पड़ेगा ?”

“जी हाँ”—युवक की वाणी कुछ गम्भीर थी।

मुख्यमंत्री ने कहा—“अच्छा भाई चलो, बाहर चलते हैं।” यह कह कर वे पुनः बाहर आ गए और तरह तरह की बातें हँसते हुए करने लगे। गाड़ी तो चली गई, पर कुछ क्षण के लिए लोगों की जुबान पर श्री चव्हाण के ही नाम की चर्चा चलती रही।

मुख्यमंत्री और पत्रकारों के बीच मनोरंजक नौकझोंक

मुख्यमंत्री के रूप में श्री चव्हाण पिछले दिनों सेवाग्राम आए थे, तब वर्षा में उन्होंने पत्रकारों को भी एक भेंट दी। अधिकारियों की मेहरबानी से कुछ सीमित पत्रकारों को ही उनसे मिलने के लिए केवल १५ मिनट का समय दिया गया, पर जिले के कई प्रमुख पत्रकारों की भी यह इच्छा रही कि वे मुख्यमंत्री से मिले और अपने-यहाँ की समस्याओं के बारे में चर्चा करें। फल यह निकला कि अधिकारियों ने कुछ ही पत्रकारों को उनसे मिलने के लिए अन्दर बुलाया और कुछ पत्रकार बाहर ही खड़े रहे और इस फिराक में वे रहे कि मुख्यमंत्री के बाहर निकलने पर उनसे मिलेंगे। एक पत्रकार के नाते अधिकारियों ने मुझे भी उनसे मिलने की अनुमति दी। अधिकारियों द्वारा पत्रकारों की उपेक्षा सहनीय नहीं थी। मुख्यमंत्री से परिचय होने के पश्चात् सर्वप्रथम मैंने मुख्यमंत्री का ध्यान इस ओर दिलाया—

“श्री चव्हाण साहब ! हमारे कुछ पत्रकार भाई आपसे मिलने के लिए बाहर बैठे हैं, अगर आपको कोई एतराज़ न हो तो उन्हें भी अन्दर बुला लीजिए।”

मुख्यमंत्री ने तुरन्त जवाब दिया—

“हाँ, हाँ, उन्हें अवश्य ही बुलाइए। मैं उनसे अवश्य ही मिलूंगा। किसने उन लोगों को बाहर रोक रखा है ?”

फिर क्या था, सभी पत्रकार अन्दर आ गए। उन अधिकारियों की सूरत भी देखने योग्य थी, जिन्होंने पत्रकारों को मुख्यमंत्री से मिलने से वंचित रखा था। पत्रकारों के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। पत्रकारों की यह एक ज्ञानदार विजय रही। थोड़ी देर बाद पत्रकारों और मुख्य मंत्री के बीच मनोरंजक नौकझोंक शुरू हुई।

एक पत्रकार : विधान सभा सदस्यों के समान ही पत्रकारों को भी अपने अपने क्षेत्र में सरकारी बसों से यात्रा करने की सहूलियत शासन की ओर से देनी चाहिए।

मुख्यमंत्री : ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इतना बड़ा बोझ शासन बर्दास्त नहीं कर सकता।

वातावरण गम्भीर हो उठा। यह एक पत्रकार ने कहा—“जी चव्हाण साहब, आपने हम लोगों का मामला एक मिनट में खत्म कर दिया। कमसे कम कुछ ‘गोला गोला’ तो बोलना चाहिए (जैसा कि बड़े बड़े नेता बोला करते हैं) अगर इस मामले को आप विचाराधीन भी रखते तो हम लोगों को सन्तोष होता।”

मुख्यमंत्री तथा पास बैठे लोग ठहाका मार कर हँस पड़े। मुख्यमंत्री ने झट जवाब दिया—

“भाई, देखो, सभी मामले अगर ‘विचाराधीन’ ही रहेंगे तो कुछ मामलों के फैसले भी तो होने चाहिए न ? पर ठीक है, अगर हमारे विचाराधीन रखने से आप लोगों को सन्तोष होता है तो यह मामला विचाराधीन ही समझिए” “चलिए—आगे बढ़िए” मुख्यमंत्री ने कहा।

यशवंतरावजी के लोकप्रियता की कुंजी

एक पत्रकार : आप सदा भावनात्मक एकता की बातें करते हैं, पर हम देखते हैं कि आपके ‘कथनी’ और ‘करनी’ में काफी अन्तर है।

मुख्य मंत्री : (बीच में) आपका क्या मतलब ?

मतलब यह कि—

“द्विभाषी बम्बई और महाराष्ट्र शासन में पुलिस विभाग में हिन्दी भाषा भाषियों की भर्ती पर रोक लगा दी गई है। अधिकारियों का कहना है कि ‘ऊपर’ का आर्डर है। आखिर यह ‘ऊपर’ क्या है ? किसी विभाग में किसी वर्ग विशेष को भर्ती होने से रोकना, न्याय-संगत नहीं। इससे प्रान्तीयता फैलती है। आपकी भावनात्मक एकता के विपरीत यह बातें हैं। यद्यपि हम ‘मराठी’ नहीं जानते, फिर भी हमको पुलिस विभाग में भर्ती होने से वंचित करना अन्याय और भारी अन्याय है।

मुख्य मंत्री : हमारा इस प्रकार का कोई आदेश नहीं कि हिन्दी भाषा भाषियों को पुलिस विभाग में भर्ती न किया जाए। (पास बैठे डी. एस. पी. की ओर इशारा करते हुए) कौन सा ऐसा आर्डर है ? (पुलिस डी. एस. पी. मौन रहे।)

एक पत्रकार : आप का आदेश हो या न हो, पर पुलिस आफिसर यही कहते हैं। शायद आप का कोई ‘गुप्त’ आर्डर होगा।

पत्रकार की बात सुनते ही सभी पुनः ठहाका मार कर हँस पड़े। और मुख्यमंत्री बोल उठे।

“अरे भाई, कोई गुप्त आर्डर नहीं है। हिन्दी भाषियों को भर्ती करने का मेरा आदेश है। जो अधिकारी इस आदेश का पालन नहीं करेगा, उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाएगी।

एक पत्रकार : तो क्या आप सच्चे दिल से यह आदेश दे रहे हैं ?

मुख्य मंत्री : अजी बनाव अली, मेरा दिल तो देखिए । एक बार आजमाइए तो सही । पर हॉं, आप लोग जब महाराष्ट्र में रहते है तो कुछ न कुछ तो मराठी सीख ही लीजिए ।

पत्रकार : आपका कहना वाजिब है, पर आप जैसे हिन्दी सीख रहे है, वैसे ही हम भी मराठी सीख रहे है ।

मुख्यमंत्री : चलो, झगड़ा खत्म हुआ । अच्छा किया कि आपने मेरा ध्यान इस ओर दिलाया । अभी तक ऐसी शिकायत मेरे पास नहीं आई थी ।

पन्द्रह मिनट की कांफ्रेंस एक घंटे में खत्म हुई । मुख्यमंत्री ने पत्रकारों के साथ दिल खोलकर चर्चा की । मनोविनोद की उनकी शैली विचित्र है । जो लोग उनके सम्पर्क में नहीं आ पाते, वे समझते हैं कि मुख्यमंत्री रिशर्व-माइन्डेड है, पर ऐसी बात नहीं । अभिमान की लेश मात्र भी शल्लक नहीं, जैसा की उनकी चाल-दाल बातचीत की शैली से जाहिर होता है । उनकी बाना से ऐसा लग्ना कि मुख्यमंत्री कोई भी चीज छिपा कर नहीं रखना चाहते । यही उनकी एक विशेषता है । उनकी लोकप्रियता की यह कुंजी है ।



“महाराष्ट्र की जनता को अपने को एक ही समुदाय के सदस्यों के रूप में समझना चाहिए; न कि ब्राह्मण और गैरब्राह्मण, अथवा मराठा और गैरमराठा के रूप में । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समाज सेवकों की एक बड़ी संख्या प्रचारकार्य करेगी । महाराष्ट्र में वर्गवादी या संकीर्ण विचारधारा के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा । मराठी राज्य का अर्थ केवल मराठी या किसी एक ही समुदाय का शासन कभी नहीं होगा । योग्य व्यक्तियों का जहां कहीं भी वे मिलेंगे, समुचित सम्मान किया जायगा ।”

श्री यशवंतराव चव्हाण नेतृत्वपर एक दृष्टि



रामगोपाल माहेस्वरी

यह एक मान्य बात है कि श्री यशवंतराव चव्हाण का स्थान देश के नेतृत्व की द्वितीय पंक्ति के उभरते हुये नक्षत्रों में है। काँग्रेस दल में उनकी बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण भावनगर काँग्रेस में उन्हें प्राप्त मत है और काँग्रेस के बाहर के लोकमत की दृष्टि से भी वे उतने ही गुणों (marks) के अधिकारी हैं, जो पिछले महीनों हैद्राबाद में श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा व्यक्त अभिमत से स्पष्ट होता है।

श्री चव्हाण के नेतृत्व की प्रशंसा राष्ट्रनेता पं. जवाहरलालजी ने अनेक प्रसंगों पर की है। श्री चव्हाण के कुछ आलोचक यह प्रशंसा नैमित्तिक समझते हैं, विशेषतः बम्बई राज्य के नाम से ख्यातिप्राप्त एक बड़े राज्य के उनके नायकत्व के कारण, परन्तु यह धारणा उचित नहीं है। श्री चव्हाण ने वास्तव में देश के उच्च नेतृत्व व देश के सर्वसामान्य सुपडित जन-समूह का ध्यान अपने प्रति आकर्षित किया है। यह बात एक उल्टे (negative) इस माप दण्ड से भी सिद्ध होती है कि सार्वदेशिक दृष्टि से उनकी आलोचना न्यूनतम हुई है। राज्य की अपनी बात लें, तो भूतपूर्व बम्बई राज्य अथवा वर्तमान महाराष्ट्र राज्य में विरोधी पक्ष प्रबल एवं कट्टर टीकाकार होते हुये भी, उनका व्यक्तित्व न्यूनतम टीका का विषय बना है। राज्य विधान सभा में विरोधी पक्ष के आक्रमणों को उन्होंने प्रायः स्थिर व शान्त भावसे ग्रहण किया है और प्रभावोत्पादक ढंग के प्रत्युत्तर द्वारा उन्होंने विरोधियों के तीखे प्रहारों को असफल सिद्ध किया है।

श्री चव्हाण के हाथों जिन परिस्थितियों में भूतपूर्व बम्बई राज्य का नेतृत्व, श्री मुरारजी देसाई के केन्द्र में पदार्पण के बाद आया, वह सहज नहीं था। एक विशाल व प्रगतिशील राज्य की बागडोर सम्हालना, जिसका केन्द्र बम्बई के समान भारत का स्नायु-संचालन स्थान हो और जहां विचित्र दिशाओं में रस्सा-खींच का खेल निरन्तर चलता हो, कठिनतर बोझ था; परन्तु श्री चव्हाण को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि न तो उन्होंने श्री मुरारजी भाई के अभाव को मासित होने दिया और न परिस्थितियों को बेतौल उभरने दिया, बल्कि यदि यह कहा जाय कि महाराष्ट्र की ऊबड़-खाबड़ राजनीति का कुशलतापूर्वक शमन कर उन्होंने परिस्थितियों को सही दिशा में मुड़ने या मोड़ने को प्रेरित किया, तो अत्युक्ति न होगी। यह बात, स्वयं में नगण्य सफलता नहीं है।

द्विभाषी बम्बई राज्य के विघटन को लेकर भी कुछ लोग श्री चव्हाण



के नेतृत्व पर आक्षेप करते हैं। उनका आक्षेप यहां तक आगे बढ़ जाता है कि उन्होंने 'भीतर घुसकर' संयुक्त महाराष्ट्र का निर्माण कर लिया। परन्तु यह उक्ति उनके प्रति न्याय नहीं है। यह सही है कि श्री चव्हाण के नेतृत्व-काल में द्विभाषी बम्बई राज्य टूटा, जिस पर देश की भावनागत एकता का उत्तरदायित्व डाला गया था। परन्तु, इस सबन्ध में मूलभूत सत्य यह है कि द्विभाषी राज्य का निर्माण स्वयं में दूरदर्शिता-पूर्ण नहीं था। उन परिस्थितियों के बीच, जहां भाषा के आधार पर नये राज्य आकार ग्रहण कर रहे हों, केवल बम्बई नगर के व्यापक महत्त्व या स्वरूप को लेकर दो बड़े जनसमूह महाराष्ट्रीय एवं गुजरातियों को द्विभाषी गठबन्धन में कायम रखना, देश की नयी पार्श्वभूमि की अपेक्षा थी और यदि श्री चव्हाण ने, उनके अपने शब्दों में पूर्ण प्रामाणिक प्रयत्न के बावजूद द्विभाषी का शकट सकलतापूर्वक खींचना असंभव अनुभव किया हो, तो उन्हें इसके लिये दोष नहीं दिया जा सकता। उन्होंने अनुभव के पश्चात् यदि दूसरा विकल्प अधिक व्यावहारिक, प्रयोजनीय व अनिवार्य समझा हो, तो सक्रिय व सृजनशील नेतृत्व की दृष्टि से वे योग्य सहानुभूति के पात्र हैं।

श्री चव्हाण के नेतृत्व के विषय में सब से वैषम्यपूर्ण स्थिति, विदर्भ संलग्न द्विभाषी बम्बई के प्रारंभ और महाराष्ट्र राज्य के निर्माण के पश्चात् भी, विदर्भ की समस्या है। श्री चव्हाण ने यह सत्य कभी नहीं छुपाया, कि अपने विचारों में वे संयुक्त महाराष्ट्रवादी रहे हैं और हैं। यही अवस्था महाराष्ट्र के सभी राजनीति की है, चाहे वे किसी भी पक्ष के हों। महाराष्ट्र की अपनी दृष्टि से यह वैचारिक कोटि अस्वाभाविक नहीं। सत्य यह है कि महाराष्ट्रवाले तत्त्वतः यह समझने में असमर्थ हैं कि मराठी भाषी दो राज्यों की क्या आवश्यकता है, विशेषतः जब कि विदर्भ क्षेत्र बहुत बड़ा न हो। मराठी भाषी जगत में भूतपूर्व पूना के सांस्कृतिक महत्त्व की अपेक्षा सभी लोक वर्तमानमें बम्बई को महाराष्ट्र का हृदय-स्थल या संगठनात्मक प्रतीक मानते हैं और उनकी धारणा है कि उनका लाभ, विदर्भ सहित अन्यान्य क्षेत्रों को प्रचुर मात्रा में मिलेगा। वे भाषा के विकास, शिक्षण क्षेत्र की सुविधाएं एवं खाद्य एवं आर्थिक कारणों से, परस्पर विकास के लिये महाराष्ट्र की सम्पूर्ण ईकाई ही उपयुक्त मानते हैं। इन कारणों से वे विदर्भ की परिस्थितियों को उस सूक्ष्मता से नहीं देख पाते, जो प्रायः बीच-बीच की चिन्तनारियों से भिन्न रूप दर्शाती है। श्री चव्हाण का मानस इन्हीं विचारों से प्रभावित है और इस कारण वे प्रायः विदर्भ की परितुष्टि की भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उनके अपने अंतःकरण की भाषा है, यह मेरा विश्वास है। पिछले दिनों कुछ क्षेत्रों में उन पर यह आरोप लगाया गया था कि वे "नागपुर करार" को भी जानबूझकर टाल रहे हैं। परन्तु संभवतः परिस्थिति यह नहीं थी—उनकी अपनी दृष्टि में यह आवश्यक नहीं था और वे अपने ढंग से विदर्भ की परितुष्टि का प्रयोजन हृदयमें रखते थे। विदर्भ की विशिष्ट भावना की अधिक गहरी छाप अनुभव होने पर भी उन्होंने नागपुर तीन महीने राजधानी रखने की घोषणा की और अन्यान्य उद्धार भी प्रगट किये। अपनी दृष्टि एवं अपने ढंग से वे विदर्भ को आश्वस्त करने का निश्चित उद्देश्य रखते हैं, यह उनके

भाषणों से पूर्णतया प्रगट है। यह अलग बात है कि विदर्भ के अनेक अवयव इस क्षेत्र की परिस्थितियों को भिन्न दृष्टि से देखते हैं और इन दो दृष्टिकोणों में काफी अन्तर हो। विदर्भ महाराष्ट्र के नेतृत्व के लिये एक समस्या बनी रहे, तो इसका दोष नेतृत्व को उतना नहीं, जितना दोनों क्षेत्रों की भिन्न पार्श्वभूमि को है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि श्री चव्हाण समस्या के मूल स्वरूप को समझने का अवश्य प्रयत्न करते रहे हैं और अपनी दृष्टि से योग्य उपचार का उन्हें ध्यान है। यह भिन्न बात है कि विदर्भ के सभी समूह उनकी नीति से सहमत न हों, अथवा कुछ उनकी नीति के प्रति शंकाित हों, जो उक्त पार्श्वभूमि में आश्चर्यजनक नहीं।

विदर्भ क्षेत्र में विदर्भवादियों के साथ व्यवहार में श्री चव्हाण को दिक्कतें अनुभव हुई हैं। विदर्भ के लिये सत्याग्रह प्रारंभ होते समय उन्होंने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया, तो कुछ घटनाओं के बाद उनकी नीति में काफी कड़ाई दृष्टिगोचर हुई। ऐसी परिस्थितियों को समझलना वास्तव में एक पेचीदा कार्य है। परन्तु उनकी नीति में कुछ अतिरेक अवश्य प्रतिबिंबित हुआ है। विदर्भ में पुलिस के अधिक मात्रा में प्रयोग एवं कई मामलों में प्रजातन्त्रीय मर्यादाओं से किंचित आगे बढ़नेवाली नीति का इस सम्बन्ध में प्रमाण दिया जा सकता है। परन्तु, दूसरी ओर शिकायतों की अवस्था में उनका संशोधन करने का उचित मानस ही नहीं, बल्कि पर्याप्त साहस भी उन्होंने दर्शाया है। इस दृष्टि से, श्री चव्हाण के नेतृत्व में बल और संतुलन दोनों हैं। प्रजातन्त्रीय प्रणाली के पोषक के नाते, जो विचार वे बलपूर्वक व्यक्त करते हैं, भविष्य में उन्हें इस दिशा में अधिक सतर्क अवश्य रहना होगा, कारण जन-नेता के नाते वे महसूस करेंगे कि विदर्भ की समस्या का अंतिम हल एकमात्र विदर्भ का अपना मुक्त मानस है।

महाराष्ट्र राज्य का शासन, बम्बई नगरी की विशेष स्थिति के कारण एक नाञ्जुक विषय है, जिसमें अनेक प्रकारों के संतुलन की आवश्यकता है। श्री चव्हाण की नीति की अच्छी प्रतिक्रिया हुई है, यह संतोष की बात है, कारण यह स्मरण रखने की बात है कि इस समस्या के अस्तित्व ने बम्बई सहित महाराष्ट्र का निर्माण एक राष्ट्रीय उल्लेखन का विषय बना रखा था। 'बम्बई राज्य' से गुजरात के बहिर्गमन के बाद बम्बई के औद्योगिक व्यावसायिक महत्त्व को स्थापित ही नहीं, वृद्धिगत रखना और महाराष्ट्र राज्य भर को बम्बई के औद्योगिक साहस व व्यावसायिक गतिशीलता का लाभ देना, दूरदर्शी नीति का तकाजा है। श्री चव्हाण इस विषय में पर्याप्त सजगता दर्शा रहे हैं, जिसका लाभ महाराष्ट्र को मिलना अवश्यम्भावी है।

महाराष्ट्र की राजनैतिक अवस्था इधर के वर्षों में अस्वाभाविकता की मोड़ लिये हुये बढी है। लोकमान्य तिलक की राष्ट्रीय चेतना ने भारत में जहां शुद्ध राष्ट्रीयता की जोरों को प्रेरणा दी, वहां उनके बाद महाराष्ट्र की राजनीतिक अवस्था में उद्वेग का प्रादुर्भाव अधिक मात्रा में हुआ और महाराष्ट्र का 'प्रेस' और जनजीवन दोनों की शुद्ध निष्ठा पर इसकी उल्टी छाप पडी। ये परिस्थितियाँ राष्ट्रीय नेतृत्व को आज भी एक चुनौती हैं। भाषावार राज्य रचना, स्वयंमें जहां एक अनिवार्य गति रखती

थी, वहाँ इसके फल स्वरूप क्या हमारी राष्ट्रीय चेतना व एकात्मता संकुचित हुई है, यह विषय, हमारे राष्ट्रनायकों के लिये चिंतन का विषय बन गया है। आर्थिक दृष्टि से महाराष्ट्र कुछ पिछड़ा हुआ है। जन-जीवन को ऊपर उठाने का कार्य यहाँ और भी दुस्तर व परम आवश्यकता का स्वरूप रखता है। इन परिस्थितियों में महाराष्ट्र राज्य का नेतृत्व और भी कठिन है। यहाँ राष्ट्रीयता विरोधी तत्व इन परिस्थितियों का लाभ उठाने को तैयार खड़े हैं और जनजीवन को प्रभावित करनेवाला नेतृत्व एक कसौटी बन जाता है। श्री चव्हाण ने इस कसौटी पर उत्तीर्ण होकर ही देश के नेतृत्व की शृंखलामें अपना स्थान बनाया है। महाराष्ट्र राज्य में बिना बड़ी विघ्न-बाधाओं के भविष्य के प्रति विश्वास जाग्रत हुआ है। और इसका श्रेय निश्चय ही उन्हें प्राप्त है।

श्री चव्हाण के चार वर्षों के नेतृत्व ने उनकी योग्यता की छाप तो अंकित की ही है, इस काल में उनके व्यक्तित्व की प्रखरता व व्यापकता भी उभरी है। महाराष्ट्र में एक ओर मराठाशाही की, सही माने में, राष्ट्रीयतापूर्ण भावुकताके तो दूसरी ओर न्यून उत्तरदायित्वशील सार्व-जनिक जीवन की गति-विधियोंके, बेढब राजनैतिक प्रांगण में श्री यश-वंतराव चव्हाण का व्यक्तित्व अपना आकर्षण, अपनी चेतना, अपनी निर्णयशक्ति, अपनी भावना और अपना बल लिये हुये ऊपर उठा है, जिसने महाराष्ट्र की राजनैतिक अवस्था में सुधार ही नहीं किया बल्कि जो अपना मापदण्ड भी बन रहा है। देश के लिये यह एक सुचिन्ह है। उनके ४८ वें जन्म दिवस पर मेरी कामना है कि वे दीर्घायु हों और महाराष्ट्र एवं देश के नव-निर्माण के महान प्रयास में बढ़ता हुआ योगदान दें।



“महाराष्ट्र के सभी लोगों के साथ, चाहे वे राज्य के किसी भी भाग में क्यों न रहते हों, राज्य की ओरसे समान बर्ताव किया जायगा। महाराष्ट्र सरकार का यह प्रयत्न रहेगा कि वह विदर्भ, मराठवाड़ा और शेष राज्य की जनता में उद्देश्यों की एकता तथा वैचारिक एकता के विकास की दिशा में प्रयत्न करे। इस प्रकार के उद्देश्य की एकता के जरिये राज्य की ओरसे प्रदान किये जानेवाले लाभों का समान वितरण स्वतः हो जायगा। राज्य पर औरंगाबाद और नान्देड, और चांदा तथा भण्डारा का वही दावा रहेगा जो कोल्हापुर और सातारा और पूना तथा रत्नागिरी का होगा।

राज्य के नये विस्तारों अर्थात् विदर्भ और मराठवाड़ा को उनके वैध हितों के संरक्षण के बारे में किसी प्रकार की आशंकाएं नहीं करनी चाहिए। बल्कि इसके विपरीत उनकी बड़ी सतर्कता के साथ देखभाल की जायगी और उनको महाराष्ट्र सरकार के एक पवित्र न्यास के रूप में माना जायगा।”

आनंद कांतारिचा कर्मयोगी



राजा बढे

न हो विस्तृती, हें महाराष्ट्र झालें हुतात्म्यांचिया रक्तदानांतुनी
द्विभाषीक वेदीवरी जन्म घे, दिव्य एकात्मता प्राणयज्ञांतुनी
'आनंद कांतारि' चा कर्मयोगी समर्थास वंदा निखंदा कुणी
अम्हा लाभला कर्षकाच्या कुडीचा महाघोरणी भूर्त लोकाप्रणी १

सोडून सीमादि, सोडी न सीमा तुजें शांतिसौजन्य गंगाजळ
खेळी तुझी खास मारील बाजी, दिसे राजकाजांत बुडीबळ
कशी मोहरी हालवावी खुबीनें, करायास प्यादीं, वजीरा शह
करी निग्रही धीट सत्याग्रही हा अशा विग्रही भावनेशीं तह २

कळे बोलतांना मराठी मनाची स्मितांतूनही निश्चयी अस्मिता
भाषेंतली लावची मार्दवी खोंच, बाणींतली सौम्य तेजस्विता
फुकाचें नसे शब्दचांचल्य येथें, घुसे नाद शंकार वीणारव
निचे अर्थ गंभीर संघप्रवाही मनोमंथनांतून धाकूपाटव ३

बिजीगीषु कर्तृत्व, ती स्नेहवृत्ती सहिष्णू मनोभाव संवाहना
विषारी विरोधास मोडून नांगी तुजें युक्तिचापन्य मोही मना
कला, नृत्य, संगीत, काव्यादिका भारती संस्कृतीला मिळे मान्यता
साहित्यिका, पंडिता बुद्धिमंता तुझ्या कारकीर्दीत ये धन्यता ४

नवें तेज घेई अतां रंगभूमी पहाया तिचा वाढता लौकिक
रसास्वाद घेवोनियां तूं रसज्ञा, करी सत्कवीचें कलाकौतुक
संभाळ आतां पुढें एकलव्या ! प्रशंसेचिया त्या कृपासंकटा
'गुरुदक्षिणे'ला तुझ्या विक्रमाचा नको देउं कापोनिया आंगठा ५

जाणीव ठेवा सुतानेच सुंता न ध्वावी शिवाच्या 'अहो भूषणा'
नवें ज्ञानविज्ञान तें शक्तिशाली हवा शस्त्रसंभार संरक्षणा
अहोभाग्य हे भारताचे ठरावे, करावें महत्कार्य पुण्यावह
आशीश लाभो प्रतापी शिवाचा धुरीणा तुळा 'खड्गहस्ता'सह ६

वर्धिष्णु हो राज्य पुर्वोदिता या कलेनें नभीं चंद्रलेखेपरी
प्रभा भारताची मराठी बितानीं, तसें शांतिसाम्राज्य विश्वावरी



औक्षधन्त व्हा, विजयधन्त व्हा...!



ग. दि. माडगूळकर

कोटि मुस्लीमी आशिर्वच दे महाराष्ट्र माता
औक्षवंत व्हा, विजयवंत व्हा, प्रियतम यशवंता !
तुमच्या लेखी नगरी नगरी देवराष्ट्र होई
घराघरांतून उभ्या ठाकल्या वरद विठाबाई
'स्वस्ति' वाळितो जनपुरोत्तम, उंचावुन शतां -

१

सहाद्रीच्या शिखरीं उठती स्वायंभव नाद
सातपुड्याच्या कळ्यांत घुमती त्याचे पडसाद
'अजातशत्रू' आज काभळा अम्हा राष्ट्रनेता !

२

शिवस्मृतीची शाळ अर्पिती, लोक लोकमान्यां,
टिळकपणाचा टिळक काविती तुम्हां नागकन्या,
प्रतिपच्चंद्रापरी वाहुं या अशीच जग गाथा -

३

लोकशाहिचे तुम्ही पेशवे, सेवेचे स्वामी
तुमच्या मार्गे राहो जनता नित्य पुरोगामी
समर्थ होवो महाराष्ट्र हा, भारत-भूमि-प्राता -

४





महाराष्ट्रवर्णनम्



श्रीधर भास्कर वर्णेकर

नागपूर विश्वविद्यालयाचे संस्कृतचे प्राध्यापक श्रीधर भास्कर वर्णेकर हे पुण्यस्तोक शिवाजीमहाराजांच्या चरित्रावर 'शिवराज्योदयम्' या नांवाचे संस्कृत महाकाव्य लिहीत असून, आजवर त्याचे ३५ सर्ग पूर्ण झाले आहेत. या ३५ सर्गांत संकल्पित महाकाव्याचा तृतीयांश माग लिहून झाला असून तो तुलसीरामायणापेक्षा मोठा झाला आहे. मान्यवर यशवंतराव चव्हाण हे ज्या महाराष्ट्राचे पहिले मुख्य मंत्री आहेत त्या महाराष्ट्राच्या वर्णनाने प्रा. वर्णेकरांच्या महाकाव्याचा आरंभ झाला आहे. 'शिवराज्योदयम्' या महाकाव्याच्या सर्गांतील महाराष्ट्रवर्णन पुढे दिलेले आहे :

—संपादक

अस्ति दक्षिणदिगेकमण्डनं

नातितुङ्गशिखरावलीमयम् ।

भारतस्य परमप्रियं महा-

राष्ट्रमित्युच्यते नाम मण्डलम् ॥ १ ॥

माति यत्र शिखरावली मधो

पुष्पितव्रततिजालकावृता ।

पुष्पधिरुदलपुञ्जपूजिता

स्थाणुलिङ्गशतमालिकेव सा ॥ २ ॥

यत्र पर्वततटीस्खलच्चदी-

नीरगद्गदमदन्महाध्वनिः ।

मेघगर्जितधियाऽभिनन्दयते

ताण्डवेन समदैः शिखावलीः ॥ ३ ॥



वार्षकालिकसहस्रनिर्भरैः

भास्करोज्ज्वलमयूखभास्वरैः ।

भाति हीरकरसावगुण्डितो

रत्नसानुरिव यो द्रवीभवन् ॥ ४ ॥

दुर्गसानुजलकुण्डदर्पणोद्-

बिम्बिता शरदि तारकावली ।

यत्र तम्परिविसर्पिरोचिषा

धिन्दते द्विगुणितोज्ज्वलप्रभाम् ॥ ५ ॥

मेघपुञ्जघृतगुण्णद्वान्वान्

शारदीं च दधवैन्दवीं कलाम् ।

ध्यानसुस्थिरविशालविग्रहो

न्योमकेश इव चन्द्रशेखरः ॥ ६ ॥

यस्य दुःसद्वनिसर्गतेजसा

कुण्डितै रिपुकुलैर्विनिर्ममे ।

रोपनिःश्वसितसोष्ममारुतैः

हैमनेऽपि पवने कवोप्यता ॥ ७ ॥

ज्योतिषा परिधिकीर्णरोचिषा

यत्र दाहसमयेषु संहृतम् ।

विप्रतापमथलज्जया ध्रुवं

दाहताधिकमधित्यकास्वपि ॥ ८ ॥

ब्रह्मशैलजनिता सरिद्वरा

येन भाति हि निजाङ्कलालिता ।

पूर्वसागरसमागामोत्सुका

स्वर्णदीव गिरिचक्रवर्तिना ॥ ९ ॥

देवतारमहिमशैलसञ्चितं

सिन्धुतोऽम्बु परिगृह्य पावनम् ।

सिन्धुसागर उद्धूर्मिपाणिभिः

यं निषिञ्चति चिराय भक्तिः ॥ १० ॥

उच्चतावनतसानुराजिभिः

यः पिताऽपि सरितां सहस्रशः ।

पार्थिवाम्बुधिरिव प्रभास्ते

सुस्थिरायितमहार्भिमभीषणः ॥ ११ ॥

सप्तदिभ्यकुलपर्वतान्तरे

ससबाह्वदतिप्रतापवान् ।

सह्यनामभृदपीह यः सदा—

ऽऽधिष्णकार हि निजाभसङ्घताम् ॥ १२ ॥

सागरः परशुरामयापितो

याचकस्य समवेक्ष्य वीरताम् ।

पश्य पश्चिमतटाश्रितां ददौ

वासभूमिरिति तामुपत्यकाम् ॥ १३ ॥

द्वावशास्मभ्युभलिङ्गतोऽधिका-

न्यत्र भूरिरुषितोऽवधाप्य च ।

शम्भुना तद्वितराणि भारते

सर्वतो निदधिरे कथञ्चन ॥ १४ ॥

ज्ञाननिष्ठजनचित्तविष्टर-

श्रज्जलश्रुतिविशिष्टविग्रहः ।

यत्र चाष्टविषयेषु राजते

सोऽष्टसिद्धिविभवो विनायकः ॥ १५ ॥

तच्चिरन्तमहर्षिसेवितं

प्राप्य पृतवटतञ्जकं पदम् ।

यत्र दाशरथिनाऽपि विस्मृतं

मानुसन्निधिमहासुखं चिरम् ॥ १६ ॥

रामचन्द्रपदपङ्कजाङ्कितां

जानकीचिरहृदुःखसाक्षिणीम् ।

यत्र पावनतमां वनस्थलीं

वन्दते परमभक्तितो जनः ॥ १७ ॥

रावणापहतजानकीशुचा

व्याकुलस्य रघुनन्दनस्य च ।

येन वागरबलेन सर्वथा

घोरसङ्गरसहायता ददे ॥ १८ ॥

ग्रामसीमसु सरित्तेषु वा

यत्र पिप्पलतलेषु दृश्यते ।

लोहितो ह्यसुरशोणितैरिव

दक्षिणाभिमुखवीरमारुतिः ॥ १९ ॥

ब्रह्मविष्णुशिवनामतस्त्रिधा

संविभक्तवपुषः परात्मनः ।

यत्र चात्रिमुनिपुत्रविग्रहे

भावुकैश्चिरमुपासितैकता ॥ २० ॥

अप्रतिष्ठमिदं काशिकापुरं

साङ्गवेदविदुषां द्विजन्मनाम् ।

गर्जनाभिरकरोच्च तत् प्रति-

ष्ठानमस्य हृदयैकभूषणम् ॥ २१ ॥

कीर्तनाहृतमृदङ्गमर्दल-

कास्यतालशततालनादिनी ।

भक्तियोगपथमन्त्रघण्टिका

यत्र पण्डरपुरी प्रकाशते ॥ २२ ॥

पाण्डुरङ्गादृढभक्तिविह्वला;

पण्डिताश्च वणिजः कृषीवलाः ।

यत्र सत्कविपित्रिगीतिभिः

नादयन्ति गिरिकाननान्यपि ॥ २३ ॥

ईशरोपनिषदर्थबोधिनीं

ज्ञानभक्तिकवितासुधामयीम् ।

प्राकृतमपि गिरं चकार यो

ज्ञानराज इह सोऽधितिष्ठति ॥ २४ ॥

योगिनिश्चिरसमाधिधारिभि-

र्भूमिगर्भनिहितात्ममूर्तिभिः ।

देश एव सकलोऽपि संस्फुरद्-

योगशक्तिरिव भाति सर्वथा ॥ २५ ॥

भूमिगर्भगतशास्त्रविजनः

प्रज्वलन्मुखमसुं महागिरिम् ।

शङ्कते, परमनेन तत्सदा-

ऽऽविष्कृतं निजजनोद्गतेजसा ॥ २६ ॥

व्याघ्रवृन्दविततोच्चगर्जनैः

गह्वरप्रतिनिनादभेदुरैः ।

व्यञ्जयत्यतिभयंकरायति

वीरवृत्तिमिदं यः स्वभावजाम् ॥ २७ ॥

यः स्वधर्मपरिरक्षणोद्यतैः

खड्गशूलधनुरादिकोविदैः ।

शस्त्रकोश इव सम्बभौ जनैः

हिन्दुभूकटितटावलम्बितः ॥ २८ ॥

आहिमालयमुदीर्णसद्यशाः

वीरवयंविनताङ्घ्रिपङ्कजः ।

येन मेकलसुताते कृतो

हर्षहीन इव हर्षवर्धनः ॥ २९ ॥

सर्ववर्णकुलसम्भवाङ्गना

जन्मसिद्धरणरागतः सदा ।

यत्र शास्त्रमयकेलिशालिनी

चण्डिकेव दृशोऽद्विसम्भवा ॥ ३० ॥

मल्लकेलिषु विशेषरागतः

शोणामृत्कणविलिम्पनैर्नराः ।

यत्र वार्धकसितान् स्वमूर्धजान्

चक्रिरेऽम्बुजपरागसुन्दरान् ॥ ३१ ॥

पारतन्त्र्यहृतशक्तिभिर्जनै-

यत्र वीरचरितेऽवलोकितः ।

दुष्प्रघर्षतमवीर्यभासुरः

क्षात्रधर्म इव मूर्ति-सञ्चरः ॥ ३२ ॥

राक्षसप्रतिमघोरशात्रवे

प्रेरयन् मरणभीतिवेषथुम् ।

चापचक्रधर-रामकृष्णयोः

योऽभवत् प्रतिनिधिः स्वकर्मणा ॥ ३३ ॥

यत्र वेरुलशिलोच्चये दृढं

बुद्धविष्णुशिवसेवकैः कृतम् ।

शिव्यकर्म तदनल्पमूर्तिकं

विस्मयास्पदमशेषभूतले ॥ ३४ ॥

यद् विलोक्य सकलाः कलाविदः

विस्मय स्तमित लोचना इव ।

स्वानुभूतिमपि तर्कयन्ति ते

स्वप्रवच्य विततैन्द्रजालवत् ॥ ३५ ॥

वेदनादरहितेऽपि भूतले

वैदिकद्विजकुलोत्थितैः स्वैरैः ।

मार्जितप्रणववर्णमूर्ध्नि

श्वन्द्रविन्दुरिव यो ह्यभासत ॥ ३६ ॥

धर्मराज्यजनितं सुदुर्लभं

पुण्यकर्मनिरतैश्च मानवैः ।

यत्र भूमितल एव पावने

स्वर्गलोकसुखमन्वभूयत ॥ ३७ ॥



राजकीय गृहशास्त्री



तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी

श्री. चव्हाण यांच्यासंबंधी १९३० सालापासून न पुसलेल्या अशा अनेक आठवणी सांगता येतील. येथे त्यांच्या राजकीय चरित्राचा व राजकीय चारित्र्याचा अर्थ ज्यांच्यामुळे उल्लाखिल अशा कांही मोजक्याच सांगतो. गेल्या तीन वर्षातील घटना तर सर्वांच्या समोर ताज्या आहेत; त्याबद्दल विस्तार करण्याची येथे गरज नाही.

१९३० साली सविनय कायदेभंगाच्या आंदोलनांत मी हिरिरीने प्रचार करित हिंडत होतो. माझ्या प्रचाराला रंग व आवेश कराड येथील कृष्णाकाठच्या वाळवंटांतील सभांच्यामध्ये विशेष आला. त्यावेळीं मायफोन नसे, तरी केवळ कराड शहरातीलच नव्हे तर समोवतालचे खेळ्यांतीलहि लोकांचे लोट संध्याकाळीं मोठ्या उत्साहाने माझ्या सभेला जमत व अंधारांत परतत. त्या वेळीं श्री. यशवंतराव चव्हाण हे माध्यमिक विद्यालयाचे विद्यार्थी होते. त्या सुमारासच राजकारणाकडे आकृष्ट होऊन सामील झालेल्या विद्यार्थ्यांपैकी म्हणून मी त्यांना ओळखू लागलो.

लहान वयांतील प्रौढ समंजसपणा

ही ओळख १९३४-३५ च्या सुमारास दृढ झाली. त्यावेळीं काँग्रेसच्या नेतृत्वावर परंपरागत राष्ट्रवादी विचाराची छाप फार खोल होती. तळापासून तों शिखरापर्यंत जीं महत्त्वाचीं माणसें काँग्रेसमध्ये प्राप्त्याने वावरत होती त्यांच्या विचारांत राजकीय स्वातंत्र्याला निषेधात्मकच अर्थ होता. ब्रिटिशांचे राज्य नष्ट करणे हीच भावना प्रभावी होती. सामान्य जनतेच्या जीवनांतील क्रांति किंवा सामान्य माणसाची सामाजिक व आर्थिक बंधमुक्ति हा राजकीय स्वातंत्र्याचा खोल आशय बनला पाहिजे, अशी वैचारिक बैठक परंपरागत राष्ट्रवादाला तोंपर्यंत लाभली नव्हती. हा नवा आशय हृदयादीं बाळगून काम करूं पाहणाऱ्या नव्या विचाराच्या काँग्रेसजनांची संख्या त्या वेळीं फार लहान होती. सातारा जिल्ह्यांतील काँग्रेसजनांत राष्ट्रीय क्रांतीचा असा नवा अर्थ पाहणारा जो नवा लहानसा गट तयार झाला त्यांत माझ्याबरोबर जी विशीच्या आंत-बाहेर असलेली तडफदार तरुण मंडळी सामील झाली त्यांत श्री. यशवंतराव अधिक चमकून दिसू लागले. मनाने प्रौढ व वयाने लहान असे उमेदीने भरलेले हे तरुण गृहस्थ या आमच्या नव्या गटाचे नेतृत्व आंत दाखल होतांच थोड्याच वर्षांत करूं लागले. हे सातारा जिल्ह्याबाहेरच्या त्या वेळपासून काँग्रेसमध्ये असलेल्या मंडळींनाहि कदाचित् एकदम



पटणार नाही. मी स्वतः प्रयाग, बनारस, कलकत्ता येथे तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र व तर्कशास्त्र या विषयांवर संस्कृत पंडितांच्या अनेक विद्वान्-परिषदांमध्ये चर्चा व वादविवाद बरोबरीच्या नात्याने करित असें. परंतु प्रत्यक्ष सातारा जिल्ह्याच्या काँग्रेसचें नेतृत्व श्री. चव्हाणांचेंच निर्विवादपणें मान्य करून त्या वेळीं काम करित होतों. जहाल विचारांच्या या नव्या गटाच्या हातीं अनेक वर्षे जिल्हा काँग्रेस कमिटी होती, हें पाहून १९३६ मध्ये काँग्रेसच्या प्रांतीय (व मध्यवर्तीसुद्धा!) नेत्यांकडून चक्रं फिरवलीं गेलीं. उजव्या गटाचे या जिल्ह्यांतील प्रमुख कै. भाऊसाहेब सोमण होते. त्यांचे कल्याण पट्टशिष्य श्री. बुवा गोसावी यांनी सातारा जिल्हा कमिटींत उजव्या गटाचें बहुमत केले. नव्हे, त्यांना करावें लागलें. त्याकरिता खूप शिकस्त करावी लागली व थोड्याच मतांनी या क्रांतिवादी गटाच्या हातांतून जिल्हा काँग्रेसची सूत्रे उजव्या गटाच्या हातीं गेलीं. या प्रसंगी डावा गट हलकडोळ करील व दंगल माजवील अशी अपेक्षा उजव्या गटाची होती. परंतु वादविवाद किंवा कसलीहि गरमागरमी न होतां हें परिवर्तन घडलें तें पाहून श्री. बुवा गोसावी यांनी माझ्यापार्शी याबद्दल आश्चर्य प्रकट केले. संघटनेची शिस्त ही राजकारणांतील एक पवित्र गोष्ट आहे; याची जाणीव त्या लहान वयांतच दाखविण्याचा श्री. चव्हाणांचा पहिला प्रसंग हा होता. समंजसपणा पुष्कळ वेळां जन्मसिद्धच असतो. समंजसपणा, पुष्कळ अनुभव घेऊन, ज्यांना शिकावा लागतो त्यांना राजकारणी यशाकरितां पुढील जन्माची वाट पाहावी लागते.

आमच्या या नव्या गटाला क्रांतिकारक विचारसरणीचें शिक्षण एम्. एन्. रॉय यांच्या लिखाणांतून मिळालें होतें. भारतीय राजकारण व समाजकारण यांची मार्क्सवादी मीमांसा एम्. एन्. रॉय यांच्यापासून हा गट शिकला होता. सातारा जिल्हा काँग्रेसने जिल्ह्याच्या राजकीय परिषदेचें अधिवेशन एम्. एन्. रॉय यांच्या अध्यक्षतेखाली तासगाव येथे १९३७ सालीं भरविलें. हें अधिवेशन जुन्या गटाने उधळून लावले. पुण्याहून मुद्दाम संदेश पाठवून, श्री. नाना पाटील व त्यांचे कांही सवंगडी यांना हातीं धरून, ही परिषद उजव्या गटानें मोडली. त्याच दिवशीं रात्री एका खाजगी जागेत एम्. एन्. रॉय यांचेशी चर्चा करण्याकरितां रे-दीडशें कार्यकर्ते जमले होते. त्या चर्चेत श्री. चव्हाण यांनी प्रामुख्याने भाग घेतला होता. श्री. चव्हाण यांनी भारतीय सामाजिक क्रांतीतील किसानांचें स्थान आणि राजकीय क्रांतीचें तंत्र या विषयांवर रॉय यांच्याशी सविस्तर खल केला. श्री. चव्हाण यांच्या विचारांची चमक पाहून रॉय यांना विशेष कौतुक वाटलें.

आम्ही एकमेकांपासून दूर गेलों

१९४० साल म्हणजे दुसऱ्या जागतिक महायुद्धाचा प्रारंभकाल होय. जागतिक लोकशाहीचें संरक्षण झाले तरच वसाहतींचा व विशेषतः भारताचा स्वातंत्र्यसंग्राम सफल होईल. ब्रिटिश साम्राज्यशाहीविरुद्ध भारतीय स्वातंत्र्य हा लढा आता महत्त्वाचा राहिला नाही. तो जिंकण्याकरिता प्रथम जागतिक लोकशाहीचा लढा जिंकला पाहिजे, असा विचार एम्. एन्. रॉय यांनी मांडला. ब्रिटिश साम्राज्यशाहीचा आर्थिक पाया दुसऱ्या महायुद्धांत पूर्ण खतम होऊन जाईल; भारत मुक्त होण्यास

नंतर अधिक अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होईल, त्याची चिंता आता यावेळीं नको; असें रॉय मोठ्या भविष्यवाद्याच्या आत्मविश्वासाने प्रतिपादून लागले. मला ही रॉय यांची मीमांसा पूर्ण मान्य झाली. परंतु भारतीय काँग्रेसच्या नेतृत्वाला हा विचार मानवला नाही वा मान्य झाला नाही. या समयी मी व माझे अनेक राजकीय सहकारी मौलिक मतभेद होऊन एम्. एन्. रॉय यांचेबरोबर काँग्रेसमधून बाहेर पडलों; किंबहुना आम्हास बाहेर पडणें भाग पडलें. श्री. यशवंतराव चव्हाण हेच यास अपवादभूत ठरले. त्यांचें काँग्रेस संघटनेवरील प्रेम फार खोल होतें. नव्या उमेदीत निर्माण झालेलें तें प्रेम होतें. त्यांच्या प्रेमाचा विजय झाला. मी त्यांच्याशी पुष्कळ विचारविनिमय केला. त्यांनी त्याबद्दल वाद न घालतांच मतभेद व्यक्त केला. कारण, ते माझ्याशी कधीच वाद घालीत नसत व ओजपयेंतहि त्यांनी माझ्याशी कधी वाद घातला नाही. त्यावेळीं वाद न घालतां आम्ही एकमेकांपासून राजकीय दृष्ट्या विभक्त झालों व एकमेकांपासून खूप दूर गेलों!

दुसरें महायुद्ध समाप्त झालें. जुन्या भारतीय राज्याच्या कायद्या-खालीच प्रांतीय व केंद्रीय विधिमंडळाच्या निवडणुकांची धामधूम सुरू झाली. या धामधुमीत रॉय यांच्या रॅडिकल पक्षातर्फे कांही उमेदवार उभे केले होते. निवडणूक प्रचारांत त्या प्रसंगी सातारा रोड स्टेशनवर माझी व श्री. चव्हाण यांची अनेक वर्षांनंतर गाठ पडली. श्री. भाऊसाहेब हिरे त्या वेळीं महाराष्ट्राचे एक महत्त्वाचे नेते होते, तेहि त्यांच्याबरोबर होते. या भेटीत शिष्टाचाराची सभ्यता होती; परंतु मन-मोकळेपणा नव्हता. या निवडणुकीत आमचा रॅडिकल पक्ष पूर्ण हरला व त्यानंतर १९४८ सालीं या पक्षाचें आम्ही विसर्जन केले.

काँग्रेसमध्ये समाजवादी विचाराचा प्रभाव इकडेइकडे वाढूं लागला, परंतु त्याला त्यांत रिथरासन लाभलें नव्हतें. कारण उजव्या गटाची छाप कमी झाली नव्हती. त्यामुळे काँग्रेसमधील समाजवादी गटास काँग्रेस-मधून बाहेर पडावें लागलें. भारताची राज्यघटना तयार झाल्यानंतर लोकशाहीक्रांतीच्या दृष्टीने फार महत्त्वाची परिवर्तने घडून येऊं लागली. ज्या प्रकारच्या राजकीय परिवर्तनांना पाश्चात्य लोकशाही राष्ट्रांमध्ये अनेक शतके वाट पाहावी लागली, तीच प्रयत्न व संघर्ष करावे लागले, त्या प्रकारची परिवर्तने भारतीय राज्यघटनेने क्षणाचाहि विलंब न लावतां घडवून आणलीं. मी लोकशाहीचें तत्त्वज्ञान व नवमानवतावाद यांचा पुरस्कार करित महाराष्ट्रांत फिरत होतों. १९४० पासून मी काँग्रेसचा कडक टीकाकार बनलों होतों. माझ्या टीकेत मूलभूत सिद्धांतांचा अभि-निवेश होता. त्यामुळे काँग्रेसच्या नव्या विचारसरणीकडे व ध्येयवादाकडे माझी सहानुभूतीची नजर वळूं लागली. हें ध्यानांत घेऊन काँग्रेसमधील माझ्या अनेक मित्रांनी काँग्रेसच्या व्यासपीठावरून हेच विचार बोला, असें मला स्नेहपूर्वक आवाहन दिलें. मी पडत्या फळाची आशा समजून काँग्रेसमध्ये प्रवेश केला. १९५२ सालीं महाराष्ट्र प्रांतिकचा सदस्य म्हणून सातारा जिल्ह्यांतील मित्रांनी मला निवडून आणलें.

माझा पुनः काँग्रेसप्रवेश व श्री. चव्हाणांशी सहकार्य

या निवडणुकीनंतर पुणे येथील काँग्रेस भवनांत प्रांतिक काँग्रेसची साधारण सभेची पहिली बैठक भरली. दरवाजावर श्री. भाऊसाहेब हिरे

उभे होते. त्यांनी माझे मोठ्या आनंदाने स्वागत केले. परंतु आंत बैठकीत गेल्यावर अनेक मंडळींना मी परत आलेले पाहून बरे वाटले नसावे, असे त्यांच्या चेहऱ्यावरून व कित्येकांच्या “आलांत!” या खोचक प्रभाववरून दिसून आले. मी श्री. चव्हाण यांच्या नकळत त्यांच्या पाठीशी जाऊन बसलो. त्यांच्या हे मागाहून लक्षांत आले. त्यांनी सस्मित मुष्टेने मागे वळून मला म्हटले की, ‘पुढे या, पाठीमागे कां?’ मी चतुर्विधी उत्तर दिले की, ‘मी पाठीशी राहण्याकरतांच आलो आहे.’ माझे शेजारी माझे परम मित्र श्री. किसनवीर होते. त्यांनी माझे हे वाक्य ऐकून माझ्या पाठीवर थाप मारली.

महाराष्ट्र काँग्रेसमध्ये नुकतेच एक प्रकरण घडले होते. राजे श्री. मालोजीराव निंबाळकर व श्री. गणपतराव तपासे यांना श्री. मुरारजी भाई देसाई यांनी मंत्रिमंडळांत घेतल्याबद्दल काही महाराष्ट्र काँग्रेसचे नेते नाखूष होते. श्री. मुरारजीभाई यांनी मुख्य मंत्री या नात्याने आपले मंत्रिमंडळ स्वतःची सोय पाहून निवडले होते, हे घटनाशास्त्राच्या दृष्टीने अत्यंत योग्य झाले आहे, असे माझे मत होते. श्री. चव्हाण यांनी श्री. मुरारजीभाईंच्या या संचाला संमति दिल्यामुळे महाराष्ट्रीय नेत्यांच्या गटांत त्यांच्याबद्दल नाखूषी होती. मी मुरारजीभाईंच्या मताचा होतो ही गोष्ट श्री. चव्हाण यांना माहीत नसेल; परंतु श्री. किसनवीर यांस माहीत होती.

संघटना व राज्यघटना यांच्याशी इमान

संघटना व भारताची राज्यघटना यांच्यावरील चव्हाणांच्या श्रद्धेची कसोटी लागण्याचे असे प्रसंग वेळोवेळी येऊ लागले. त्या त्या वेळी या कसोटीस श्री. चव्हाण पुरेपूर उतरले. याची साक्ष हा अगोदरचा इतिहास व नंतरचा संयुक्त महाराष्ट्राच्या चळवळीचा संग्राममय इतिहास उच्च स्वराने श्री. चव्हाणांच्या बाजूनेच देतो. त्याकरिता त्यांच्यावर वाटेल ते वाकडे-तिकडे आरोप केले गेले. गैरसमज पसरविण्यांत आले. निंदा, उपहास, बहिष्कार, धिक्कार व अधिक्षेप करणाऱ्या अनेक अभिदिव्यांमधून श्री. चव्हाण यांना या निष्ठेकरिता जावे लागले.

१९५५-५६ साल हे राज्य-पुनर्रचनेच्या प्रचंड आंदोलनाचे साल होय. महाराष्ट्रातील राजकारणांत प्रचंड उलथापालथी याच वेळी झाल्या. काँग्रेस संघटनेवर प्राणघातक प्रहार या वेळी पडले. या कालखंडा-पासूनच महाराष्ट्र राजकारणातील श्री. चव्हाणपर्व सुरू झाले, असे म्हणता येईल. कर्णाच्या रथाप्रमाणे काँग्रेसच्या रथाचे चाक महाराष्ट्र भूमीने गिळले होते. परंतु सुदैवाने या पर्वाचा कर्णपर्वाप्रमाणे शेवट झाला नाही. श्री. चव्हाण व त्यांचे सहकारी यांचा तेजोमंग करणारे शेकडो शत्रू महाराष्ट्रभर निर्माण झाले. तीक्ष्ण अशा अधिक्षेपरूप शत्रूंचा मर्मभेदी वर्षाव श्री. चव्हाणांवर होऊ लागला. पुण्यांत नगर-पालिकेच्या एका रंगमंचाचा उद्घाटनसमारंभ श्री. चव्हाणांच्या हस्ते झाला. त्या वेळी त्यांच्या समेवर कडक बहिष्कार पडला. रस्त्यावर दुतर्फा धिक्कार करणाऱ्या हजारों स्त्रीपुरुषांच्या रांगा लागल्या होत्या. मित्रांच्या एका खाजगी बैठकीत स्वतःवर झालेल्या या इल्लथाचे निवेदन करीत असतांना श्री. चव्हाणांच्या डोळ्यांतून अनिवारणें अश्रूहि ओघळले. त्यांचे चित्त विव्दल होते, परंतु चलित होत नाही. कारण

राष्ट्रनिष्ठेचा बळकट आधार आहे. या प्रसंगी काँग्रेस संघटनेमधील श्री. हिरे-चव्हाण मतभेद पूर्ण उघडकीस येऊन चव्हाट्यावर आले; परंतु हे मतभेद संयुक्त महाराष्ट्राच्या ध्येयाबद्दल नव्हते. पद्धतीबद्दल व ते ध्येय मिळविण्याच्या साधनांबद्दल होते. काँग्रेस संघटना व काँग्रेसचे नेतृत्व ज्याच्या योगाने निर्बल होणार नाही अशीच साधने व अशीच पद्धति मान्य करणार, असा श्री. चव्हाण यांचा दावा होता. कारण सध्या तरी या संघटनेवरच सर्व राष्ट्राची मदार व जबाबदारी आहे. राष्ट्राची जबाबदारी वहाणारी दुसरी कोणतीच व्यापक संघटना देशांत आज उभी नाही. राष्ट्राच्या सुरक्षिततेकरिता काँग्रेस ही बलशाली राहिलीच पाहिजे. काँग्रेसचे बळ म्हणजे श्री. नेहरूंचे नेतृत्व, असें समीकरण त्यांनी मांडले. या विचाराने प्रेरित होऊनच संघटनेच्या नीतिशास्त्राचे परिपूर्ण पालन श्री. चव्हाण यांनी आणीबाणीच्या प्रसंगी केले.

काँग्रेस संघटनेला व राष्ट्रनेत्यांना महाराष्ट्रातील आघाडी सांभाळणारा नवा माणूस श्री. चव्हाणांच्या स्वरूपांत सापडला. त्यामुळे द्विभाषिक मुंबई राज्याचे नेतृत्व श्री. चव्हाणांना प्राप्त झाले. श्री. चव्हाणांच्याबद्दल महाराष्ट्रांत या क्षणापर्यंत खूपच विविध प्रकारचे गैरसमज होते. त्यामुळेच द्विभाषिक मुंबई राज्याचे मुख्य-मंत्रीपद प्राप्त झाल्यानंतर अनेक आश्चर्यांचे धके देत श्री. चव्हाणांचे कर्तृत्व उजळून विकसित होऊं लागले. विशेषतः मुंबईच्या पुंजीपति प्रतिष्ठितांना नवाच शोध लागला. बहुजन समाजांत मुंबईच्या विश्वजनीन, बहुरंगी व प्रगत संस्कृतीचा राज्यकारभार पेलणारा माणूस असेल, याची शक्यताच वाटत नव्हती. मुंबई हीच संयुक्त महाराष्ट्राच्या आड आलेली धोंड होती. म्हणूनच हृदयपालट घडवून आणणे हाच संयुक्त महाराष्ट्राचा उपाय होय, असें श्री. चव्हाण महाराष्ट्रां-तील जनतेला प्रत्येक समेमधून सांगत असत. श्री. चव्हाणांनी मुंबईचे हृदय झिकले. त्यामुळेच त्यांना संयुक्त महाराष्ट्र राज्य स्थापन करतां आले.

लोकशाहीचा नेता

श्री. चव्हाण हे केवळ एका राजकीय पक्षाचे मुख्य मंत्री म्हणून राज्य चालवीत नाहीत. लोकशाहीचा नेता, हे त्यांचे वैशिष्ट्य आहे. लोकशाहीचा नेता असलेल्या राज्यकर्त्याने लोकांच्या चळवळींवर शस्त्र शक्य तो-पर्यंत वापरतांच कामा नये, असा दंडक श्री. चव्हाण यांनी स्वतःचे तत्त्व म्हणून स्वीकारलेला दिसतो, असें त्यांच्या गेल्या पांच वर्षांतील कृतीने सिद्ध केले आहे. अहमदाबाद येथील प्रक्षोभक आंदोलन, सार्वत्रिक अखिल भारतीय संप व महाविदर्भवादी चळवळ यांतील त्यांचे वर्तन त्यांच्या अहिंसावादित्वाचेच गमक ठरते.

“बलवानाची अहिंसा हीच खरी अहिंसा,” या गांधींच्या सिद्धान्ताचे आचरण करण्याची संधि सशस्त्र वा राज्यधारी यांसच लाभत असते. स्वातंत्र्यपूर्व अहिंसक आंदोलन हे निर्बळ म्हणजे निःशस्त्र जनतेचे आंदोलन होते. काँग्रेसच्या हाती सत्ता=बल=शस्त्र आल्यानंतर ‘बलवानाची अहिंसा’ या सिद्धान्ताचा प्रयोग करण्याची संधि प्राप्त झाली आहे. आमच्या सत्ताधाऱ्यांशी जगातील इतर सत्ताधाऱ्यांची तुलना करण्याच्या प्रसंगी आमच्या मंडळींचा गांधीवादी वारसा प्रथम लक्षांत येतो. राज्य-सत्ता वापरतांना हा अहिंसावादी वारसा, नव्या लोकशाही नेतृत्वाचे रहस्य ज्यांस समजेल तेच चालवू शकतील. खरे-दुरे आधुनिक लोकशाही

नेतृत्व म्हणजे पक्षीय नेतृत्व नव्हे; कारण विसाव्या शतकाच्या मध्यान्हांत ढावे व उजवे भेद सुद्धा पाश्चात्य राष्ट्रांत वरपांगी उरत आहेत; भारतांतहि तसे ते ठरू शकतील. पक्षातीत भावनेचें लोकशाही नेतृत्व भारतांत काय किंवा अन्यत्र काय, वादीस लागलें तरच त्याला राष्ट्रीय व आंतरराष्ट्रीय राजकारणाचें मर्मग्रहण होऊं शकेल; हे मर्म ज्या प्रज्ञावंतास अधिक समजू शकेल तोच राष्ट्रीय वा जागतिक राजकारणास योग्य वळण देऊं शकेल. श्री. चव्हाण राज्यकारभारांत विरोधी पक्षांनाहि विश्वासांत घेतात, हे अशा व्यापक लोकशाही नेतृत्वाचेंच लक्षण आहे.

धीरोदात्त व मधुर व्यक्तिमत्त्व श्री. चव्हाणांच्या ठिकाणी विकास पावत आहे याचा प्रत्यय आता केवळ महाराष्ट्रासच नाही तर सर्व भारताला येऊं लागला आहे.

२

सहयात्रीला पांच वर्षापूर्वी दिसलेलें व्यक्तिमत्त्व

श्री. यशवंतराव चव्हाण यांचें मूल्यमापन व गुणग्रहण करणारे अनेक उच्च दर्जाच्या लेखकांचे लेख या अभिनंदन ग्रंथांत प्रसिद्ध होत आहेत. या सर्व लेखांतील मूल्यमापन व गुणग्रहण सारांश रूपाने करणारे अचूक भविष्यवादी लेखन तर्कतीर्थ जोशी यांनी श्री. यशवंतराव चव्हाण यांच्या मुख्य मंत्रिपदाच्या ग्रहणाच्या समयीच म्हणजे १७ फेब्रुवारी १९५७ या तारखेच्या 'मौज' साप्ताहिकाच्या अंकांत केले होते. त्याची आठवण प्रस्तुत अभिनंदन ग्रंथांतील लेख वाचतांना झाली. म्हणून तो लेख आम्ही येथे उद्धृत करित आहोत. त्यांत यशवंतरावांच्या खाजगी जीवनाचें व स्वभावाचेंहि दर्शन घडतें पास्तव तो येथें उद्धृत करणें अधिकच उचित ठरतें.

—संपादक

श्री. यशवंतराव चव्हाण हे नव्या द्वैभाषिक राज्याचे मुख्य मंत्री झाले तेव्हा धनेकांच्या मुखांतून उद्गार निघाले की, बयाच्या मानाने फार लवकर या अशा मानाच्या अधिकाराच्या मोठ्या पदवीस यशवंतराव पोचले; धन्या त्रेचाळिसाव्या वर्षी एवढ्या अधिकारावर आरूढ झालेला या देशांत दुसरा कोणी विद्यमान नाही. परंतु जरा विचार केला तर या गोष्टीचा नीट उल्लाहा होऊं शकतो. केवळ जन्मापासूनच्या बयाचा विचार न करता त्यांच्या राजकीय बयाचा, म्हणजे प्रत्यक्ष राजकारणांत त्यांनी किती वर्षे जबाबदारी घेऊन कामें केलीं याचा विचार केला तर ही गोष्ट क्रमप्राप्तच होती, असेंहि एक प्रकारें म्हणतां येतें.

बयाच्या सोळाव्या वर्षीच ते भारताच्या स्वातंत्र्यसमरांत सामील झाले. गेलीं सव्वीस वर्षे ते राजकारण करीत आहेत. भारताच्या आधुनिक राजकीय इतिहासातील अत्यंत महत्त्वाचीं अशीं स्वातंत्र्यपूर्वकालांतील दोन पर्वे व स्वातंत्र्योत्तरकालांतील दोन पर्वे त्यांच्या राजकीय जीवनाशीं संलग्न आहेत. इतिहास हा काळाची लांबी घड्याळाच्या लंबकाच्या आंदोलनाने किंवा पंचांगाने केवळ मोजत नसतो; त्यांत महत्त्वाच्या

वैशिष्ट्यपूर्ण असलेल्या घटनांच्या योगानेच काळाचें दीर्घत्व वा ह्रस्वत्व इतिहास उरवीत असतो. फार विलक्षण अशा घटनांनी १९३० सालापासूनचा काळ भरलेला आहे. या २६ वर्षांच्या अवधीत यशवंतरावांनी सर्वस्वी राजकारणांत भाग घेतला. हा काळ त्यापूर्वीच्या ७० वर्षांच्या कालापेक्षा अधिक प्रगमनशील व वैचित्र्ययुक्त असा घडला आहे. या काळांत ज्यांनीं राजकीय जीवनाचा अनुभव घेतला त्यांना तो अनुभव फार संपन्न आहे, याची खात्री होईल. मात्र अशा संपन्न अनुभवापासून शिक्षण घेण्याची योग्यता पाहिजे; अशी पात्रता व योग्यता यशवंतरावांच्या ठिकाणी आहे. वस्तुतः वरील कालखंडांतील राजकारणांत प्रत्यक्ष भाग घेतलेले पुष्कळ आहेत; परंतु त्यापासून शाहणपणा शिकलेले फार थोडे आहेत. त्या थोड्यापैकी यशवंतराव एक महत्त्वाचे गृहस्थ आहेत.

उपकारक सामाजिक पार्श्वभूमि

बहुजनसमाजांतील गरीब शेतकरी कुटुंबांत जन्म, अत्यंत प्रयासाने हालअपेष्टा सोसूनहि नवशिक्षण घेण्याची तळमळ, भोवतालीं चाललेल्या राष्ट्रीय व जागतिक घडामोडी जाणण्याची तीव्र जिज्ञासा, आधुनिक ध्येयवादांचें आकर्षण, राजकीय संगरांत सामील होण्याची नित्य तयारी इत्यादि गोष्टींमुळेच यशवंतरावांच्या व्यक्तित्वाची वैशिष्ट्यपूर्ण घडण झाली आहे. बहुजनसमाजांत जन्मून नवशिक्षण घेतलेल्या आणि राजकीय जीवनाचा दीर्घ अनुभव असलेल्या हातावर मोजण्याइतक्याच व्यक्ती मराठी भाषिक प्रदेशांत आढळतात. त्यांच्यांत अगदी वरच्या क्रमांकांत यशवंतरावांची गणना करावी लागते. यशवंतरावांची सामाजिक पार्श्वभूमि त्यांच्या उत्कर्षास कारणीभूत झालेल्या गोष्टींपैकी एक अंश आहे. पांढरपेक्षांत वा ब्राह्मणांत जन्मलेल्या राजकीय व्यक्तीपेक्षा यशवंतरावांची ही सामाजिक पार्श्वभूमि त्यांना अत्यंत अनुकूल अशीच लाभलेली आहे. परंतु तेवढ्यामुळेच त्यांचें महत्त्व स्थापित झालेलें नाही. त्यांचें राजकीय कार्यक्षेत्र व त्यांत काम करतांना त्यांनी वैचारिक दृष्ट्या मिळविलेली पात्रता याहि गोष्टी सामाजिक पार्श्वभूमीवरच जमेस घराच्या लागतात.

चव्हाणांचें राजकीय कार्यक्षेत्र पुण्यापासून कोल्हापूरपर्यंतचा प्रदेश व विशेषतः सातारा जिल्हा होय. हे महाराष्ट्रांतील वर्तमान युगांतील फार मोठ्या सामाजिक अंतर्विग्रहाचें केंद्रस्थान होय. १९१० ते १९५० पर्यंतच्या कालखंडांत याच प्रदेशांत सत्यशोधक समाजाची किंवा ब्राह्मणेतर-वादाची चळवळ नांवारूपास येऊन फोफावली. मात्र या चळवळींत स्वतः यशवंतराव प्रत्यक्षपणे कधीच शिरले नाहीत किंवा त्या चळवळींतील विकृत जातिद्वेषाचाहि संस्कार त्यांनी आपल्या मनावर होऊं दिला नाही. त्या चळवळीपासून वा तिच्यांतील दोषांपासून ते अलिप्त राहिले. परंतु त्या चळवळींत निर्माण झालेल्या सामाजिक जाणिवेचा व बहुजनसमाजाच्या सामाजिक अवनतिविषयक प्रभाचा त्यांच्याहि मनावर परिणाम झाला. ते त्या चळवळींत सामील झाले नाहीत, हा कांही केवळ योगायोग नव्हे. त्या चळवळीवर मात करणारी अशी भारतव्यापी राजकीय चळवळ तीस सालीं महात्मा गांधींनी निर्माण केली. त्या चळवळींत यशवंतराव लहान बयांत, माध्यमिक शिक्षण पुरें होण्याच्या आंत ओढले गेले. सत्यशोधक चळवळीचा त्यांना अप्रत्यक्ष उपयोग

ज्ञान, तो म्हणजे ध्येयवाद व तत्संबंधी विचारसरणी कशा प्रकारची असावी, या गोष्टी समजण्याकरिता, क्रांतिकारक विचारसरणी आणि समाजवादी ध्येयवाद त्यांनी त्यामुळे अंगीकारिला. विशेष महत्त्वाची गोष्ट म्हणजे मार्क्सवादावर आधारलेल्या एम्. एन्. रॉय यांच्या मानवतावादी विचारसरणीचा आदरपूर्वक अभ्यास त्यांनी केला. या अभ्यासामुळे स्वतंत्रपणे सामाजिक व राजकीय प्रश्नांची मीमांसा करण्याची पात्रता त्यांना प्राप्त झाली. दुधांत साखर पडवी त्याप्रमाणे त्यांना बहुजनसमाजातील जन्मामुळे त्यांच्या जीवनाशी एकरूपता लाभली व नवशिक्षणामुळे जीवनाचा अर्थ समजण्याची योग्यता आली.

रॉयवादाकडून नेहरूवादाकडे

खेड्यापासून शहरापर्यंत राजकीय संघटना कशी करावी याचा उत्कृष्ट अनुभवही त्यांना दीर्घकालपर्यंत मिळाला आहे. सातारा जिल्ह्यातील काँग्रेस संघटनेत १९३० ते ३८ पर्यंत आत्मारामबापू पाटील हे बहुजनसमाजाचे प्रतिनिधि म्हणून नेतृत्व करीत होते. त्यांचे सहकारी म्हणून यशवंतराव त्या संघटनेत प्रथम भाग घेऊं लागले. १९३७ सालची आत्मारामबापू पाटीलंजी गाजलेली निवडणूक मोठ्या यशानिशी जिंकण्यांत यशवंतरावांचें चातुर्य उपयोगी पडले. समयोचित वक्तृत्व, संघटना-कौशल्य व राजकीय धोरणीपणा हे त्यांचे गुण याच सुमारास व्यक्त होऊं लागले. त्या वेळीं आत्मारामबापूंचा यशवंतरावांवर फार लोभ होता; यशवंतराव चांगले सुशिक्षित बन्न आपल्या बौद्धिक प्रभावाने समाजाचें नेतृत्व करतील, अशी भविष्यवाणीहि त्या समर्थी आत्मारामबापू माझ्यापार्शी बोलल्याचें मला आठवतें.

एम् एन्, रॉय यांच्या रॅडिकल काँग्रेसजनांत यशवंतराव कांही काळ दाखल झाले होते. परंतु १९४० सालीं रॉय यांचा महायुद्धविषयक धोरणासंबंधी काँग्रेसशी मतभेद झाला, म्हणून रॅडिकल काँग्रेसजनां काँग्रेसमधून बाहेर पडले. यशवंतराव मात्र काँग्रेसमध्येच राहिले. याचें निदान यशवंतरावांचा व्यावहारिक व वस्तुवादी दृष्टिकोण होय, असें कांही जण सांगतात. माझ्या मते त्यांच्या लहानपणापासूनच्या मानसिक संस्कारांत काँग्रेसचें मूळ फार खोल गेलें; राष्ट्रवादी भावनेच्या बलामुळे ते काँग्रेस सोडूं शकले नाहीत. त्यांची पुरोगामी विचारसरणी व क्रांतिकारक ध्येयवाद यांस पूरक असें पं. नेहरूचें आलंन त्यांना काँग्रेसमध्येच गवसलें. राष्ट्रीयत्व, लोकशाही आणि समाजवाद यांचा समन्वय त्यांना पं. नेहरूंत सापडला. त्यामुळे ते एकाअर्थी नेहरूवादी बनले. रॉयमध्ये त्यांची विचारसरणी उगम पावली व नेहरूमध्ये ती परिणत झाली, असा क्रम लावला तर यशवंतरावांच्या राजकीय वर्तनाचा उल्लाढा होऊं शकतो. माझ्यासारखे लोक, ध्येयवादाला व्यावहारिकपणाची जोड व तडजोडीची वृत्ति असाहि याचा अर्थ करूं शकतील.

'चलेजाव' चळवळींत आणि नंतर

१९४२ च्या 'चलेजाव'च्या चळवळींत सातारा जिल्ह्यातील भूमिगत कार्यकर्त्यांचें मुख्य मार्गदर्शकत्व यशवंतरावांकडे होतें; ही गोष्ट, त्या चळवळीशीं माझा संपूर्ण मतभेद होता तरी, मला कळत होती. कारण प्रत्येक खेडें हें स्वयंशासित लोकशाहीचें केंद्र बनलें पाहिजे, या कल्पनेची प्रत्यक्ष अंमलबजावणी करण्याचा प्रयत्न त्यांत होत होता. ह्या कल्पनेची

व्यवस्थित तात्त्विक बैठक जाणणारे यशवंतरावांशिवाय दुसरे कोण असें शकणार, हें आमच्या लक्षांत सहज आलें होतें. तेव्हा यशवंतरावांना अत्यंत निधळ्या छातीचे व निर्धाराचे सहकारी पुष्कळ मिळाले. त्यांत माझे फार जुने राजकीय सहकारी किसन महादेव वीर अग्रगण्य होते. किसन वीर हे अत्यंत श्रद्धाशील, निष्ठावंत व जिवांस जीव देणारे मित्र लाभल्यामुळे तेव्हापासून आतापर्यंत यशवंतराव मोठ्या आणीबाणीच्या प्रसंगीहि नेटाने धीर धरूं शकले. किसन वीरांच्या अभावीं सातारा जिल्ह्यातील काँग्रेस संघटनेचें काय झालें असतें हें सांगणेंहि फार कठीण आहे. यशवंतराव हे भावनाविवश क्वचितच होतात. वस्तुवाद व व्यवहार यांची राजकीय ध्येयार्थी सांगड घालण्यांत त्यांचा हातखंडा आहे. त्यामुळे 'चलेजाव'ची चळवळ खाली जाऊं लागणार, ही गोष्ट ४३ सालींच त्यांच्या लक्षांत आली; लगेच त्यांनी आपला भूमिगत राहण्याचा मनसुबा सोडला व कारागृहवास पत्करला.

१९४५ नंतर यशवंतराव महाराष्ट्रातील काँग्रेसनेत्यांच्या प्रभावळींत दिसावयास लागले. थोड्याच अवधींत काँग्रेसच्या हातीं ब्रिटिशांनी भारताची सत्ता सोपविली. १९४७ सालापासून गेलीं दहा वर्षे काँग्रेस शासनयंत्रारूढ झाली असतां यशवंतरावांनी शासन-तंत्राचा अनुभव घेतला. सत्तेचें राजकारण कसें चालतें व तें कसें चालवावें याचें प्रात्यक्षिक, कसलेल्या प्रशासक मित्रांच्या सांनिध्यांत, त्यांनी जवळून पाहिलें व त्यांत भागहि घेतला. हा दहा वर्षांचा कालखंड अनेक आणीबाणीच्या प्रसंगांनी व नाजुक प्रश्नांच्या गुंतागुंतींनी भरलेला असतांना त्यांना पाहावयास मिळाला व त्यांत प्रत्यक्ष हालचालीहि करण्यास त्यांना मिळाल्या. गेलीं पांच वर्षे तर ते मुंबईच्या मंत्रिमंडळांत प्रत्यक्ष राज्यकारभार करीत होते.

मुंबई राज्याच्या मंत्रिमंडळांत गेल्या पांच वर्षांत गुजराती व महाराष्ट्रीय अशी फळी पाडण्याचा प्रसंग यशवंतराव नसते तर टळला नसता. एकमुखी मजबूत सहकार्य व जुळवून घेण्याची प्रवृत्ति या गोष्टींवर मंत्रिमंडळाची बैठक दिश्यावते. ही मुंबई राज्याची बैठक विघडण्याची कारणे मंत्रिमंडळाच्या बनावाच्या पहिल्या क्षणींच पांच वर्षांपूर्वी उत्पन्न झालीं. घटनात्मक पेचप्रसंगीहि त्यांतून उद्भवला असता. तो यशवंतरावांनी दूरदर्शित्वाच्या योगाने हिंमतीने टाळला. नंतर खाजगी रीतीने त्यांच्या-विरुद्ध विधारी प्रचार सुरू झाला. त्यांनी निमूटपणे धैर्याने त्याला कांकून करतां तोंड दिलें.

प्रादेशिक राज्यरचनेला काँग्रेसच जबाबदार

प्रांतवाद व जातिवाद हीं भारतीय राजकारणाचीं मुख्य अंतस्थ भयस्थाने होत. हीं भयस्थाने धोका देणार नाहीत याविषयी ज्याचें मन कायम सावध राहिल तोच भारतीय राजकारणाची धुरा निर्विघ्नपणे वाहू शकतो. जातिवादाला व प्रांतवादाला जी व्यक्ति, गट व पक्ष बसतो, त्याला भारतीय राजकारणांत विधायक रूपाचें सत्तेचें राजकारण यशस्वीपणे चालविण्यांत कधीहि यश लाभणें शक्य नाही. कारण राजकारणाची सामाजिक पार्श्वभूमि मजबूत व स्थिर राखणें ही राजकीय नेतृत्वाची एक मुख्य जबाबदारी राज्यशास्त्रद्वारा निश्चित झालेली आहे. ही जबाबदारी ओळखणारा राजकारणी माणूस महाराष्ट्रांत यशवंतरावांच्या रूपाने कित्येक वर्षांनीं पुढें आला आहे.

प्रादेशिक राज्यरचनेचा अहवाल बाहेर आल्यानंतर महाराष्ट्रांत जी खळखळ उडाली त्याला प्रथम जबाबदार काँग्रेसचें नेतृत्वच होय, ही गोष्ट स्पष्ट आहे. भाषावार प्रदेशरचनेच्या प्रश्नाला महत्त्व त्यांनीच प्रथम आणलें, व तेंच त्यांच्यावर उलटलें. भाषावार प्रदेशरचना ही अनेक-भाषिक भारतीय राष्ट्रीयत्वाच्या विकासास पूरक नाही, हें राजकीय तत्त्व केव्हाहि त्यांच्या फारसं लक्षांत आलें नाही. त्याचप्रमाणे प्रादेशिक भाषांची वाढ करण्यास भाषावार राज्यरचनेची आवश्यकता नाही, हीहि गोष्ट त्यांच्या लक्षांत कधी आली नाही; त्यांचें वैचारिक दौर्बल्यच प्रादेशिक राज्यरचनेच्या अहवालांने उघडकीस आलें. मध्यवर्ती सिद्धांत म्हणजे अनेकभाषिक राष्ट्रीयत्व होय, ही गोष्ट स्वीकारल्यावर भाषिक राज्यांची रचना गौण ठरविणेंच प्राप्त होतें. हें व्यावहारिक राजकारणाचें दर्शन काँग्रेसनेत्यांना लवकर झालें नाही. या प्रमादापासून अर्थातच महाराष्ट्रीय नेतेहि दूर राहू शकले नाहीत. काँग्रेसची निष्ठा विरुद्ध प्रांतरचना, असा पेचाचा प्रश्न उत्पन्न झाल्यास मी काँग्रेसच्या व राष्ट्रीय ऐक्याच्या बाजूलाच राहीन, ही गोष्ट यशवंतरावांनी फार अगोदर जाहीर करून टाकली. महाराष्ट्र काँग्रेसमधील अनेक महत्त्वाच्या नेत्यांनी काँग्रेस की इष्ट प्रकारची प्रांतरचना असा पेच उभा राहिल्यास काय ठरवावयाचें हें स्वतःच्या मनास कधीहि विचारलें नाही. किंवा भाषिक प्रश्नाला किती महत्त्व द्यावयाचें हेंहि ठरविलें नाही. त्यामुळे महाराष्ट्राच्या राजकारणांत अग्रभागी असलेल्या अनेक व्यक्तींची फार कुतर्बोध झाली. यशवंतराव या प्रसंगी अगदी धिमेपणाने बेतावातांने पावले टाकीत चालले. त्या बाबतीत त्यांच्या पाठीशी सहा व धीर देणारे मित्रहि उभे राहिले. पक्षसंघटनेच्या मर्यादांचा भंग होणार नाही असें ते बागले. या एका महत्त्वाच्या गोष्टीमुळेच ते अखेरस मुख्यमंत्रिपदाप्रत पोचू शकले. मध्यंतरी प्रादेशिक राज्यरचनेच्या मानगडी उभ्या राहिल्या नसल्या तर यशवंतराव कोठे असते ? याचें उत्तर खोपें आहे. ते मुंबई मंत्रिमंडळांत महत्त्वाचें राजकीय धोरण संभाळून राहिले होते. दमादमाने, पांचदहा वर्षांच्या काळांत केव्हा तरी, त्यांच्या वांच्यास हें मुख्यमंत्रिपद येणें प्राप्तच होतें. महाराष्ट्र प्रांतिक काँग्रेसमध्ये त्यांचें वजन वाढत होतें. दुसऱ्या क्रमांकावर ते उभे होते. पहिल्या क्रमांकावर येण्यास थोडा वेळ लागला असता, इतकेंच म्हणतां येतें.

संघ आणि सावध उदारमतवादी

त्यांच्या राजकीय जीवनाचे धागेदोरे समजण्यास त्यांच्या मनाची व खाजगी जीवनक्रमाची माहिती घेणें जरूर आहे. ज्याचें मन पूर्वग्रहदूषित नाही त्याला यशवंतरावांचें मन व खाजगी चरित्र सहज उलगडिले असेंच आहे. ते खोल मनाचे गृहस्थ आहेत, असें म्हटलें जातें. खोल म्हणण्यापेक्षा संघपणे विचार करणारे व सावधपणे जपून पावले टाकणारे गृहस्थ आहेत, हें म्हणणें अधिक जुळेल. त्यांचा स्वभाव पाताळबंधी आहे, असाहि एक आरोप केला जातो; त्यांतहि कांही तथ्य नाही. अत्यंत मोठ्या व सत्कारुढ पक्षाचे एक प्रमुख कार्यकर्ते आपण आहोंत, याची जाणीवच त्यांना गंभीर बनविते. त्यामुळेच सर्व गोष्टी जपून व ताळतंत्र ओळखून बोलाव्या वा कराव्या, असें त्यांना वाटत असतें. मंत्रिमंडळाचे एक सदस्य या नात्याने कमी बोलणें हेंच पध्याचें आहे, असें त्यांना

वाटत असतें. पाताळबंधीपणाला लागणाऱ्या स्वभावाची घडण फार निराळी असते. ती घडण जात्याच प्राप्त व्हावी लागते. मित्रमंडळींच्या त्यांच्या वर्तनासंबंधी अनेक अपेक्षा लवकर सफल होत नाहीत किंवा यशवंतरावांच्या अडचणीहि मित्रांच्या लक्षांत भरत नाहीत, म्हणून ते खोल मनाचे आहेत असा भास होतो.

यशवंतराव संवेदनशील व भाषुक वृत्तीचे गृहस्थ आहेत. केवळ वस्तुवादी व व्यवहारी बुद्धीच्या बळावरच ते भावनांवर नियंत्रण ठेवू शकतात. व्यावहारिक व वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोणाला ते फार महत्त्व देतात. त्यामुळेच ते भावनांचा तोलहि संभाळू शकतात. उदाहरणार्थ, निवडणूक प्रचारांत शेतकरी मतदारांपुढे मताची याचना करतांना ते मोठ्या खुबीने मतदारांच्या मनांत प्रवेश करतांना असें म्हणतात :

“आमचा शेतकरी अशिक्षित असला तरी त्याचें व्यवहारज्ञान पक्कें असतें. तो शेतांतील विहिरीच्या काठाजवळील झाडाच्या शांत सावलीखाली दुपारीं अवजारें ठेवून जेव्हा अंग टाकतो, तेव्हा तो शांतपणे व्यवहाराचा हिशोब करीत असतो व बिनचूक निर्णयाप्रत येऊन पोचतो. राज्य कोणता पक्ष खरोखर करूं शकेल, ही गोष्ट त्याला कळण्यास ग्रंथांची पारायणें करण्याची गरज लागत नाही.” हें यशवंतरावांनी स्वतःचेंच चित्र शेतकऱ्यांत कल्पिलें आहे, असा माझ्यासारख्याचा ग्रह त्यांचें हें भाषण ऐकतांना होतो.

त्यांच्या ठिकाणीं जशी समतोल व्यावहारिक बुद्धि आहे, त्याचप्रमाणे उदारमतवाद व अलिप्त वृत्ति अंगीं बाणावी अशीहि इच्छा आहे. विफलतेला तोंड देण्यास अशी वृत्ति व उदारमतवाद उपयोगी पडतो. म्हणून मतदारांची मनधरणी करतां करतां ते हमेशा असेंहि बोलून जातात की, “तुम्ही पाहिजे तर मला मतें देऊं नका; पटल्यास मला मतें द्या. ‘जो दे उसका भला, न दे उसका भी भला।’ उदारमतवाद अंगीं बाणावा अशी त्यांची इच्छा आहे. याचें महत्त्वाचें गमक म्हणजे गेल्या वर्षीत त्यांच्यावर जे वृत्तपत्रांनीं, लेखकांनीं, चळवळ्यांनीं अनेक प्रकारें वाक्प्रहार केले, पराकोष्ठेची निर्भर्त्सना केली, अपमानकारक निदर्शने केलीं, तीं सर्व त्यांनीं निमूटपणे सहन केलीं. गाळिप्रदान करणारा, त्याच गोष्टीमुळे अमंगळ ठरतो, ही गोष्ट ते जाणून आहेत, म्हणूनहि संयम राखण्याचा ते प्रयत्न करतात.

मनोदौर्बल्याचा आरोप

आज ते मुंबई राज्याचे मुख्य मंत्री बनले. ह्यासंबंधी त्यांनी मनाशी तसा संकल्प करून ठेवला होता, असें म्हणतां येत नाही. योगायोगाने अशा गोष्टी घडतात; संकल्प करूनहि उपयोग होतोच असें नाही, असें ते म्हणतात. ते मुख्य मंत्रिपदावर येण्यापूर्वी चार-पांच महिने त्यांचे मित्र त्यांना मुख्य मंत्रिपदाच्या रोखाने पावले टाकण्यासंबंधी वारंवार सूचना देत होते. त्यांच्या अनेक मित्रांनी त्या दृष्टीने महत्त्वाच्या हालचालीहि केल्या. त्यांच्या दोन-तीन मित्रांनी त्यांना बजावले की, तुम्ही दुसऱ्या एका महाराष्ट्रीय पुढाऱ्याचा आमचा मुख्य नेता म्हणून वेळीं-अवेळीं निर्देश करतां ही गोष्ट आम्हांस नापसंत आहे; तुम्ही स्वतःच हिंमत धरून पुढे सरा! परिस्थितीची अनुकूलता वाढत असलेली मित्रमंडळींच्या नजरेस येत होती. तरी

यशवंतरावांनी अखेरच्या क्षणापूर्वीपर्यंत त्या महाराष्ट्रीय नेत्याचीच मुख्य नेता म्हणून प्रशंसा केली. याच कारण अवास्तव औत्सुक्यास ते बळी पडू इच्छित नाहीत, हे होय. चालू क्रमांत विक्षेप उत्पन्न होऊन नसत्या नव्या अडचणी आपल्या बाटेंत उम्या राहू नयेत याची वाजवीपेक्षां जास्त दक्षता बाळगण्याकडेच त्यांचा कल असतो.

परिस्थितीत जपून पावले टाकणे, हा त्यांचा स्वभावधर्म त्यामुळे आहे. त्यांच्यावर कांही मित्र मनोदौर्बल्याचाहि आरोप करतात. ताळमेळ पाहून वागणे, प्राप्त परिस्थितीत फारशी गडबड उडणार नाही अशी दक्षता बाळगणे व सहकार्यांशी शक्य तितके जुळवून घेण्याचा प्रयत्न राखणे या गोष्टीमुळे कदाचित् महत्त्वाच्या राजकीय कार्यक्रमांचा उलगडा व अंमलबजावणी करणे आणि कार्यक्षमतेचा वेग व कौशल्य साधून महाकार्यांत साफल्य मिळविणे या गोष्टींत अडचणी उत्पन्न होऊन दौर्बल्य सिद्ध होण्याचीहि शक्यता आहे. सहकारी मित्र व मंत्री अदूरदर्शित्वा-मुळे व संकुचित वृत्तीमुळे संकटांतहि नेऊन सोडणार नाहीत असे नाही. परंतु या बाबतींत आताच निश्चित विधान करणे फार कठीण आहे. दीर्घकालीन मंत्रिमंडळ बनविल्यानंतरच या बाबतींत त्यांची परीक्षा होऊ शकेल.

यशवंतरावांच्या भाग्यांत मित्रलाभ हा मोठा आहे. जिवाला जीव देणारे, निःस्वार्थी मित्र त्यांना मिळाले आहेत. सर्व जातींत व सर्व धर्मांत त्यांचे मित्र आहेत. सुशिक्षित व अशिक्षित, पत्रपंडित, लेखक, कवि, प्राध्यापक, व्यापारी, शेतकरी इत्यादि अनेक व्यवसायांतले मित्र त्यांना आहेत. त्या मित्रांना न सांभाळताच ते मित्र सांभाळले जात आहेत. ह्यामुळे यशवंतरावांना एक प्रकारचा आत्मविश्वास प्राप्त झाला आहे.

कौटुंबिक जिब्याळा

त्यांचे खाजगी जीवन गरिबीचे, साधे व प्रेमळ, असेच अद्यापपर्यंत आहे. प्रथमायुष्यातील खडतर जीवनक्रमाने त्यांना सोशिक व संयमी बनविले आहे. पुष्कळ वेळां मनुष्य गरिबीने कठोरहि बनतो. ते तसे झाले नाहीत. कौटुंबिक भावनेचा जिब्याळा त्यांच्या ठिकाणी ओतप्रोत भरलेला आढळतो. वृद्ध मातेवरील त्यांची भक्ति मित्रांशी खाजगी रीतीने बोलतांना प्रसंगाने व्यक्त झाल्याशिवाय राहत नाही. त्यांच्या स्वर्गवासी वडील बंधूंच्या अपत्यांचे संगोपन, शिक्षण व लम्क्यांचे त्यांनी परम वात्सल्याने साजरी केली आहेत. कुटुंबसंस्थेचे पावित्र्य हा एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक ठेवा होय, असे समजून त्यांचे वर्तन असते. अशक्त व नेहमी मधूनमधून आजारी पडणाऱ्या पत्नीची काळजी वाहतांना त्यांच्या चारित्र्याच्या पावित्र्याची खूण मनास पटल्याशिवाय राहत नाही. त्यांना स्वतःच्या गरीब रिथतीची पूर्ण जाणीव आहे. त्याबद्दल ते इतर सामान्य चार माणसांप्रमाणेच कसलीहि खंत करीत नाहीत. उदाहरणार्थ, एक गोष्ट नुकतीच घडलेली मला आठवते, ती येथे उद्धृत करतो. मुंबईस सहा महिन्यांपूर्वी जे ए. आय. सी. सी. चे अधिवेशन भरले त्याच्या नंतर लगेच यशवंतराव काश्मीरच्या छोट्या दौऱ्यावर गेले. तेथून ते परतल्यावर त्यांची माझी गाठ पडली. त्यांना मी सहज उत्सुकतेने विचारले, “काश्मीरला काय काय खरेदी केली?”

त्यांनी उत्तर दिले, “कांही विशेष सांगण्यासारखी नाही. केवळ अपवादच सांगायचा तर एक रेशमी पातळ पत्नीला आणले. अक्रोड वृक्षाच्या लाकडाचे नकशीकाम आणले नाही. कारण ते आणल्यावर ठेवायचे कोठे? आपले कराडचे घर कसे आहे, ते माहीत आहेच. त्या नकशीकामाचा तेथे अपमानच व्हायचा; भारी पट्टिना शाल खांद्यावर टाकून चालण्याइतकी आपली ऐपत नाही. फक्त एवढे खरे की, तेथील निसर्गाचे सौंदर्य व पावित्र्य मनांत साठवून आणले आहे!”

त्यांच्या कराड येथील घरी मी अनेकदा गेलीं आहें. अगदी साधे व स्वच्छ. ओसरीवर एक सतरंजी अंधळून ठेवलेली व तिच्यावर एक दोन तक्ये भिंतीस टेकून ठेवलेले. त्या तक्यांकडे पाहून आल्या-गेलेल्यांनी आपला मान करून घ्यावा, व बैठक मारावी. ‘या, बसा’ हे यजमानाचे गोड शब्द पुरेसे वाटतात. चार महिन्यांपूर्वी उत्तर सातारा जिल्ह्यांत एक प्रचारसहाय किसन महादेव वीर यांनी आखला होता. कराडलाहि एक निर्मंत्रितांची सभा त्या सप्ताहाच्या कार्यक्रमाचा भाग म्हणून ठरविली होती. तेव्हा आम्ही बरेच लोक, त्यांत फलटणचे राजेसाहेबहि होतेच, चव्हाणांच्या घरी दुपारी भोजनाकरितां गेलीं. भोजनाचा वेत अगदी साधा. दोनच पदार्थ : एक मसालेदार कालवण आणि दुसरा म्हणजे चपात्या. चव्हाण माझ्या घरी जेव्हा जेव्हा आले तेव्हा तेव्हा मी ब्राह्मणी पद्धतीची मेजवानी दिली. परंतु त्यांत त्यांचे विशेषसे लक्ष दिसले नाही. त्यांना मिष्टान्नाची महति नाही. सरकारी बंगल्यांतील भोजनांतहि कितीहि विविध पदार्थ केलेले असले तरी त्यांतील थोडे पदार्थ चव्हाण घेतात.

कांही अवास्तव आरोप

यशवंतरावांबद्दल अनेक गैरसमज बरीच वर्षे विनाकारण पसरविले जात आहेत. सातारा जिल्हा हा चव्हाणांच्या जन्मापूर्वीपाहून गुन्हेगारीसंबंधी, खून, मारामारी, जाळपोळ, दरोडे इत्यादि बाबतींत प्रसिद्ध आहे. गांधीवधोत्तर झालेल्या जाळपोळीच्या प्रकाराचा संबंध सातारा जिल्ह्यांतील कांही काँग्रेसच्या कार्यकर्त्यांशी जोडला जातो व त्या गोष्टीशी खाजगी अप्रत्यक्ष रीतीने चव्हाणांचाहि संबंध सूचित दिसतो. परंतु त्यासंबंधी पूर्वग्रहदोष सोडून शोध करण्याची काळजी कोणीच घेत नाही. अलीकडील एका गुन्ह्याचाहि बादरायण संबंध ध्वनित केला जातो. त्यासंबंधी निःपक्ष-पाती संशोधन करून असाच निर्णय निघतो की, आरोप करणाऱ्यांना कोणा तरी विशेष व्यक्तीच्या माथी दोष मारून त्यांत गोवण्यांत समाधान वाटते, एवढीच त्या आरोपांच्या मुळाशी असलेली मनोभूमिका सापडते. चव्हाण तसे आहेत, म्हणून चव्हाणांवर आक्षेप घेण्याची वृत्ति नाही, तर चव्हाण तसे ठरले पाहिजेत, अशी वासनाच त्या आरोपांच्या मुळाशी आहे. आरोप करणाऱ्यांच्या ठायीं न्यायबुद्धि, विवेकाचे महत्त्व व सत्याची चाड असती तर चव्हाणांच्या बाबतींत अवास्तव आरोप करण्यास ते धजलेच नसते. चव्हाणांचा उत्कर्ष अपरिहार्य आहे, ही गोष्टच मनांत सलते. संधि सापडेल तेव्हा असले आरोप करून समाधान मानण्याचा प्रतिपक्षांचा उद्देश असतो. चव्हाण खंबीर मनाचे असल्यामुळेच ‘हाथी चळत हे अपने गतमें, कुतवा भुक्त है भुक्ता वे’ या कबीर-रोक्तीप्रमाणे ते उपेक्षा करीत आहेत, ही गोष्ट फारच चांगली आहे.

कांही अपेक्षा

श्री. चव्हाण हे येत्या निवडणुकीनंतर पुनः मुख्य मंत्री होतीलच, ही गोष्ट साधारणपणे ठरलेली आहे, असे गृहीत धरण्यास हरकत नाही. मुख्य मंत्रिपदाच्या स्वीकारानंतर नव्या मुंबई राज्यात त्यांची जी भाषणे झाली; त्यावरून एक समतोल व समजस राज्यकर्ता पुढे आला आहे, असेच निःपक्षपाती निरीक्षकांचे मत बनत चालले आहे. यापुढे स्थिर व दीर्घकालीन मंत्रिमंडळ त्यांनी बनविल्यावर त्यांच्याकडून काय काय योग्य गोष्टी घडाल्या याबद्दल कांही अपेक्षा व्यक्त होऊ लागल्या आहेत; त्यांतील थोड्या मूळभूत बाबींचा क्रमवार निर्देश करून हा लेख संपवितो.

(१) राज्य : प्रांतिक संकुचित वृत्ति व केवळ व्यावहारिक दृष्टिकोण असलेले मंत्री नव्या मुंबई राज्याला आवश्यक असलेल्या व्यापक ध्येयवादी राजकारणाचा पायंडा पाडू शकणार नाहीत. मंत्रिमंडळाची योग्य निवड ही एक काळजीची गोष्ट आहे. ध्येयवादी व व्यापक दृष्टीचे मंत्री मिळवता येणे ही मुख्य गरज आहे. सरकारी वरिष्ठ अधिकाऱ्यांच्या कामावर योग्य नियंत्रण व मार्गदर्शन करणारे मंत्रीच निवडतां आले पाहिजेत. सरकारी वरिष्ठ अधिकाऱ्यांची काम करण्याची पद्धति यांत्रिक व दूरदृष्टीचा पोंच नसलेली असते. मंत्री जर ध्येयवादी दृष्टिकोणाचे व कार्यक्षम नसले तर ते स्वस्थ व तटस्थ राहतात किंवा केवळ बशिलेबाजी करीत राहतात; किंवा सत्तेचा मनसोक्त वापर करू इच्छितात.

(२) शिक्षण : शिक्षणसंस्था, विद्यापीठे व साहित्यिक संस्था

यांच्यावर देशाचे मानसिक व बौद्धिक सामर्थ्य अवलंबून असते. त्यांच्यावर सरकारी नियंत्रण राहण्यावर भर न देतां सरकारी मदतीने सांस्कृतिक परिवर्तन घडवून आणण्याकरितां कार्यक्षम व आत्मविश्वाससंपन्न माणसे व त्यास उपयुक्त अशी विचारसरणी त्या संस्था कशी निर्मितील हा महत्त्वाचा मूलभूत प्रश्न आहे. सांस्कृतिक परिवर्तन घडवून आणणे व दैनंदिन राजकारणापासून विद्यार्थी वर्गास अल्पित ठेवून त्यांचा आत्मविकास साधणे हेच शिक्षण व साहित्य यांचे मुख्य कार्य आहे. विद्यापीठे स्वायत्त व स्वयंतत्र रूपाने चालण्यास मदत करणे ही गोष्ट राज्यकर्त्यांना दृष्ट वाटली पाहिजे. राज्यकर्त्यांपुढे विनाकारण वाकणार नाहीत अशा हिंमतीचे नेते विद्यापीठांत स्थापले पाहिजेत. कारण व्यापक संस्कृति ही सत्तेच्या कर्मीत कमी नियंत्रणामुळेच योग्य दिशेने कार्य करू शकते. बौद्धिक व सांस्कृतिक दर्जा असलेले स्वतंत्र बाण्याचे वजनदार लोक विद्यापीठांना लाभले पाहिजेत.

(३) नियोजन : आर्थिक नियोजनांची अंमलबजावणी नोकरशाहीमार्फतच विशेषतः होत आहे; लोकांचे सहकार्य हा त्यांतला फार दुय्यम भाग आहे. नियोजनांत लोकनेतृत्व व लोकांचे स्वावलंबी सहकार्य जेव्हा दिसू लागेल तेव्हाच नियोजनांना साफल्य येऊ लागेल. नाही तर ठराविक रकमा ठराविक मुद्द्यावर खर्च पडल्या, एवढेच नियोजनांतून समाधान प्राप्त होईल. लोकांच्या स्वयंप्रेरित आर्थिक व्यवहारांच्या द्वारा बेकारीचे निवारण करण्याच्या प्रयत्नावर भर दिला तरच देशाचा आर्थिक प्रश्न सुटण्याच्या मार्गास लागला असे होईल.



भरुठी भाषिकांचे आशाशुभान



ग. खं. ढाडखोलकर

संपादक, 'तरुण ढारत', नागपूर.

ढहाराष्ट्र राज्याचे ढुख्य ढंत्री श्री. यशवन्तराव चव्हाण यांच्या वाढ-दिवसाच्या निढित्ताने त्यांच्यासंबंधी गुणगौरवाचे चार शब्द लिहिण्याचा सुयोग ढला लढढला, याबद्दल आनंद वाढतो. कारण, या संघीचा फायदा घेऊन ढला कांही प्रश्नांचा उलढाडा करता येईल; व कांही गोष्टी ढोकळेपणाने सांगतां येतील.

श्री. यशवन्तराव चव्हाण यांना, १९५३ सालच्या सप्टेंबरढध्ये ज्या वेळीं नागपूर करार झाला, त्या वेळीं ढीं प्रथढ ढाहिले. त्या कराराच्या पूर्वतयारीसाठी अलिढ ढहाराष्ट्रांतील ज्या कार्यकल्यांना निढंत्रणे देण्याची सूचना संयुक्त ढहाराष्ट्र ढरिषदेचे अध्यक्ष श्री. शंकरराव देव यांनी ढला केली होती, त्यांत श्री. यशवन्तराव हे प्रढुख होते. ता. २७ सप्टेंबर रोजी सकाळीं ढेलनें श्री. ढाऊसाहेब हिरे यांच्याबरोबर ते नागपुरास आले. स्टेशनवर श्री. हिरे यांनी त्यांच्याशी ढाझा ढरिचय करून ढिला. त्यांचा ढुक्काम जुन्या ढध्यप्रदेश सरकारचे त्या वेळचे शिक्षणढंत्री, संयुक्त ढहाराष्ट्राचे कष्टे ढुरस्कर्ते श्री. ढु. का. देशढुख यांच्याकडे होता. करारासंबंधीच्या वाढाघाढी जुन्या ढध्यप्रदेश सरकारचे त्या वेळचे ढिकासढंत्री, संयुक्त ढहाराष्ट्राचे कष्टे ढुरस्कर्ते श्री. रा. कृ. ढाढील यांच्या ढंगल्यावर ता. २७ आणि २ॢ सप्टेंबर अशा दोन दिवस झाल्या. स्टेशनवर उतरल्याढासून तो वाढाघाढीची बैठक संपेढर्यत ढी सतत दोन दिवस या ढंडळीबरोबर होती. तथाढि नढस्काराढलिकडे यशवंतरावांशी झालेल्या ढरिचयाची ढजल कांही त्या ढ्रसंगी जाऊं शकली ढाहीं. ढण दोन दिवस झालेल्या या वाढाघाढीत त्यांचे स्वढावविशेष ढात्र ढाझ्या निदशनाल घेऊन गेले. श्री. शंकरराव देव यांढी ढूमिका साहजिकच अशी होती की, विदर्ढ आणि ढराढवाडा यांचा संतोष साधण्यासाठी ढश्विढ ढहाराष्ट्राने या कराराच्या ढावर्तीत जास्तीत जास्त देण्याची ढिलदार वृत्ति ढाखविली ढाहिजे. त्यांची ढाषाच ढुळी, संपन्न स्थितीत असलेल्या षडील ढावाने आपल्या घाकट्या ढावाला जडळ करण्यासाठी जरूर ते सवे कांही केले ढाहिजे आणि ढिले ढाहिजे, अशा ढकारची होती. ढं. रामराव देशढुख, स्वामी रामानन्द तीर्थ आणि डॉ. आढासाहेब खेडकर हे विदर्ढ आणि ढराढवाडा यांची ढाजू, तर श्री. हिरे, श्री. चव्हाण, श्री. कुंटे ढ्रभृति ढश्विढ ढहाराष्ट्रांतील कार्यकर्ते हे त्या ढागाची ढाजू ढांढीत होते. अशा ढकारच्या वाढाघाढीत ढत्येक ढुद्दयाची सवे ढाजूनीं आनढी करण्यासाठी ढुद्धीची कुशाढ्रता जितकी अवश्य असते, तितकाच



त्या वाटाघाटी यशस्वी होण्याकरितां प्रसंगीं जुळतें घेण्यासाठीं तिचा उदार लवचिकपणाहि अवश्य असतो. यशवंतरावांच्या ठिकाणीं हे दोन्ही गुण असल्याचा प्रत्यय त्या दिवशीं झालेल्या वाटाघाटींत मला आला.

त्यानंतर त्यांच्याशीं माझी दुसरी भेट होण्याचा योग १९५६ च्या ऑक्टोबरमध्ये, म्हणजे द्विभाषी मुंबई राज्य अस्तित्वांत येण्यापूर्वीं सुमारे दोन महिने, अचानक आला. या वेळीं त्यांचा मुकाम जुन्या मध्यप्रदेश सरकारचे त्या वेळचे स्वास्थ्यमंत्री श्री. कन्नमवार यांच्याकडे होता. दुपारीं अडीचच्या सुमारास आमची भेट होऊन एकान्तांत सुमारे तासभर अगदीं मनमोकळेपणानें आमचें बोलणें झालें. या बोलण्यांत त्यांची राजकीय दूरदृष्टि, मनाचा पक्केपणा, स्व-पर-बलाबल पारखण्याची सावध-गिरी आणि परिस्थितीचा अचूक अंदाज घेऊन टिपण साधण्याचें कौशल्य या सर्व गुणांची पुरेपूर जाणीव होऊन ते अव्वल दर्जाचे मुत्सदी आहेत, असा माझा ग्रह झाला. मी त्या वेळच्या राजकारणांत श्री. शंकरराव देव यांच्याबरोबर होतो,--म्हणजेच श्री. भाऊसाहेब हिरे यांच्या बाजूला होतो. यामुळें त्या वेळीं झालेल्या संभाषणांत त्यांनीं माझ्यापुढें मांडलेले मुद्दे आणि केलेले तत्कालीन गुंतागुंतीचें विश्लेषण जरी मला बव्हंशीं पटलें, तरी त्यांच्या मतानुसार वागायला मी मोकळा नव्हतो. मात्र त्यांच्याशीं झालेलें हें संभाषण मी लगेच श्री. पु. का. देशमुख यांना सांगितलें; व त्यांनाहि तें बहुतेक पटलें. पण ते तर मंत्री आणि विदर्भातील प्रमुख काँग्रेस कार्यकर्ते असल्यामुळे, माझ्याहि पेशा जास्त बांधलेले होते; व एकदां दिलेला शब्द मोडायचा नाही, असा त्यांचा बाणा असल्यामुळें, ते त्या वेळच्या राजकारणांत शेवटपर्यंत श्री. भाऊसाहेब हिरे यांना निष्ठेनें चिकटून राहिले.

कदाचित् याच कारणामुळें असेल,--त्यानंतर दोन महिन्यांनीं मुंबई राज्याचे मुख्य मंत्री झाल्यावर पहिलें सुमारे वर्षभर श्री. यशवंतराव हे कांहीं माझ्याशीं मोकळेपणानें वागले नाहीत. मीहि ती गोष्ट अगदीं स्वाभाविक समजून चाललो; व त्यामुळें त्यांच्यासंबंधींच्या माझ्या गुणग्राहक-तेच्या धोरणांत कांही फरक पडला नाही.

‘तरुण भारत’ हें विदर्भनिष्ठ खरें, पण संयुक्त महाराष्ट्रवादी वर्तमान-पत्र. त्याचें राजकीय धोरण स्वतंत्र, म्हणजेच पक्षातीत असून, त्याची अगदीं सुरुवातीपासूनची भूमिका सरकारच्या विधायक टीकाकाराची आहे. त्यामुळें श्री. यशवंतराव चव्हाण यांच्या नेतृत्वाखालीं संयुक्त महाराष्ट्राच्या मागणीला उघड उघड शह देण्यासाठीं म्हणून जें मंत्रिमंडळ या वेळीं अस्तित्वांत आलेलें होतें, त्याला पाठिंबा द्यावयाचा कीं नाही, हा विकट प्रश्न माझ्यापुढें उभा राहिला. सुदैवानें महाराष्ट्राच्या चळवळीच्या अगदीं प्रारंभापासूनच बॅ. रामराव देशमुख प्रभृति त्या चळवळीच्या विदर्भातील पुरस्कर्त्यांनीं अशी भूमिका घेतलेली होती कीं, संयुक्त महाराष्ट्र स्थापन होणें जर कोणत्याहि कारणामुळे शक्य झालें नाही, तर निदान सगळा मराठीभाषी प्रदेश तरी मुंबई राज्यांत समाविष्ट करण्यांत यावा. दार कमिशन आणि पट्टामि समिति यांचा संयुक्त महाराष्ट्रासंबंधींचा प्रतिबुल निर्णय प्रसिद्ध झाल्यानंतर बॅ. रामराव देशमुख यांनीं ता. २१ एप्रिल १९४९ रोजीं जें पत्रक काढलें, त्यांत असें म्हटलेलें होतें कीं, “जर संयुक्त महाराष्ट्र कांही कारणामुळें होणार नसेल,

आणि महाविदर्भहि होणार नसेल, तर मध्यप्रांत-बऱ्हाडतील मराठी जनतेची भूमिका अशी आहे कीं, मध्यप्रांत-बऱ्हाडतील सारा मराठी प्रदेश त्या प्रांतांतून काढून मुंबई प्रांतांत घालण्यांत यावा. सर्व मराठी-भाषी जनता ही एका प्रांतिक कारभाराच्या हुकमतीखाली, एकाच प्रांतांत एकत्रित करण्यांत यावी, याबद्दल आमच्यांत कोणत्याहि प्रकारचा मतभेद नाही.” या भूमिकेनुसार आम्ही नागपुरातील संयुक्त महाराष्ट्रवादी मित्रांनीं, द्विभाषी मुंबई राज्याच्या स्थापनेमुळें उत्पन्न झालेल्या नव्या परिस्थितीचा विचार करून, संक्रमणकालातील एक प्रयोग म्हणून त्या राज्याला संधि देणें इष्ट होईल, असें ठरविलें. अर्थात्, द्विभाषी राज्याविषयी प्रयोगादाखल कां होईना, सहानुभूतीची दृष्टि ठेवणें म्हणजे श्री. यशवंतराव चव्हाण यांच्या नेतृत्वाला पाठिंबा देणें होतें, हें उघड आहे. पण मराठी जनतेच्या हिताच्या व्यापक दृष्टीनें द्विभाषी राज्याचा प्रयोग आणि यशवंतरावांचें नेतृत्व या दोहोंकडे सहानुभूतीच्या दृष्टीनें पाहण्याचा निर्णय मी विचारपूर्वक घेतला. या माझ्या निर्णयाला बॅ. रामराव देशमुख यांच्या भूमिकेइतकेंच ऑक्टोबरमधील भेटींत यशवंतरावांशीं झालेलें खाजगी बोलणेंहि कारण झालें, ही गोष्ट मुद्दाम नमूद केली पाहिजे.

‘तरुण भारत’ चें हें धोरण आमच्या अनेक संयुक्त महाराष्ट्रवादी मित्रांना रुचलें नाही. त्यांच्या दृष्टीने श्री. यशवंतराव हे संयुक्त महाराष्ट्राच्या शत्रुपक्षाला जाऊन मिळालेले होते; व त्यांच्या गुणांचा फायदा द्विभाषिकाला मिळणार होता. खुद्द श्री. यशवंतराव यांनीं १९५६ च्या ऑक्टोबरमध्ये गांधी जयंतीच्या वेळीं नागपुरांत जीं भाषणें केलीं, त्या सर्व भाषणांत हा प्रश्न आता कायमचा मिटला असल्याचें प्रतिपादन वारं-वार केले. त्यामुळे त्यांच्यासंबंधींचा संयुक्त महाराष्ट्रवादी कार्यकर्त्यांचा रोष अधिकच वाढलेला होता. अर्थात्, ‘तरुण भारत’ ने प्रयोगादाखल म्हणून कां होईना, स्वीकारलेलें हें धोरण संयुक्त महाराष्ट्राचें तत्व आणि मागणी यांना दगा देणारें आहे, अशी त्यांची धारणा होऊन गेली. त्यांपैकी जे मित्र काँग्रेसविरोधी पक्षांतले होते, त्यांना या धोरणामुळे ‘तरुण भारत’ काँग्रेस-पक्षपाती झाला असल्याचाहि जबर संशय आला. अशा स्थितींत, एकीकडे मित्रांचा असंतोष आणि दुसरीकडे खुद्द यशवंतरावांचा अविश्वास या दोहोंची दखल न घेतां, ‘तरुण भारत’ ने द्विभाषी मुंबई सरकारच्या कारभारातील चांगल्या गोष्टींचा पुरस्कार केला आणि अनिष्ट गोष्टींवर कडक टीका चालू ठेवली. वर्षभर हें धोरण चाल-विल्यानंतर, १९५७ सालच्या दिवाळी अंकांत, द्विभाषी मुंबई राज्याच्या एका वर्षातील कारभाराचा आढावा घेऊन ‘तरुण भारत’ ने आपल्या अग्रलेखांत, हें राज्य यशस्वी होण्याची आशा नाही आणि म्हणून तें मोडण्यांत येऊन संयुक्त महाराष्ट्र स्थापन करण्यांत यावा, अशी सूचना जाहीर रीतीने केली. या अग्रलेखाला ता. ९ नोव्हेंबर रोजीं श्री. यशवंतराव यांनीं अमरावतीच्या जाहीर सभेंत जें उत्तर दिलें, त्यांत ‘तरुण भारत’ ने आपल्या अग्रलेखांत उल्लेखिलेल्या पांच कसोट्या मान्य केल्या, पण द्विभाषिक यशस्वी होणार नाही आणि म्हणून तें मोडलें पाहिजे, हा निष्कर्ष मात्र मान्य केला नाही. या त्यांच्या उत्तरामुळे संयुक्त महाराष्ट्र-वादी मित्रांना, “‘तरुण भारत’ ने श्री. यशवंतराव यांना पाठिंबा देऊन काय साधलें ?” अशी पृच्छा करण्याची संधि मिळाली.

पण १९५६च्या ऑक्टोबरमधील आमच्या भेटीत श्री. यशवंतराव यांच्या मनोगताची जी कल्पना मला आली होती; तिच्यामुळे माझ्या मनाची अशी खात्री होऊन गेलेली होती की, संयुक्त महाराष्ट्राच्या भूमिकेपासून ते दळलेले नाहीत. ज्या काँग्रेस संघटनेचे ते सदस्य होते, तिची दृढता आणि शिस्त या दोहोंना आपल्या राजकीय जीवनांत जे पहिले स्थान त्यांनी पक्षनिष्ठेने दिलेले होते, त्यामुळे आणि कदाचित् वैयक्तिक महत्वाकांक्षेमुळेही जरी त्यांनी द्विभाषिक चालविण्याची जबाबदारी शिरावर घेतलेली असली, तरी संयुक्त महाराष्ट्राचे तत्त्व आणि मागणी ही दोन्ही त्यांनी सोडून दिलेली नाहीत, असा माझा ग्रह पक्का होऊन गेलेला होता. किंबहुना, आजही जेव्हा चार वर्षांपूर्वीच्या भेटीतील तें संभाषण मला आठवते, तेव्हा मला रघुवंशातील 'तस्य संवृत मंत्रस्य गूढाकारेणितस्य च । फलानुमेयाः प्रारंभाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥' या मार्मिक श्लोकाचे स्मरण होते. त्यामुळे यांच्या कारभारातील कांही गोष्टी जरी मला अतिशय टीकास्पद वाटल्या, तरी त्यांच्या नेतृत्वाला पाठिंबा देण्यांत आपले कांही चुकले आहे, असें मात्र कधीच वाटले नाही. उलट, आम्हा दोघांमधील अविश्वासाचे पटल दूर होऊन आमचे संबंध पूर्ण स्नेहभावाचे झाल्यावर, माझी त्यांचे कर्तृत्व आणि धोरण यांच्याविषयीची आदरबुद्धि आणि खात्री वाढत गेली. "राजकारणांत फक्त उपयुक्ततेला स्थान आणि मान आहे, स्नेहाला नाही," हे ब्रिटिश मुत्सद्दी दिक्षावली यांचे नीतिसूत्र मला माहीत आहे. पण, त्याबरोबरच केवळ विधानसभेच्या व्यासपीठावर दिलेला शब्दच नव्हे, तर खाजगी भेटीत दिलेला शब्दसुद्धा श्री. यशवंतराव किती कसो-शीने पाळतात, याचा प्रत्यक्ष अनुभव विदर्भातील एका मंत्र्यांच्या बाबतीत मी घेतलेला आहे. त्यामुळे, त्यांच्या ठिकाणी जसे संघटनेविषयीचे इमान उत्कटतेने बसत आहे, तसेच ज्यांना आपण एकदा सहकारी किंवा स्नेही म्हणून जवळ केले, त्यांच्याविषयीचे इमानही तितक्याच उत्कटतेने बसत आहे, असें म्हणावयाला मला शंका वाटत नाही. इतकेच नव्हे, तर काँग्रेसविरोधी पक्षांतीलसुद्धा कांही प्रमुख कार्यकर्त्यांचा जो स्नेह आणि विश्वास त्यांनी संपादन केलेला आहे, तो खरोखरी त्यांच्या या असामान्य राजकीय चारित्र्यामुळे! त्यामुळेच कदाचित् ते इतके मित-भाषी आणि संयमी, नेमके आणि मोजके बोलणारे व सौजन्याने पण सावधपणाने वागणारे झाले असावेत, असें मला वाटते. 'सत्याय मितभाषिणाम्' हे कालिदासाचे वचन या दृष्टीने त्यांना यथार्थतेने लागू पडते.

आचार्य दादा धर्माधिकारी यांचा मुक्काम गेल्या सप्टेंबरमध्ये नागपुरास असतांना दिल्लीतील काँग्रेसश्रेष्ठींच्या गोटांत त्यांच्यासंबंधी असलेल्या आदरबुद्धीविषयी बोलतांना, दादांनी असा उद्गार अगदी सहजगत्या काढला की, "पहिला बाजीराव आणि नाना फडणीस यांच्यातले गुण यशवंतरावांच्या ठिकाणी एकवटलेले आहेत." मला दादांचे हे विधान अत्यंत समर्पक आणि मार्मिक वाटले. बाजीरावाने मिळालेल्या प्रत्येक संघीचा फायदा घेऊन मराठी राज्य वाढविले; व आपल्या संग्राहक

धोरणाने सर्व जातींची नवी सरदार घराणीं निर्माण करून त्या राज्याला बळकटी आणली. बाजीराव हा पराक्रमी असला, तरी हिरोबी नव्हता; धाडशी असला तरी कारस्थानी नव्हता; व दिलदार असला तरी विवेकी नव्हता. उलट, नाना फडणीस हा भिन्ना खरा, पण पाताळधनी, हिरोबी आणि सावध होता. श्री समर्थींनी नेमकेपणा म्हणून ज्या गुणांचे वर्णन केलेले आहे, ते गुण हेच नाना फडणीसांचे खरोखरी वैशिष्ट्य होय. श्री. यशवंतराव चव्हाण यांची गेल्या चार वर्षांतली व्यवहार-नीति आणि राज्यकारभार ही जर दोन्ही पाहिली, तर त्यांच्या ठिकाणी खरोखरीच बाजीराव आणि नाना फडणीस यांचे गुण एकवटलेले आहेत, हा आचार्यांचा अभिप्राय पटल्याविना रहाणार नाही. त्यामुळेच गेल्या चार वर्षांत, लोकनिंदा आणि विरोध यांच्यावर मात करून, ते आपले उद्दिष्ट साधण्यांत यशस्वी झाले, व आपल्या राजकीय चारित्र्याचा वचक त्यांनी मित्र आणि शत्रु या दोहोंवरही सारखाच बसविला. स्वतःच्या शब्दाला जागणारा आणि चारित्र्याला जपणारा इतका संग्राहक श्रुतीचा पण सावध राज्यधुरीण मी तरी पाहिलेला नाही.

म्हणूनच फेब्रुवारीच्या शेवटच्या आठवड्यांत श्री. काकासाहेब गाडगीळ यांचा मुक्काम नागपुरास असतांना मी त्यांना म्हटले, "यशवंतराव दिल्लीस जातील अशी आज सार्वत्रिक अपेक्षा आहे. पण महाराष्ट्र राज्य जर स्थिर आणि दृढ व्हावयाला हवे असेल तर आणखी पांच वर्षे तरी त्यांच्या राज्यकारभाराचे नेतृत्व त्यांच्याकडेच राहिले पाहिजे, असें मला वाटते." त्यावर काकासाहेब उद्गारले "अगदी खरे आहे आणि बरहि तशी जाणीव दिलेली आहे." श्री. यशवंतराव चव्हाण यांना पाठिंबा देणे म्हणजे काँग्रेस पक्षाला पाठिंबा देणे नव्हे; तर महाराष्ट्र राज्याच्या स्थिरतेला आणि दृढतेला, एकामतेला आणि अभिवृद्धीला पाठिंबा देणे आहे, याच एका भावनेने 'तरुण भारत' त्यांच्याकडे पाहतो. त्यांचे लोकाराधनेच चातुर्य आणि संग्राहक धोरण ही महाराष्ट्राच्या एकामतेचा परिपोष करून त्यांच्या पुनर्घटनेचा आणि प्रगतीचा मार्ग निष्कटक करतील, अशी मला खात्री वाटते; व त्यामुळेच, काँग्रेस पक्षा-विषयीचे एरवीचे सगळे मतभेद बाजूला ठेवून, त्यांना पाठिंबा देणे अवश्य आहे असें मी समजतो. महाराष्ट्रांत तरी आज काँग्रेसइतका प्रबळ पक्ष दुसरा नाही; व त्यामुळे महाराष्ट्र राज्य सुस्थिर आणि यशस्वी होणे, हे त्या पक्षाच्या शासकीय नेत्यांच्या मुत्सद्देगिरीवरच मुख्यतः अवलंबून आहे. या बाबतीत श्री. यशवंतराव चव्हाण यांची मुत्सद्दे-गिरी ही कसोटीला उतरलेली आहे, असें म्हणावयाला शंका वाटत नाही. कारण, काँग्रेसेतर पक्षांचा विरोध आणि महाराष्ट्रातील प्रादेशिक भेदभाव या दोहोंवरही मात करून, हे राज्य एकीकरणाच्या आणि उन्नतीच्या मार्गाला लावण्यांत आपण यशस्वी होऊं, अशी आशा त्यांनी उत्पन्न केली आहे. ती आशा सफल झालेली पाहावयाला मिळो, एवढीच या मंगल समर्थी प्रार्थना.

● ● ●

दिल्लीतून दिशणारें प्रादेशिक मुख्यमंत्री



डा. भ. कर्णिक

वृत्तपत्रकार, नवी दिल्ली.

प्रदेशांचे मुख्य मंत्री दिल्लीत आले की नाही म्हटलें तरी येथील राजकीय जीवनांत कुतूहल निर्माण होतें. कांही वेळां ते जमावानेच येथे दिसतात. मग लोक आडाखा बांधतात की, काँग्रेस कार्यकारिणीची समा असेल, नाहीतर नियोजन समितीशी कांही चर्चा व्हावयाची असेल किंवा राष्ट्रीय विकास मंडळाची बैठक भरावयाची असेल. मग प्रादेशिक मुख्य मंत्र्यांकडे तसें कटाक्षाने लक्ष पुरविलें जात नाही. पण अधूनमधून या मुख्य मंत्र्यांपैकी कोणी एकटेच येतात. मग त्यांच्या भोवती त्या प्रदेशांतील खासदारांचा गराडा पडतो, कांही हितचिंतक—बहुधा ते स्वहितचिंतकच असतात—विमानतळावर जाऊन त्यांना पुष्पहार अर्पण करतात आणि कित्येक जण त्यांना भेटीसाठी तळमळत, त्यांना भेटू शकणाऱ्या इतर लोकांविषय बोटें मोडण्यांत आपला वेळ घालवितात. राजकीय निरीक्षकांची अशा वेळीं बरीच धावपळ होते. कारण त्यांची पहिली समजूत अशी असते की, बहुधा त्या प्रदेशराज्यांत कांहीतरी नवीन शिजत असावें व मुख्य मंत्र्यांचें आसन अस्थिर झालें असावें! त्यानंतरचा दुसरा आडाखा असा की, हे मुख्य मंत्री केंद्रीय मंत्रिमंडळाकडे किंवा काँग्रेस-श्रेष्ठांकडे कांही तरी मागणी करण्यासाठी आले असावे. ही मागणी कोणती ? याबद्दलचे अंदाज बांधण्यास त्यांची नंतर सुरुवात होते.

मुख्य मंत्र्यांना याचा कित्येक वेळा सुगावाहि नसतो. ते कांही कामा-निमित्त आलेले असतात, आपल्याला पाहिजे असतील त्यांच्या भेटीसाठी घेऊन ते निघूनहि जातात. पण त्यांच्या आगमनाबरोबर वार्तांचें जे मोहोळ उठतें तें ते निघून गेल्यानंतरहि बराच काळ शमत नाही. अलीकडील काळांत कांही प्रमुख प्रांतांत अंतर्गत स्पर्धेमुळे काँग्रेस मंत्रिमंडळें व संघटना खिळखिळ्या झाल्यामुळे प्रादेशिक मुख्य मंत्र्यांच्या भेटीला दिल्लीमध्ये कांही विशेष अर्थ प्राप्त होऊं लागला आहे. मध्यंतरी उत्तर प्रदेशांत पंचप्रसंग निर्माण झाला असतांना संपूर्णानंद वा त्यांचे प्रतिस्पर्धी चंद्रभानु गुप्ता हे दिल्लीत दिसतांनाच येथील राजकीय गोटांत दुतर्फी वावड्या उठत. कोणी सांगत, “काँग्रेस-श्रेष्ठांनी संपूर्णानंद यांना समज दिली. आता राजीनामा देण्याशिवाय त्यांच्यापुढे गत्यंतरच उरलें नाही,” तर दुसरे तितक्याच हिरिरीने म्हणत, “चंद्रभानु गुप्ता यांची राजवट उत्तर प्रदेशांत कोणालाच मान्य होणार नाही.” याच प्रकारच्या परस्परविरोधी वावड्या आंध्र आणि ओरिसा, म्हैसूर आणि बिहार या प्रांतांतील मंत्रिमंडळांच्या बाबतींतहि उडविल्या जात असत. त्या वार्ता कांही अंशी

खऱ्या आणल कांही अंशॉ खोऱ्या ठरत. पण त्यावरून ँक गोष्ट स्पष्ट होई की, "प्रादेशलक मंत्र्यांना जसें दल्लीकडे लक्ष द्यावे लागते त्याचप्रमाणे दल्लीलाहल त्यांच्या अस्तलत्वाची दखल च्यात्री लागते."

तसें म्हटले तर प्रादेशलक मुख्य मंत्रलपद हे मानाचे तसेंच सत्ता गाजवलण्याचे ँक प्रमुख स्थान आहे. प्रदेश राज्यांत कोठे दंगल झाली, जुलूमजबरदस्ती झाली, दंडुकेशाहीचे येभान माजले तरी सार्वभौम संसदेला सहज रीतीने त्यांत हस्तक्षेप करतां येत नाही. संसदेने हा वलषय चचेला काढला तर सभापतल लगेच आपला निर्णय देऊन मोकळे होतात की, "हा प्रदेशराज्याच्या कायद्याचा व सुव्यवस्थेचा प्रश्न आहे. त्या राज्याच्या स्वायत्ततेत मी आपल्याला दवळादवळ करूं देणार नाही." केंद्रीय मंत्रिमंडळ व काँग्रेस-श्रेष्ठी यांनीहल साधारणपणे असा संकेत घालून दलला आहे की, प्रदेश राज्यांतील वलधानसभा पक्षाने नलवडून दललेल्या नेत्याच्या म्हणजेच प्रदेश मुख्य मंत्र्याच्या मार्गंत शक्य तोंवर कोणतेहल अडथळे आणूं नयेत. त्या दृष्टीने प्रादेशलक मुख्य मंत्री हा दल्लीच्या दृष्टीने ँक जबाबदार कारमारी व काँग्रेसच्या दृष्टीने ँक वलश्वास सुभेदार असतो.

हा कारमारी वा सुभेदार स्वायत्त खरा. पण त्याच्या स्वायत्ततेला लोक-सत्तावादी घटनेच्या जशा मर्यादा पडलेल्या असतात त्याचप्रमाणे पक्षीय संघटनेच्या परंपरागत बंधनांनीहल ती जखडलेली असते. त्याशलवाय या देशांत अद्याप तरी केंद्रीय सत्ता व प्रदेश राज्ये ही ँका नाजूक पण अमंग अशा धाग्याने ँकमेकांशी नलगडलत झालेली दलसून येतात. हा धागा म्हणजे अर्थातच पंडलतजींचे अनमोल नेतृत्व होय. या नेतृत्वाचे वैशलष्टय असें आहे की, त्यांत अधिकाराची गरज भासत नाही. उलट तो अधिकार नलव्याज प्रेमाचाच आवलष्कार वाटतो. पंडलतजींच्या अधिकाराची मर्यादाहल हतकी व्यापक आहे की, काँग्रेस संघटना असो, केंद्रीय मंत्रिमंडळ असो की कोणतेहल केंद्रीय खाते वा उपखाते असो, ते प्रत्येक ठिकाणी केंद्रस्थानी असतात व त्यांच्या मेहेरनजरेवरच सान्या राजकीय, सामाजलक व सांस्कृतलक घडामोडींचे भवलतव्य अवलंबून असते. तसेंच व्यक्तींचेहल.

प्रादेशलक मुख्य मंत्र्यांचे कर्तृत्व आज तरी ँकाच नलकषावर घासून तपासले जाते आणल तो नलकष हा की, पंडलतजींची सदलच्छ त्याने संपादन केली आहे काय ? व केली असल्यास ती कलती प्रमाणांत ? कोणाला आश्चर्य वाटेल, पण पंडलतजी तत्त्वतः लोकशाहीचे भोक्ते आहेत. मनाने व वृत्तीने लोकशाहीच्या परंपरा जतन करणारे आहेत. पण त्यांच्या हातीं मात्र सर्वेकष सत्ता केंद्रलत झालेली आहे व त्यांचा अधिकार सान्या नलयोगनावर, सान्या राज्यकारभारावर आणल आपल्या अनुयायांच्या मनावर अनलयंत्रलतपणे चालतो. म्हणून 'तीन मूर्ती'च्या परलसरांत कोणा मुख्य मंत्र्याचा कलतीसा संचार आहे व त्यांचे तेथे कलती वजन आहे यावरच त्यांचे यश वा अपयश मानले जाते.

महाराष्ट्राचे मुख्य मंत्री श्री. यशवंतराव चव्हाण यांचा गेल्या दोन-तीन वर्षांत जो झपाट्याने उत्कर्ष झाला त्यांचे ँक मुख्य कारण असें सांगतां येईल की, त्यांनी पंडलतजींचा वलश्वास संपादन केल्या, त्यांचे मन मलळवलले. त्यापूर्वी महाराष्ट्राच्या नेतृत्वाचे जे दर्शन पंडलतजींना झाले होते

ते ँक तर आग्रहीच नव्हे तर हेकेखोर वा चंचल आणल दुबळे. पहल्ल्या वृत्तीचे नेतृत्व त्यांच्या, सुसंस्कृत म्हणा किंवा खानदानी म्हणा, मनःप्रवृत्तीला मानवलें नाही. दुसऱ्या वृत्तीच्या नेतृत्वाने त्यांची फसगत केली. मग महाराष्ट्राचा प्रश्न सोडवलण्यासाठी ँकामागून ँक पर्याय ते सुचवीत वा स्वीकारलत गेले आणल त्यांच्या नलदर्शनास आले ते हे की, महाराष्ट्राच्या त्यावेळच्या नेतृत्वाला स्वतःच्या वा इतरांच्या पर्यायाबद्दल नलघ्वाच नाही. त्याचा परलणाम असा झाला की, दल्लीतील अनेक राजकीय पुढारी वा नलरीक्षक यांच्याप्रमाणे पंडलतजींचीहल अशी समजूत झाली की, "महाराष्ट्राचा कोणावरच वलश्वास राहललेला नाही. असमाधान हाच त्याचा बाणा झाला आहे."

यशवंतराव चव्हाण यांनी पंडलतजींवर, काँग्रेसश्रेष्ठांवर आणल दल्लीवर छाप टाकली ती आपल्या नलष्टेची त्यांना जागीव करून देऊन. ही जाणीव त्यांनी अबोल कर्तृत्वाने करून दलली हे वलशेष आहे. त्या वेळच्या परलरलथतीचा वलचार मनांत आला म्हणजे मल्ल मधूनमधून वाटते, महाराष्ट्रातील काँग्रेसच्या नेत्यांनी. आपल्या तोंडची वाफ जरा कमी दवडली असती आणल बोलण्याऐवजी कृती केली असती तर कलती बरे झाले असते ! यशवंतराव चव्हाण दल्लीच्या लोकांना उटून दलसतात ते त्यांच्या मुंबई व महाराष्ट्र राज्यांतील कर्तृत्वाने. त्यांचे दर्शन वा भेट ज्यांना होते त्यांना ते अघळपघळ बोलतांनाहल दलसत नाहीत आणल अवास्तव घोषणा करतांना तर मुळीच आदळून येत नाहीत.

अबोल कर्तृत्वाचे आदर्श म्हणून दल्ली दोनच मुख्य मंत्र्यांना ओळखते. ँक मद्रासचे मुख्य मंत्री कामराज नादर आणल दुसरे महाराष्ट्राचे मुख्य मंत्री यशवंतराव चव्हाण. दोघांनीहल आपल्या प्रदेशाचा राज्यकार-भार इतका कार्यक्षमतेने चालवलला आहे की, पंडलतजी, पंतजी व इतर काँग्रेसश्रेष्ठ, इतकेच नव्हे तर परदेशांतून आलेले सुत्सही सुद्धा त्यांना नलःशंकपणे प्रशस्तलपत्र देतात. पण ही प्रशस्तलपत्रे शिरावर धारण करतांनाहल त्यांच्या तोंडून अभलमानाचा शब्द नलघत नाही. कामराज नादर हे वृत्तीने अबोल आहेत आणल त्यांना बोलतांना भाषेचीहल अडचण पडते. यशवंतराव चव्हाण यांचा व्यासंग च्वांगला आणल बोलण्यांतहल ते वाकजगार आहेत. पण त्यांनी मलतभाषलत्व हा आपला बाणा केल्या आहे आणल जे कांही ते बोलतात ते मोजके व मुद्देसूद असते. राजकीय जीवनांत लोकांना कृतलशून्य पण शब्दशूर लोकांच्या तोंडाचा पट्टा चाललेला ऐकण्याची सवय झाल्यामुळे या अबोल व मलतभाषी अशा दोन मुख्य मंत्र्यांच्या वर्तनाची त्यांच्यावर साहजलकच अधिक मोहलनी पडते.

या दोन्ही मुख्य मंत्र्यांचे आणखी ँक वैशलष्टय असें आहे की, त्यांनी वलरोधी पक्षांतील लोकांना नुसतेच नामोहरम केलेले नाही तर त्यांना आपले पक्षपाती बनवलले आहे. दल्लीच्या राजकीय वातावरणांत आधीच नेहंरूनी अशी कांही ँक मोहलनी नलर्माण केली आहे की, येथे येणाऱ्या वलरोधी पक्षाच्या पुढान्यांत राज्यकर्त्यांबद्दल तेवढा कडवटपणा राहत नाही' तशांत चव्हाण व कामराज नादर यांचे वलरोधक मनांत खंत बाळगीत नेहमी प्रांजलपणे कबूल करतात की, "या दोघां मंत्र्यांनी आपल्या समजूतदार धोरणांमुळे आमचा सारा वलरोधक दुबळा करून टाकल्या आहे." दल्लीमध्ये ही कीर्तल इतर फारच थोड्या मुख्य मंत्र्यांबद्दल

ऐक्ये येते. साहजिकच येथे अशी दाट समजूत झाली आहे की, राज्यकारभाराच्या दृष्टीने कार्यधम, आणि अंतर्गत सत्तास्पर्धेपासून मुक्त अशी जर कोणती प्रदेशराज्ये असतील, तर तीं मद्रास व महाराष्ट्र हीं होत.

प्रादेशिक मुख्य मंत्र्यांवर जी जबाबदारी पडते ती दुहेरी असते. एक म्हणजे त्यांना आपले राज्य काबूत ठेवावे लागते आणि दुसरे म्हणजे त्या प्रदेशराज्यावरील आपली पकड अधिक मजबूत करण्यासाठी दिल्लीवर त्यांना प्रभाव टाकावा लागतो. कांही मुख्य मंत्री हे आधीच भारतीय राजकारणांत प्रभावी ठरलेले असल्यामुळे त्यांना तेवढी दिल्लीची आराधना करावी लागत नाही किंवा दिल्लीच्या स्पंदनावर बोट ठेवून त्यांना आपली धोरणे ठरवावी लागत नाहीत. उदाहरणार्थ, बंगालचे मुख्य मंत्री बिधनचंद्र रॉय यांचे महत्त्व कांही वेगळेच आहे. नेहरू व काँग्रेसश्रेष्ठ आणि सारे मंत्रिमंडळ यांच्याशी त्यांचे नाते असे आहे की, वेळप्रसंगी दिल्लीलाच त्यांच्याकडे धाव घ्यावी लागते. खुद्द बंगालमध्ये त्यांच्यावांचून पान हलत नाही. पण बंगालशी संबंधित असलेला एकादा वाद मिटवावयाचा असला तर महामंत्री व गृहमंत्री यांना न्यायाचा कांट त्यांच्याकडे झुकवावा लागतो. एखादी नेमणूक करावयाची झाली तरी बिधन रॉय यांनी नुसता शब्द टाकला तर त्याचा अपमान करणे दिल्लीला शक्य होत नाही. दिवंगंदिवस जुने वजनदार पुढारी कालवश होत चालल्यामुळे बी. सी. रॉय यांची दिल्लीतील प्रतिष्ठा वाढतच चालली आहे. मध्यंतरी राज्यपुनर्रचना होत असतांना नेहरूंनी साऱ्याच मुख्य मंत्र्यांना विचारविनिमयासाठी दिल्लीला बोलाविले. सारे मुख्य मंत्री आले आणि तडक नेहरूंच्या भेटीला गेले. पण बिधन रॉय यांना आणावयाला नेहरू स्वतः पाल्मच्या विमानतळावर गेले. आज जेव्हा जेव्हा मुख्य मंत्र्यांच्या प्रतिष्ठेचा व वजनाचा उल्लेख होतो तेव्हा सर्व जण एक गोष्ट निःशंकपणे मान्य करतात की बिधन रॉय यांचे वजन कांही आगळेंच आहे. 'जवाहर' म्हणून नेहरूंना हाक मारणारा आणि प्रेमाच्या अधिकाराने त्यांना दटावणारा दुसरा मुख्य मंत्री आज अस्तित्वांत नाही!

याच प्रकारची प्रतिष्ठा मुंबई प्रांताचे मुख्य मंत्री असतांना मोरारजी देसाई यांना प्राप्त झालेली होती. आधीच भारतीय नेतृत्वांत त्यांची गणना झाल्यामुळे त्यांना दिल्ली परकी नव्हती व दिल्लीलाहि ते परके नव्हते. शिवाय गांधीजींच्या गुजरातचे नेते, सरदारांचे वारसदार आणि औद्योगिक दृष्ट्या अग्रभागी असलेल्या मुंबई राज्याचे कार्यक्षम मुख्य मंत्री या तिन्ही नात्यांनी त्यांचा लौकिक झाल्यामुळे दिल्लीमध्ये त्यांचे विशेष वजन असे. केंद्रीय मंत्रिमंडळाचे एक सभासद म्हणून ते येथे येण्यापूर्वी 'नेहरूंच्या नंतर कोण,' या प्रश्नाचे उत्तर देतांना त्यांचे नांव प्रामुख्याने घेतले जात असे. इतका त्यांचा दिल्लीवर प्रभाव पडलेला होता हे लक्षांत ठेवण्यासारखे आहे.

—पण हीहि गोष्ट विमरतां कामा नये की, दिल्लीतील राज्यकर्त्यांनी मोरारजी देसाई यांच्या राज्यपद्धतीचा नमुना कधीहि आदर्शवत् मानला नाही. येथे गृहमंत्र्यांच्या राजवटीत महाराष्ट्रीय सत्याग्रहाना सौजन्याची वागणूक मिळाली यांत विशेष नाही. पण हिंसेला प्रवृत्त झालेल्या अकाली दलावरहि गृहमंत्र्यांनी कोणते हत्यार उगारले असेल तर ते अशुभूर सोडणे हेच होय. सुब्यवस्था राखण्याचा दिल्लीचा दंडक मोरारजी देसाई

यांच्यापेक्षा वेगळा आहे हेच येथे लक्षांत ठेवण्यासारखे आहे. यशवंतराव चव्हाण यांच्याकडे दिल्ली आकर्षित झाली ती या कारणामुळे की, प्रथम अनुनय, नंतर विचारविनिमय, नंतर तडजोडीच्या वाटाघाटी आणि अखेरीस निर्वाणीचा उपाय म्हणून संयमपूर्ण दंडप्रयोग ही यशवंतरावांच्या राजनीतीची सुसंस्कृत पद्धति आपल्या लोकमतानुवर्ति पद्धतीशी जुळते असे तिला वाटले म्हणून ! पंडितजी व पं. पंत हेच केंद्रीय राज्यकारभाराचे खरे मार्गदर्शक. त्या दोघांचीहि मनःप्रवृत्ति कोणत्याहि प्रकारच्या विध्वंसनाला वा हिंसेला विरोधी. राज्यकारभार करतांना समाजहितासाठी सुद्धा दंडयोजना करावी लागते, हे त्यांना ठाऊक आहे. आपल्या देशांत समाज-विरोधी प्रवृत्तींना धर्माच्या, पंथाच्या, भाषेच्या नांवाखाली चेतविले जाते आणि त्यांना आळा घालण्यासाठी कांही ना कांही जरब बसविणे आवश्यक आहे, याचीहि त्यांना जाणीव आहे. पण म्हणून सामाजिक शांतता प्रस्थापित करण्याचा एकमेव मार्ग म्हणजे बेधडक गोळी चालविणे हा होय, असे मात्र त्यांना मनोमन वाटत नाही. पक्षाबद्दलच्या निष्ठेमुळे किंवा सहकाऱ्यांबद्दलच्या आत्मीयतेमुळे वेळीप्रसंगी त्यांना स्वतःला जी दंडयोजना अवास्तव वाटली असेल तिचेहि समर्थन करावयाला ते पुढे सरसावले असतील. पण मुंबईच्या गोळीबारांमुळे व पंजाबमधील अतिरेकी दडपशाहीमुळे त्यांचीं मने दुखावलीं गेलीं होती यांत संशय नाही. यशवंतराव चव्हाण यांच्या राजवटीबद्दल त्यांना विश्वास आणि आस्था वाटली ती यामुळे की, त्या राजवटीत त्यांना कार्यक्षमता व लोकाभिमुखता, खंबीरपणा व संयम, पक्षनिष्ठा व परमतसहिष्णुता आणि प्रादेशिक परंपरेबद्दलचा अभिमान व सार्वदेशिक दृष्टिकोणाबद्दलची जाणीव यांचा सुंदर मिलाफ झालेला आढळून आला.

दिल्लीचा नूर कांही वेगळा आहे. येथे मोगल साम्राज्याची शान आहे. ब्रिटिश राजवटीचे वैभव आहे. खानदानी उर्दूची अदब आहे. आणि या सर्व संस्कृतीत रस घेणाऱ्या पण त्याच वेळी लोकशाहीच्या परंपरा आत्मसात करणाऱ्या नेहरूंच्या सुसंस्कृत राजवटीचाहि येथे पाया घातला गेला आहे. त्या राजवटीत कोणालाहि परके वाटण्याचे कारण नाही आणि आक्साने कोणाला वेगळे लेखले जाण्याची तर येथे मुळीच मीति नाही. त्या राजवटीबद्दल कोणाला प्रेम वाटो न वाटो. तिच्या धोरणाची दिशा कोणाला आवडो न आवडो. पण एवढे मात्र खरे की, कोणीहि निःशंकपणे त्या राजवटीबद्दल आपले विचार मांडू शकतो. आणि ते मत राजवटीला मान्य नाही म्हणून कोणाच्या व्यक्तिस्वातंत्र्यावर येथे सहसा घाला घातला जात नाही. दुर्दैवाने या राजधानीत आपल्याला मानाचे नव्हे, कसलेच स्थान राहिले नाही अशी एक भावना आजवर महाराष्ट्राच्या अंतःकरणांत घर करून राहिली होती. ती भावना निर्माण होण्याला कांही सबळ, दुर्बळ कारणे घडलींहि असतील. पण त्या भावनेमुळे महाराष्ट्रांत दिल्लीबद्दल एक प्रकारचा कडवटपणा निर्माण झाला खरा. त्याची प्रतिक्रिया या ना त्या कारणामुळे राजधानीतहि उमटली आणि महाराष्ट्रांत घडणाऱ्या कृतींची चिकित्सा करतांना थोडीफार विकृत भावना योरामोठ्यांच्या अंतःकरणांतहि प्रगट होत असलेली आढळून येऊ लागली. मग महाराष्ट्राच्या इतिहासातील कांही अनिष्ट घडामोडी, गांधीवादी राजकारणाच्या वाहत्या प्रवाहाला अडथळा आणणारे महाराष्ट्र-

तील कांहीभनेत्यांचें वर्तन, आणि अलीकडील काळांत राज्यपुनर्रचनेच्या वेळीं महाराष्ट्राने दाखविलेला आग्रहीपणा या सर्वांवर कांही वेगळाच प्रकाशास्रोत टाकला जाऊं लागला आणि सर्वसाधारणपणे येथे अशी एक भावना प्रचलित होऊं लागली की, “महाराष्ट्रांत समजूतदारपणा असा राहिलेलाच नाही; भारतीय जीवनाशी हे लोक समरस होऊं शकत नाहीत.”

त्या भावनेला धक्का देण्याचें कार्य यशवंतराव चव्हाण यांनी गेल्या दोनतीन वर्षांत केलें. अत्यंत यशस्वीपणे केलें. महाराष्ट्राच्या भवितव्याच्या दृष्टीने त्यांची ही सर्वांत महत्त्वाची कामगिरी होय. ही कामगिरी भारताच्या दृष्टीनेहि महत्त्वाची ठरेल काय, हें सांगणें आज तरी कठीण

आहे. पण दिल्लीच्या राजकीय जीवनांत धावरतांना अनेक परप्रांतीय लोकांशी ज्या वेळीं माझी भेट होते त्या वेळीं वारंवार एकच उद्गार माझ्या कानीं येतो. तो म्हणजे “आदर्श मुख्य मंत्री म्हणून कोणाकडे बोट दाखवावें लागेल तर तें महाराष्ट्राच्या यशवंतराव चव्हाणांकडेच होय.”

उभ्या महाराष्ट्राला आनंद देणारे हे उद्गार मी नेहमी ऐकतो. आणि त्याच वेळीं माझ्या कानीं अशोक मेहता यांनी कळकळीने काढलेले उद्गार गुणगुणूं लागतात : “पंडितजी आणखी सात वर्षे कार्यक्षम राहिले तर त्यांचा वारसदार कोण या प्रश्नाचें उत्तर मी निःशंकपणें देईन— यशवंतराव चव्हाण !”



“महाराष्ट्र हा या भारताचा एक भाग आहे. आपली भारतनिष्ठा आणि महाराष्ट्रनिष्ठा या पूरक बनल्या पाहिजेत. महाराष्ट्राच्या भावनेंत वहात जातांना राष्ट्रनिष्ठेला तिळमात्र धक्का लागतां कामा नये. इतकेंच नव्हे तर या दोन निष्ठामध्ये तरतम असा विचार कधीं वेळ आलीच तर राष्ट्रनिष्ठेला प्राधान्य दिलें गेलें पाहिजे; हें माझ्या विचारांचें सूत्र पूर्वीं होतें तें आजहि कायम आहे.”

—श्री. चव्हाण

(सांगली येथील भाषणांत ६. १. १९६०)



लोधुमाख्यांतर्



भाई माधवराव बागल

श्री. यशवंतरावजी चव्हाण यांनी इतक्या अल्पावधीत इतक्या विरोधाशी टक्कर देऊन जी लोकप्रियता मिळविली आहे ती निव्वळ कौतुकास्पद नाही, तर आश्चर्यकारक आहे. आज ते महाराष्ट्राचे सर्वमान्य नेते झाले आहेत. आपल्या सौजन्याने, प्रामाणिकपणाने, चारित्र्याने आणि कर्तृत्वाने त्यांनी आपला आणि महाराष्ट्राच्या मुख्यमंत्रिपदाचा दर्जा महाराष्ट्रांतच नव्हे तर भारतांत वाढवला आहे. त्याचा प्रत्यक्ष अनुभव मी जानेवारी महिन्यांत (१९६१) दिल्लीस गेलों असतां मला आला. प्रत्यक्ष दिल्लीत मंत्रिपदावर नसतांना जाणत्या लोकांत त्यांनी स्वतःविषयी आदर निर्माण केला आहे. दिल्लीत महाराष्ट्राला स्थान नव्हतें तें मिळवले आहे. पं. नेहरूंचेहि प्रेम संपादन केले आहे. ही केवढी अभिमानाची गोष्ट ! लोकमान्यांच्या नंतर महाराष्ट्रांत पडलेली पुढारीपणाची पोकळी त्यांनी भरून काढली आहे. त्यांच्या ४८ व्या वाढदिवसानिमित्त त्यांच्या व्यक्तित्वाचें आणि कर्तृत्वाचें दर्शन घडविणारा ग्रंथ प्रकाशित करण्याची करपना अत्यंत स्तुत्य आहे.

यशवंतरावजींची व माझी ओळख ते एक सामान्य कार्यकर्ते म्हणून झाली होती. त्या वेळीं माझ्या डायरीत 'कराडचा एक होतकरू कार्यकर्ता' एवढाच उल्लेख मी केला होता. एक शेतकरी परिषद घडवून आणण्यांत त्यांनी त्यावेळीं बराच पुढाकार घेतला होता. त्या परिषदेचा अध्यक्ष म्हणून त्यांनी माझे स्वागत केले होते. त्या तरुणाला संयुक्त महाराष्ट्राचा मुख्य मंत्री म्हणून कोल्हापूरच्या प्रचंड जाहीर सभेत मानाचा मुजरा करण्याचें भाग्य मला लाभलें याचा मला अभिमान वाटतो. केवढें स्थित्यंतर झालें हें यशवंतरावजींच्या स्थानांत !

द्विभाषिकाच्या वेळीं मी त्यांचा कट्टर विरोधी. अत्यंत प्रखर टीकेला माझ्यापासूनच सुरुवात झाली म्हटलें तरी चालेल. त्या वेळचे द्विभाषिकाचे पुरस्कर्ते म्हणून मी त्यांचा द्वेष करीत होतो. कारण मी होतो संयुक्त महाराष्ट्राचा वेडा ! तो माझ्या जीवनमरणाचा लढा असें मी मानीत होतो.

यशवंतराव आणि पक्षनिष्ठा

रशियाचे मुख्य मंत्री बुल्गानिन यांनी मुंबईस भेट दिली त्या वेळचा प्रसंग. मी त्या वेळीं मुंबईस होतो. यशवंतरावांना मी शत्रु म्हणूनच मानीत होतो.



त्याच रागाच्या मरांत मी त्यांना भेटण्यासाठी त्यांच्या मलबारहिलच्या बंगल्यावर गेलों. तोंडसुख घ्यावें हा इरादा होताच. वडीलकीच्या तोऱ्यांतच गेलों होतो. मला जराहि वाट पाहावी लागली नाही. लग्नेच बोलावणें आलें. माझ्या टीका त्यांच्या कानांवर गेल्या अश्यावरच. पण त्याची जाणीव त्यांनी मला करून दिली नाही. आदरानेच वागवलें. ते म्हणाले,

“माधवरावजी, महाराष्ट्राचा अभिमान आम्हांला काय वाटत नाही ? संयुक्त महाराष्ट्र होऊं नये असं कां आम्हांला वाटतं ? पण शंकरराव देवांनी द्विभाषिकाला मान्यता दिली. तें आमच्या गळ्यांत बांधलं आणि मग पक्षशिस्तीला बांधून गेल्यामुळं त्याचा पुरस्कार करणं हें आता आमचं कर्तव्य आहे.”

अन् या पक्षशिस्तीसाठी त्यांनी महाराष्ट्राच्या टीकेचा गहजब आपल्या-वर ओढवून घेतला. टीका, शिवीगाळ, निर्भर्त्सना, प्रत्यक्ष हल्ले, हें सर्व सहन करावें लागलें. या लोकक्षोभांतून ते डोकें वर काढतील व पुनः लोकप्रियता व लोकादर संपादन करतील असें स्वप्नांतहि कोणाला वाटलें नसतें. पण संयमानें, धैर्यानें आणि निश्चयानें राज्यधुरा चालवून व आपली पक्षनिष्ठा शाबूत ठेवूनच त्यांनी श्रेष्ठीचें मन वळवलें, संयुक्त महाराष्ट्राला अनुकूल करून घेतलें आणि चळवळीला यश मिळवून दिलें ! त्यांची असामान्य अशी ही कामगिरी इतिहासांत नमूद करावी लागेल. शत्रूलाहि ती मान्य करावी लागेल. पण निव्वळ संयुक्त महाराष्ट्र हें ज्यांचेपुढे ध्येय नव्हतें व सत्ता संपादन करण्याचाच तो एक मार्ग वाटत होता त्यांना तें श्रेष्ठत्व आणि त्यांची कामगिरी मान्य करण्याची बुद्धि केव्हाच होणार नाही. याचबरोबर यशवंतरावजींनी पक्षनिष्ठेचा एक आदर्श सर्वांपुढे ठेवला आहे. पण दिलेली कांही आश्वासनें कांही वेळीं यशवंतरावांना पक्षनिष्ठेमुळे पाळतां आलीं नाहीत हें मला बरें वाटलें नाही. त्यामुळे अनेक व्यक्ति नाराज झाल्या. त्यांपैकी मी एक होतो. पक्षनिष्ठा कीं आश्वासन असा प्रश्न उभा राहिल्यास आश्वासनाला मी स्वतः अधिक महत्त्व देईन—अर्थात् माझें हें मत मी स्वतः कुठल्याहि पक्षांत नसल्याने पक्षपाती असूं शकेल.

यशवंतरावजींची शिवनिष्ठा

प्रतापगडवरच्या मोर्चाचा ठराव माझ्याच अध्यक्षतेखाली पास झाला होता. मी स्वतः त्या मोर्चांत फुट्टे होतो. मध्यवर्ती संयुक्त महाराष्ट्र समितींत हा ठराव पास होण्यापूर्वी कोल्हापूर जिल्हा समितींत मी तो ठराव पास करून घेतला होता. प्रतापगडावरील शिवाजीमहाराजांच्या अश्वारूढ पुतळ्याचें उद्घाटन पं. नेहरूंच्या हस्ते करण्यांत यशवंतरावजींचा राजकीय डाव होता, महाराष्ट्रांतील शिवभक्तांना चकवण्याचा व आपल्याकडे वळवून घेण्याचा तो डाव होता अशी माझीहि समजूत झाली असल्यामुळे मी त्याला विरोध केला व विरोधांत पुढाकार घेतला होता. यशवंतरावजींची शिवभक्ति ही तकळुबी आहे अशी माझी समजूत होती. तशीं मी अनेक माषणेंहि केलीं होती. या वेळीं सर्वांनी या समारंभांत पक्षीय दृष्टीने विचार करूं नये अशा प्रकारचें आवाहन त्यांनी केलें होतें. तेव्हा आपणहि त्यांचा शिवनिष्ठेचा कस घ्यावा म्हणून व ते स्वतः अशाच प्रसंगीं पक्षीय दृष्टि बाजूस ठेवतात काय तें पाहावें म्हणून मी यशवंतरावजींना एक पत्र लिहिलें.

मुंबई येथे दादर येथील शिवाजीपार्कवर शिवछत्रपतींचा अश्वारूढ पुतळा उभारण्याची कल्पना कित्येक वर्षांची. त्यासाठी शिवस्मारक समितीहि स्थापन झाली होती. पण इतकीं वर्षे उलटून गेलीं तरी पैसे जमले नव्हते. तीर्थस्वरूप केशवरावजी ठाकर्यांची तेवढी सारखी धडपड चाललेली असते. इतर कोणालाहि खरी भास्था दिसून येत नव्हती.

केशवरावजी ठाकरे यांचें एक पत्रक शिवजयंतीचे अगोदर लोकांना जाणें करण्याकरता म्हणून प्रसिद्ध झालेलें कोल्हापूरच्या दैनिक ‘पुढारी’त मी वाचलें. पैशाबद्दल जनतेला त्यांनी आवाहन केलें होतें. त्यांना साय घावी म्हणून मीहि एक पत्रक ‘पुढारी’त ४-४-५८ ला प्रसिद्ध केलें. महाराष्ट्रांतील सर्व शिवजयंत्युत्सव मंडळींना, सरदार-इनामदारांना, कोल्हापूरच्या छत्रपतींना व मुंबई कॉर्पोरेशनच्या सभासदांना मदतीसाठी आवाहन केलें.

मुंबई कॉर्पोरेशन त्या वेळीं सं. म. समितीच्या ताब्यांत होती. निवडून घेण्यापूर्वी तर समितीच्या उमेदवारांनी घसा फुटेपर्यंत शिवनामाची घोषणा केलेली. त्यांनी मनावर घेतल्यास फंड जमायला जराहि वेळ लागणार नाही, म्हणून त्यांना आवाहन केलें. माझ्या पत्रकाला अनुलक्षून फक्त समितीचे जनरल सेक्रेटरी एस्. एम्. जोशी यांनी पत्रक काढलें. पण याला सक्रिय पाठिंबा असा कोणीच दिला नाही. हा कार्यक्रम समितीने हातीं घेतला नाही. सरदार दरकदार व राजेसाहेब यांनी तिकडे लक्ष दिलें नाही. तेव्हा यशवंतरावजींना एक पत्र टाकून पाहावें म्हणून मी लिहिलें व या प्रश्नाकडे आपण अपक्ष भूमिकेंतून पहावें आणि साहाय्य करावें अशी विनंती केली. मी विरोधी पक्षांत आणि व्यक्तिविषयकहि टीका करणारा. म्हटलें, पाहूं तरी काय परिणाम होतो ! बहुधा उत्तर येणार नाही असें मी धरूनच चाललों होतो. मलाहि टीकेला आणखी साधन मिळणार होतें—

आश्चर्याची गोष्ट—मला वाटत होतें की यशवंतराव मौन स्वीकारतील. कांहीच उत्तर देणार नाहीत. पण उत्तर आलें आणि सहानुभूतीचें आलें. नव्हे—सक्रिय सहानुभूतीचें आलें. तें सारांशाने देत आहे. पत्राचें स्वरूप सार्वजनिक असल्यामुळें शिष्टाचारमंगाचा आरोप मजवर येईल असें वाटत नाही.

“प्रिय माधवरावजी—

आपलें पत्र पोचलें. आपण मोकळ्या मनाने पत्र लिहून आपल्याशीं पत्रव्यवहार करण्याची संधी दिली याबद्दल मी आपला अतिशय आभारी आहे... ध्येयवादाला मुरड न घालतां व मतभेद राखूनहि सोबल वातावरण निर्माण करण्याचें तत्त्व हेंच खरें लोकशाही तत्त्व आहे. आणि याचा विजय जर महाराष्ट्रांत झाला तर येथे ध्येयवादी विचारांची सुंदर बाग फुलेळ असा मला विश्वास वाटतो... मुंबईच्या (शिवाजी पार्कवरील) शिवस्मारकाबाबत श्री. ठाकरे यांच्याशीं मी पुष्कळ बोललों आहे. व्यक्तिशः या बाबतींत माझ्याकडून आपण व श्री. ठाकरे सुचवाल तें साहाय्य देण्याचें मी जरूर करीन.

आपला,

यशवंतराव चव्हाण.”

१४-४-५८

या पत्रानंतर केशवरावजी ठाकर्यांचे मला पत्र आले की, यशवंतरावजींनी पांचवें रुपये (व्यक्तिशः) देण्याचे आश्वासन दिले आहे.

प्रतापगडावरील शिवस्मारक उद्घाटन समारंभात पक्षीय दृष्टि बाजूस सारून भाग घ्यावा हे आवाहन आम्ही अमान्य केले; पण यशवंतरावजींनी दादर शिवस्मारकाबाबत स्वतःची पक्षीय दृष्टि बाजूस सारून सक्रिय पाठिंबा दिला.

अद्याप दादर शिवाजीपार्कच्या पुतळ्यासाठी समितीकडून प्रयत्न होत नाही. पण संयुक्त महाराष्ट्र झाल्यानंतर यशवंतरावजींचे एकनिष्ठ अनुयायी व सच्चे मित्र श्री. बाळासाहेब देसाई यांचे प्रयत्नाने यशवंतरावजींनी गेटवे ऑफ इंडिया या प्रमुख स्थानी भव्य अशा शिवछत्रपतींच्या अश्वारूढ पुतळ्याची गेल्या २६ जानेवारी १९६१ रोजी स्थापना करून खरी शिवभक्ति महाराष्ट्राच्या प्रत्ययास आणून दिली—भाकी सारे घोषणाच करीत आहेत आणि इतर कार्यासाठी हजारों रुपये फंड जमा करीत आहेत.

इतरांच्या मतांबद्दल व पक्षनिष्ठेबद्दल आदर

यशवंतरावजींची ओळख असली, आम्ही एकमेकाला व एकमेकांच्या कार्याला जाणत असलो तरी माझे व यशवंतरावजींचे तसे जवळचे संबंध आले नव्हते. मी विरुद्ध पक्षांत असलो आणि जाहीर टीका करीत असलो तरी त्यांच्या कर्तृत्वाबद्दल, राजकारणपटुत्वाबद्दल आणि अष्टपैलू ज्ञानाबद्दल मला अंतर्दयांनी आदरच होता. बहुजनसमाजांत असा कर्तृत्ववान पुरुष निघाल्याबद्दल अभिमानच वाटत होता. माझे साहित्यिक मित्रहि त्यांच्यावर खूब होते आणि विरोधी पक्षांतहि त्यांचे चाहते असल्याचे मला आढळले—पण १६-३-१९६० नंतर त्यांचे माझे संबंध अधिक जवळचे झाले. औद्योगिक प्रदर्शनाच्या उद्घाटनासाठी ते कोल्हापुरास आले होते—पण कोणत्याहि जाहीर कार्यक्रमाला जाण्यापूर्वी येण्याच्या जाहीर झालेल्या वेळाचे अगोदर ते मजकडे आले. माझे घरी जेवले. पाय टाकतांच माझ्या घरी लाबलेले प्रसिद्ध व्यक्तींचे पोर्ट्रेट्स ते पाहत होते. त्यावेळी मी म्हणालो, “यशवंतरावजी, तुमचा पोर्ट्रेट मी लाबला नाही. कारण तुमच्याबद्दल तो भाव माझ्या मनांत या वेळेपर्यंत नव्हता—तुमच्यापेक्षा मला बाळासाहेब देसाईच जवळचे वाटतात.” यावर ते रागावले तर नाहीतच; पण त्यांनी बाळासाहेबांना माधवराव असे म्हणत होते म्हणून खिलाडूपणाने सांगितले.

मी भेटीवेळी त्यांना नावडते असे पुष्कळ बोललो. कांही वागणुकीबद्दल नापसंती व्यक्त केली. त्या वेळी यशवंतरावजींनी अगदी मोकळ्या मनाने खुलासा केला. कांही आडपडदा राखला नाही. या खुलाशामुळे यशवंतराव मनमोकळे कोणाशी बोलत नाहीत, कोणाला विश्वासात घेऊन बोलत नाहीत, असा जो आरोप अनेक जण त्यांच्यावर करतात तो गैर-समजानेच करीत असावेत असे मला वाटू लागले! नाही तरी मुख्य मंत्र्यांचे जागेवर असलेल्या व्यक्तीला भेटणाऱ्या सर्वांशी आपले अंतःकरण कसे उघडें करता येईल? स्पष्टवक्तेपणाच्या नांवाखाली मनांत येईल ते विचार फटकळपणाने बोलणे व इतरांना दुखवणे यांतच कांहीना मोठेपणा वाटतो. यामुळे आपण अनेक शत्रू निर्माण करतो याची त्यांना जाणीव नसते. स्वतः माझ्यांत हा दुर्गुण आहे; व त्याने निष्कारण शत्रू निर्माण

केले आहेत. मुख्य मंत्र्यांचे जागेवर असणाऱ्याला संयम हा पाठलाच पाहिजे. यशवंतरावजी तो पाळतात आणि कोणाला दुखवीत नाहीत, हा गुण घेण्याजोगा आहे.

तास दीड तास ते माझ्या घरी होते; पण मी काँग्रेसमध्ये यावे असे त्यांनी कोणत्याहि प्रकारे सूचित केले नाही. कांही विरोधी पक्षांतले त्यांच्यावर जो आरोप करतात की, दुसऱ्या पक्षांतल्यांना फोडण्याचा ते प्रयत्न करतात तो साफ खोटा आहे, हे मी अनुभवाने सांगू शकतो—ते स्वतः कट्टर पक्षनिष्ठ असल्यामुळे इतरांच्या पक्षनिष्ठेबद्दल त्यांना आदरच वाटतो.

जातांना यशवंतरावजी म्हणाले, “माधवराव, तुम्हाला जेव्हा लिहावेसे वाटेल त्या वेळी लिहीत चला. कांहीहि लिहीत चला. त्याचा मला राग येणार नाही.” त्यावर मी म्हणालो, “मी लिहीन. पण माझे चुकेल तेथे तुम्हीहि लिहीत चला. म्हणजे माझा फायदा होईल.” त्यावर “तो माझा अधिकार नव्हे” असे म्हणून त्यांनी आपली सुटका करून घेतली. यांत सौजन्य तर आहेच, पण शहाणपणाहि तितकाच आहे. मी वाटेत तसे लिहू शकतो तसे मुख्य मंत्र्यांना कसे लिहितां येईल—बोलणे निराळें आणि लिहिणे निराळें.

प्रेमळ वागणुकीने माणसे कायमची जोडली जातात

अशी माणसे जोडण्याची कला छत्रपति शाहू महाराजांना साधली होती. प्रत्यक्ष देणग्यांहुन अशी वागणूकच माणसाला बांधून घेते. शाहू-महाराजांच्या अशा अनेक गोष्टी सांगून कृतशतेचे अश्रू वाहणारे लोक अनेक आहेत. घरच्या मंडळींची वास्तुपुस्त करणे, शेतकऱ्यांच्या बुट्टीतली शिळी माकर मागून खात बसणे, त्याला गाडीत बरोबर घेऊन हिंडणे या क्षुल्लक वाटणाऱ्या गोष्टींनी शाहू महाराजांनी माणसे जिंकली आहेत.

माझे परममित्र लक्ष्मणशास्त्री जोशी यांचे आग्रहावरून मी केवलानंद स्मारक मंदिराच्या उद्घाटन-समारंभासाठी वाईस गेलो होतो. डॉ. राजेंद्रबाबू आस्थानंतर गव्हर्नर श्रीप्रकाश व यशवंतरावजी यांच्यासह खास व्यासपीठावर जाऊन बसले. मी एक साधा नागरिक, काँग्रेसचा सभासदहि नाही. अर्थात् पदाधिकारी नव्हतो. एका लांबच्या कोपऱ्यांत जाऊन बसलो होतो. यशवंतरावजींचे लक्ष कसे गेले कुणाला ठाऊक, त्यांनी तेथल्या कलेक्टरना पाठवून मला बोलावून घेतले व माझी राजेंद्रबाबूंना मुद्दाम ओळख करून दिली! वस्तुतः या गोष्टीचे कांहीच प्रयोजन नव्हते. पण या साध्या गोष्टीने त्यांनी माझ्या मनावर पगडा बसवला हे नाकारता येणार नाही. त्यांच्या या अशा गोष्टी किती तरी सांगता येतील. मोठ्या माणसांनी नम्र होणे हाच त्यांचा खरा मोठेपणा. नाही तर मानवी स्वभाव पाहावा! अधिकारावर आलेला साधा शिपुरडा सुद्धा जवळच्या माणसाला ओळख देत नाही, इतका त्याला ताठा चढतो.

पूर्ण विचारांती मी या निर्णयास आलो आहे

माझ्या वयाला ६५ वर्षे होत आली. ४० वर्षे मी राजकीय आयुष्य काढले आहे. माझ्या आयुष्यांत अनेक स्थित्यंतरे झाली. मी कितीहि भावनाप्रधान असलो तरी प्रत्येक वेळेचे निर्णय मी पूर्ण विचारांती घेतले आहेत. प्रत्येक पाऊल टाकतांना महिनेन् महिने विचार करून निर्धाराने

टाकलें आहे. स्वकीयांचा तसा माझ्या जातीचा विरोध पत्करून मी प्रथम एकाकीच मार्ग काढला. पण त्यांत मला प्रत्येक वेळीं यशच मिळत गेलें. माझा व्यक्तिशः फायदा झाला असा त्याचा अर्थ नाही. समिति सोडून मी आज जो यशवंतरावांचा आणि काँग्रेसचा चाहता झालों आहे तो कोणाच्या सांगण्यावरून झालों नाही, त्यासाठी मंगळूर जेलमध्ये व जेलमधून सुटल्यानंतरहि कित्येक महिने विचार करून या निर्णयास आलों आहे की, महाराष्ट्राचें कल्याण यशवंतरावांच्या नेतृत्वाखालीच लवकर

होण्याची शक्यता आहे. हें म्हणत असतांना मी माझे स्वातंत्र्य राखलें आहे. अद्याप मी काँग्रेसचा सभासद झालेला नाही व होणारहि नाही. असें असूनहि मी म्हणतो, मिळालेलें हें नेतृत्व सांभाळण्याने व बळकट करण्यानेच बहुजनसमाजाचें, तसेंच सर्वसामान्य जनतेचें, कल्याण साधणार आहे. या मतास येतांना माझ्या सदसद्विवेक बुद्धीशीं मी प्रतारणा केली आहे अशी अंतर्कालींहि मला बोचणी लागणार नाही.



“कल्याणकारी राज्यांत जोपर्यंत शिक्षण, सहकार, शेती व आरोग्य या चार खात्यांच्या कामांना प्राधान्य आणि महत्त्व मिळत नाही तोपर्यंत तें खरें लोककल्याणकारी राज्य झालें, असें मानतां येणार नाही. या खात्यांतील लोक ज्या प्रमाणांत लोकांच्या जवळ जाऊं शकतील, त्यांच्याबद्दल लोकांच्या मनांत ज्या प्रमाणांत आपुलकी ह्याणि जिऱ्हाळा वाढेल त्याप्रमाणांत या देशांतील लोकशाही आणि राज्यकारभार यशस्वी होणार आहे.”

—श्री. चव्हाण

अस्पृश्य व नवदीक्षित बौद्ध



अॅड. शंकरराव खरात
संपादक, 'प्रबुद्ध-भारत', पुणे.

महाराष्ट्र राज्याचे मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांचे नेतेपण खालच्या थरांतील जनतेतून निर्माण झालेले आहे. म्हणूनच ते सर्वसामान्य जनतेची, विशेषतः खालच्या थरांतील जनतेची, दुःखे काय आहेत हे जाणू शकतात. ते जनतेच्या दुःखांशी समरस होतात आणि जनतेचे दुःख निवारण्याच्या दिशेने निश्चित पावले टाकतात. ना. यशवंतरावजी यांच्या कार्याला पुरोगामी व शास्त्रीय विचारांची बैठक असून, त्यांचे ठायी तळमळ, कळकळ आणि भावनेचा ओलावा याबरोबरच 'दूरदृष्टी' हि आहे. त्यांचा मूळ पिढीच लोकशाही-समाजवाद्याचा असल्याने ते जनतेच्या प्रभांशी समरस होतील. त्या प्रभांची उकल करण्यासाठी आपल्या पुरोगामी व शास्त्रीय विचारांच्या आधाराने पुढची पावले टाकतील. या गुणवत्तेमुळेच ना. यशवंतरावजी, निदान महाराष्ट्रांत तरी, समाजवादी समाजरचनेचे ध्येय साध्य करण्यास समर्थ आहेत असा विश्वास वाटतो.

अर्थात् ना. यशवंतरावजी यांच्या विचाराला व कार्याला त्यांच्या काँग्रेस पक्षाच्या मर्यादा राहणार आहेत, ही एक महत्त्वाची गोष्ट आहे. त्यामुळे त्या मर्यादेत राहून त्यांना पाऊल टाकणे भाग पडते. या दृष्टीनेच त्यांच्या जीवन-कार्याचे मूल्यमापन करणे योग्य होईल. आपल्या ध्येयवादी दृष्टिकोनातून पण पक्षीय बंधनाच्या चाकोरीतून कार्य करित असतानाच ना. यशवंतरावजी यांनी महाराष्ट्रांतील पददलित अस्पृश्यांच्या समस्या सोडविण्याच्या दृष्टीने योग्य दिशेने पावले टाकली आहेत. त्यांत त्यांचे धैर्य व दूरदृष्टि तर आहेच; परंतु त्याचबरोबर अस्पृश्यांचा प्रश्न मूलतः सोडविला पाहिजे, ही तळमळ व कळकळहि त्यांत आहे. यशवंतरावजी यांची पददलितांच्या समस्या सोडविण्याची मूळदृष्टि व त्यामागील प्रामाणिक तळमळ व शुद्ध हेतु पाहूनच भारतीय रिपब्लिकन पक्षनेत्यांनी व नव-दीक्षित बौद्ध जनतेने नागपूर येथे ता. १६ डिसेंबर १९६० रोजी दीक्षाभूमिमैदानावर त्यांचा प्रचंड स्वरूपांत हार्दिक सत्कार केला. रिपब्लिकन पक्षीय बौद्ध समाजाने त्यांच्यावर अक्षरशः पुष्पहारांची वृष्टीच केली. या सत्कारसमारंभाचे अध्यक्ष खा. दादासाहेब गायकवाड हे होते. मुख्य वक्ते अखिल भारतीय रिपब्लिकन पक्षाचे जनरल सेक्रेटरी खासदार वॅ. राजाभाऊ खोब्रागडे हे होते. इतर रिपब्लिकन पक्षनेते समारंभाला हजर होतेच हे उल्लेखनीय होय.



कायद्याप्रमाणे व्यवहार करतात

भारतीय समाजाला अस्युश्यतेची लागलेली क्रीड नष्ट करण्यासाठी कायदे करणे हे आवश्यक तर आहेच; परंतु कायदा व व्यवहार यांत संगति असणे अधिक महत्त्वाचे आहे. त्याशिवाय ज्या उदात्त हेतूने कायदा केला जातो, तो हेतू सफल होत नाही. याचा विचार करता, ना. यशवंतरावजी हे अस्युश्यांचा प्रश्न सोडविण्याच्या बाबतीत कायदा व व्यवहार यांची संगति घालण्याचा सतत प्रयत्न करतात, असे दिसते. मूळ प्रश्न काय आहे हे पाहून त्यावर आपल्या विचाराचे व प्रत्यक्ष कृतीचे मुळांतच घाव ते घालतात, हेच त्यांचे वैशिष्ट्य होय.

ना. यशवंतरावजी यांनी मुख्य मंत्री म्हणून प्रथमतः मुंबई राज्याची व नंतर महाराष्ट्र राज्याची सूत्रे हाती घेतल्यावर, अस्युश्य व नव-दीक्षित बौद्ध यांच्या समस्या सोडविण्याच्या दृष्टीने भारतातील इतर राज्यांना आदर्शभूत होईल असेच मूलगामी स्वरूपाचे बहुमोल कार्य केले आहे, ही गोष्ट कृतज्ञताबुद्धीने कोणाहि जाणकाराला मान्य करावी लागेल. 'अस्युश्यांचा प्रश्न सोडविला पाहिजे' असा तोंडी प्रचार करणे वेगळे व राज्यसत्ता हातांत असतांना त्या दिशेने कृतीचे प्रत्यक्ष पाऊल टाकणे हे वेगळे आहे. या दृष्टिकोनांतून विचार करता ना. यशवंतरावजी यांनी अस्युश्य वर्ग व नवदीक्षित बौद्ध समाज यांच्या समस्या सोडविण्याच्या दृष्टीने जे काही केले त्याचे महत्त्व फार मोठे आहे. पूर्वीच्या मुख्य मंत्र्यांना वा मंत्र्यांना करता आले नाही असे, अस्युश्य व नव-दीक्षित बौद्धांच्या समस्या सोडविण्याचे कार्य त्यांनी केले आहे.

गुलामी पद्धतीची महार वतनदारी नष्ट केली

ना. यशवंतरावजी मुंबई राज्याचे मुख्य मंत्री झाल्यावर गुलामी पद्धतीची महार वतनी पद्धति नष्ट करणारा "Bombay Inferior village watan's Abolition Act 1958" कायदा त्यांनी केला. या वतनी पद्धतीमुळे पूर्वाश्रमींच्या महार समाजाचा सर्व दृष्टीने अधःपात झालेला होता. त्यामुळे त्यांचे जीवनच सर्वस्वी गुलामाप्रमाणे बनलेले होते. महार वतनदारांच्या कामाची यादी निश्चित नव्हती. महार हा इरकामी, सांगकामी वतनी गावकामगार होता. त्याला कोणीहि काम सांगावे, कांहीहि काम सांगावे, अशीच दैनंदिन व्यवहारांत वस्तुस्थिति होती.

महार वतनदारांच्या घरच्या किती माणसांनी व कोणी काम करावे हे निश्चित नव्हते. त्याच्या घरांत असेल त्याने, मग तो गडी असो वा बाई असो, म्हातारा असो वा तरणा असो, मुलगी असो वा सून असो, सांगेल ते काम, अंगावर पडेल ते काम केलेच पाहिजे, असा महारांच्या वतनी कामाचा दंडक असे.

महार वतनदारांच्या कामाचे तास नियमित नव्हते. महाराने किती तास, किती वेळ काम करावे याला प्रत्यक्ष रोजच्या व्यवहारांत कांही नियमच नव्हता. सांगेल त्या वेळी, सांगेल त्या ठिकाणी महाराने कामासाठी इजर राहिले पाहिजे. मग जून असो वा पाऊस असो ! थंडी असो वा बारा असो ! विवस असो वा रात्र असो ! महार आजारी असो वा इतर दुःखांत असो, चोवीस धंटे गुलामाप्रमाणे महार गावकामगारांच्या गळ्याभोवती वतनी कामाचा फास होता.

महार गावकामगार हा दोन घरचा चाकर होता. महार हा एकीकडे सरकारचा व दुसरीकडे रयतेचा चाकर असे. एक महार व त्याचे अनेक धनी असाच हा वेगळा प्रकार होता. एक मालक व त्याचे अनेक मजूर असतात, पण त्याच्या उलट हा प्रकार होता. त्यामुळेच महाराला अनेक धन्यांच्या दारी सेवाचाकरी बजावावी लागत असे.

—आणि या सर्व कामासाठी वेतन तरी काय होते...? तर महारांना 'महारकी' नांवाची जमीन असे. टीचमर रानाची ही 'महारकी' पावसाच्या पाण्यावर अवलंबून असे. पावसाने जर का डोळे वटारले तर या जमिनीत कांहीच सापडत नसे. त्यांतच वतनी इकाने रयतेकडून मिळणारे बळते चालू काळांत मिळणे अवघड झाले होते.

असा हा वतनी गावकामगार महारांचा प्रश्न होता. या वतनी कामामुळेच महारांचे जीवन सर्वस्वी गुलामाप्रमाणे झाले होते. म्हणूनच डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर 'महार वतन म्हणजे विसाव्या शतकातील गुलामगिरी आहे' असे म्हणत होते. ही वतन गुलामगिरी नष्ट करण्यासाठी त्यांनी १९२२ साली व नंतर १९३७ साली कायदेमंडळांत 'बिल' आणले होते. परंतु राज्यकर्त्या पक्षांनी ते फेटाळून लावले. ही वतनी गुलामगिरी नष्ट करण्यासाठी डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांच्या नेतृत्वाखाली गेली तीस वर्षे सर्व दृष्टींनी सतत प्रयत्न झाले; पण सत्ताधीशांनी या महार-वतनी प्रश्नाचे मूलभूत महत्त्व कधी जाणून घेतले नाही. ही विसाव्या शतकातील महार-वतनी गुलामगिरी शेवटी मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांनी नष्ट केली.

ना. यशवंतरावजी यांचे जीवन खेड्यांत गेल्याने त्यांना 'महार-वतनी गुलामी पद्धतीच्या' कामाची पूर्ण कल्पना असणे स्वाभाविक आहे. 'महार-वतन' हे या समाजाच्या प्रगतीच्या मार्गातील मोठी धोंड आहे याची जाणीव ना. यशवंतरावजींच्या पुरोगामी मनाला असली पाहिजे. म्हणूनच मुंबई राज्याचे मुख्य मंत्री म्हणून हातांत सत्ता येतांच त्यांनी 'Bombay Inferior Village Watan's Abolition Act 1958' हा कायदा करून पूर्वाश्रमींच्या महार समाजाला वतनी गुलामगिरीच्या दावणीतून मुक्त केले; व त्याबरोबर 'वतनी जमिनी' पूर्ण-शेतपट्टीच्या तिप्पट किंमत घेऊन वहिवाटदार मालकी इकाने परत ताब्यांत दिल्या. ना. यशवंतरावजी यांनी महाराष्ट्रातील एका मोठ्या वर्गाला विसाव्या शतकातील गुलामगिरीतून मुक्त केले, हे ऐतिहासिक स्वरूपाचे चिरस्मरणीय असे मूलगामी कार्य होय. याबद्दल त्यांना कोणीहि धन्यवादच देईल. ना. यशवंतरावजी यांच्या पुरोगामी विचाराला, मध्ययुगीन-सरंजामदारी पद्धतीच्या पोटी जन्मास आलेली 'वतनी पद्धती'च पटणे शक्य नव्हते आणि जनतेच्या खालच्या थरांतून निर्माण झालेल्या या नेत्याच्या विशाल दृष्टीला 'महार वतनी पद्धती' मान्य होणे कदापि शक्य नव्हते. मुख्य मंत्री या नात्याने ना. यशवंतरावजी व त्यांच्या पूर्वीचे मुख्यमंत्री यांच्या विचारांतील व दृष्टीतील मूलभूत फरक येथे स्पष्टपणे जाणवतो. यांतच त्यांचा थोरपणा सामावलेला आहे.

महाराष्ट्रातील सामाजिक समस्या

महाराष्ट्रातील सामाजिक समस्यांची पूर्ण जाणीव ना. यशवंतरावजी यांना आहे आणि त्या दृष्टीने ते नेहमीच आपले विचार मांडतात; एवढेच

नव्हे, तर या समस्या गोडविण्याच्या दृष्टीने ते सतत प्रयत्नहि करीत असतात हेच त्यांचे वैशिष्ट्य आहे. महाराष्ट्रनिर्मितीचा संघिकाळ जवळ आलेला होता. त्या वेळी मुंबई राज्याचे मुख्य मंत्री असतांना ना. यशवंतरावजी यांनी ता. ६-१-१९६० रोजी सांगली येथे महाराष्ट्रांतील समस्यांवर मूलगाणी असे विचार मांडलेले आहेत. इतर समस्यांबरोबरच त्यांनी त्या वेळी सामाजिक समस्यांचाहि मूलग्राही विचार मांडला. “उद्याच्या महाराष्ट्रांतील राज्य ‘मराठा’ राज्य होणार नसून, ते ‘मराठी’ राज्यच होईल” या त्यांच्या विचारांत सर्वच महाराष्ट्रीयान्बद्दल त्यांच्या मनांत वसत असलेली समभावना दिसतेच; पण त्याचबरोबर महाराष्ट्रांत सामाजिक समता निर्माण करण्याचा उद्देशहि स्पष्ट दिसतो.

सांगलीच्या भाषणांत ना. यशवंतरावजी यांनी नव-दीक्षित बौद्धांचा प्रश्न प्रामुख्याने पुढे मांडलेला आहे. ते म्हणतात, “महाराष्ट्राच्या सामाजिक जीवनांत दुसरा तितकाच महत्त्वाचा प्रश्न ‘नव-बौद्धां’चा आहे. महाराष्ट्रांत डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरांनी एक नव-जागृति निर्माण केली आहे. आपण काँग्रेसजनांनी व सर्वांनीच विचार केला पाहिजे की, हजारो वंश आपल्या समाजाचा एक घटक अंधारांत होता. तो आता जागृत झाला आहे. त्याची जिद्द, जागृति, तडफ आपण ओळखली पाहिजे. त्यांचे मागणे हे दया, दान म्हणून त्यांना देतां कामा नये. ते दानाच्या स्वरूपांत त्यांना नको आहे. जिद्दीच्या जागृत मनाची हक्काची मागणी म्हणून त्यांचे माणुसकीचे अधिकार त्यांना आनंदाने दिले पाहिजेत. मोठ्या शहरापेक्षा खेड्याखेड्यामधून या समतेच्या भावनेची आज गरज आहे. मला नेहमी वाटते की, महार वतनांचा प्रश्न डॉ. आंबेडकरांच्या ह्यातीत आपण सोडवू शकलो असतो तर हा समाज आज दुरावलेला धाडळतो तसा दुरावला नसता.”

या त्यांच्या विचारांमधून नव-दीक्षित बौद्धांच्या प्रभावहल त्यांच्या मनांत वसत असलेली चिंता व तळमळ प्रकर्षाने जाणवते. त्याचप्रमाणे ना. यशवंतरावजी दिनांक १९-१२-१९५७ रोजी जिल्हा पोलिस अधिकाऱ्यांच्या बैठकींत बोलतांनाहि अस्पृश्यांचीं गाऱ्हाणीं निवारण्याच्या बाबतींत त्यांनी महत्त्वांचे मार्गदर्शन केले आहे. ते म्हणतात, “पददलित म्हटल्या जाणाऱ्या ‘हरिजनांना’ आपण सर्व तऱ्हेची मदत दिली पाहिजे. अशा घटनेची व्यवस्था स्थानिक अधिकाऱ्याकडे सोपवून भागणार नाही; कारण त्यांचे हात अनेक कामांत अगोदरच गुंतलेले असतात. हातांतल्या केसेसचा छडा लावण्यासाठी त्याला अनेकांना भेटावे लागते. कांही जण त्यांचे नेहमीचे देहळवे असतात. अशा लोकांच्या कोडाळ्यांत तो अधिकारी गवसला म्हणजे गावांतील जमातप्रमुखाकडून त्याच्यावर नाना तऱ्हेचे वजन आणूंक जाते. साहजिकच दलित्यांचीं दुःखें तशींच राहून जातात. ही गोष्ट मला पसंत पडणार नाही. अशा घटनांची वार्ता आली की, नुसता अहवाल मागवून थांबू नका. स्वतः जातीने तपास करून सत्य शोधून काढा. आपण लोकांत अशी जाणीव निर्माण केली पाहिजे की, चुकीच्या गोष्टी शासनाशिवाय सुटणार नाहीत. आपण लोकशाही जमान्यांत राहत आहोत. मतामतांचे अंतर कितीहि असो, पण समाजांतल्या कोठल्याहि वर्गाला कोणी दहशत दाखवितां कामा नये. ‘हरिजनां’ना असा विश्वास वाटला पाहिजे की, आपली छळणूक

होणार नाही. मी मुद्दाम या गोष्टीचा उल्लेख केला याचें कारण मला या गोष्टीची बोच तीव्रतेने वाटते. अशा प्रसंगी जरूरी वाटेल तेव्हा जिल्हाधिकाऱ्यांना सांगून सर्वपक्षीय शांतता कमिठ्यांची स्थापना करावी.”

ना. यशवंतरावजी यांच्या या विचारांवरून खेडोपाडीं अस्पृश्यांवर होणाऱ्या छळाची जाणीव त्यांना किती आहे हे उत्कटतेने व्यक्त होते.

महाराष्ट्रपुढील सामाजिक समस्यांत अस्पृश्य, नवदीक्षित बौद्ध यांच्या समस्या मुख्य आहेत हे यशवंतरावजींनी मान्य केले आहे. अस्पृश्यता कायद्याने नष्ट झाली असली तरी आता अस्पृश्यता अस्तित्वांतच नाही अशा अंतराळी विचारांत ते वावरत नाहीत. जो प्रश्न आज आहे तो प्रामाणिकपणे मान्य करून, तो सोडविण्यासाठी त्यावर इलाज करणे हीच ना. यशवंतरावजी यांची या प्रश्नाबाबत खरी भूमिका आहे.

नव-दीक्षित बौद्धांच्या मागण्याहि मान्य

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांनी ता. १४ ऑक्टोबर १९५६ रोजी बौद्ध धर्माची दीक्षा घेतली. त्या वेळेपासून विरोधतः महाराष्ट्रांतील शहरांतून व खेडोपाडीं बौद्ध धर्मस्वीकाराची प्रचंड लाटच आली. अस्पृश्यांनी बौद्ध धर्माचा स्वीकार केल्याने ‘अस्पृश्य’ म्हणून त्यांना मिळणाऱ्या सवलती सरकारने बंद केल्या. यावरुद्ध नव-दीक्षित बौद्धांनी व त्यांच्या नेत्यांनी आपल्या मागण्या समा-परिषदा भरवून, ठराव करून, शिष्ट-मंडळांमार्फत मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांच्यापुढे मांडल्या. मूळचे जे अस्पृश्यवर्गीय, त्यांनी केवळ बौद्ध धर्माचा स्वीकार केल्याने त्यांचा सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक मागासलेपणा नष्ट होऊ शकत नाही, ही सवलती मागण्यामागील मूलभूत भूमिका मुख्य मंत्री ना. यशवंतरावजी यांना पटली व त्यांनी या बाबतींत ‘सवलती’ देण्याचें महाराष्ट्र राज्यसरकारचें धोरण जाहीर केले; व लागलीच सवलती देण्याबाबतचे हुकूमहि संबंधित खात्यांना सुटले. नव-दीक्षित बौद्धांना सवलती देण्यांत त्यांना इतर समाजांच्या बरोबरीला आणणे हाच अंतिम हेतु आहे. ना यशवंतरावजी यांच्या आदर्श धोरणाचा खा. गायकवाड ऊर्फ भा. कृ. गायकवाड यांनी ता. १९-८-१९६० रोजी लोकसभेतील आपल्या भाषणांत कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख केला आहे. खा. दादासाहेब म्हणाले, “महाराष्ट्र राज्याचे मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांनी धैर्य दाखवून सर्व राज्यांच्या अगोदर नव-दीक्षित बौद्धांना सवलती देण्याचें जाहीर केले आहे.”

ना. यशवंतरावजी यांच्या नव-दीक्षित बौद्धांसंबंधीच्या जाणीवपूर्ण व आपुलकीच्या धोरणाबाबत, भारतीय रिपब्लिकन पक्षाच्या कार्यकारिणीने वेष्टूर (मद्रास) येथील १९६० जून ता. २७, २८, व २९ रोजी झालेल्या बैठकींत योग्य तो ठराव करून, त्यांचा कृतज्ञतापूर्वक गौरव केलेला आहे. तो ठराव असा आहे :

“ठराव १ (अ) : अखिल भारतीय रिपब्लिकन पक्ष सतत आमग्रहपूर्वक बौद्धांकरितां शैक्षणिक, आर्थिक व सरकारी नोकऱ्यांत इतर शेड्युल्ड कास्ट्स्प्रमाणें सवलतीची मागणी करित आहे.

“बौद्धांना बरील सवलती मिळतील असे महाराष्ट्र सरकारचे मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांनी आपल्या सरकारचें धोरण ठरविल्याबद्दल ही कार्यकारिणी समाधान व्यक्त करते.

वरील धोरणाचा स्वीकार केल्याबद्दल व बौद्धांना सवलती मिळण्याबाबतच्या न्याय्य व योग्य मागण्या मान्य करून इतर राज्यांना आदर्श घालून विल्याबद्दल महाराष्ट्र राज्य सरकारला व मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांना ही कार्यकारिणी धन्यवाद देत आहे.”

नवदीक्षित बौद्धांना ‘सवलती’ देऊन ना. यशवंतराव यांनी बौद्धांच्या आर्थिक व शैक्षणिक प्रगतीचा मार्ग खुला ठेवला, ही गोष्ट बौद्ध समाजाच्या दृष्टीने हितकारक झालेली आहे. या कार्याचे महत्त्व जाणूनच रिपब्लिकन पक्षाच्या कार्यकारिणीने त्यांना धन्या वाद देऊन कृतज्ञता व्यक्त केली, ही गोष्ट उचितच झाली. त्यांच्या या कार्याबद्दल त्यांना कोणीहि धन्यवादच देईल.

भूमिहीनांच्या पदरीं जमीन

रिपब्लिकन पक्षाच्या वतीने महाराष्ट्रांत खा. दादासाहेब गायकवाड यांच्या नेतृत्वाखाली भूमिहीनांचे प्रचंड स्वरूपांत आंदोलन झाले. या सत्याग्रहांत हजारो स्त्री-पुरुषांनी भाग घेतला. हजारोना अटक होऊन कारागृहासहि पत्करावा लागला.

भूमिहीनांचा सत्याग्रह भाकरीसाठी होता, पोटासाठी होता. भूमिहीन सत्याग्रहींची मागणी अशी होती की, ‘आम्हांला पोटाचे साधन म्हणून, कसण्यासाठी, शेतीसाठी सरकारी पडिक जमीन द्या.’ या आंदोलनांत मुख्यत्वे ऐशी टके नव-दीक्षित बौद्धजन भूमिहीन होते. त्याच बरोबर इतर असृश्य, मिल, कोळी, मराठे आदि जाती - जमातींचेहि भूमिहीन होते.

भूमिहीनांच्या आर्थिक समस्या मूलभूत आहेत. त्यांच्या रोजच्या पोटापाण्याचा प्रश्न आहे. तो सोडविला पाहिजे ही मूळ विचारसरणी ना. यशवंतराव यांनी आनंदाने मान्य केली. भूमिहीनांच्या वतीने रिपब्लिकन पक्षाचे शिष्टमंडळ जेव्हा मुख्य मंत्र्यांना भेटले तेव्हा त्यांनी, भूमिहीनांची मागणी न्याय्य आहे, या जाणीवेने ती मान्य केली. आज महाराष्ट्रांत सरकारी पडिक जमीन किती आहे? सर्व भूमिहीनांना तिचे वाटप करता येईल इतकी ती पुरेशी आहे का? हा प्रश्न वेगळा आहे. पण भूमिहीनांचा भाकरीचा प्रश्न सोडविला पाहिजे, ही मूलभूत समस्या मान्य केली आणि ती सोडविण्याच्या दिशेने ना. यशवंतराव यांनी लागलीच पुढचे पाऊल टाकले. आज प्रत्येक जिल्ह्यांत भूमिहीनांना जमीन वाटपाचे काम चालू आहे. त्यांतून भूमिहीनांच्या भाकरीचा प्रश्न कांही अंशी तरी सुटेल अशी आशा आहे. ना. यशवंतराव यांची ही पावले क्रांतिकारक आहेत. त्यांच्या कार्याबद्दल महाराष्ट्रातील लक्षावधि भूमिहीन त्यांना ढुवा देतील, हे निश्चित.

भारतीय रिपब्लिकन पक्षाच्या कार्यकारिणीने ता. २७, २८ व २९ जून १९६० रोजी वेल्डर (मद्रास) येथे भरलेल्या बैठकीत ठरावरूपाने ना. यशवंतराव यांचे या अभिनव निर्णयान्नाबतहि आमार मानले आहेतच. ठरावांत असे म्हटले आहे की,

“(ब) महाराष्ट्र राज्य सरकारजवळ असणाऱ्या शेतीलायक जमिनीचे भूमिहीनांना वाटप करण्याबाबत रिपब्लिकन पक्षाच्या मागण्या मान्य केल्याबद्दल ही कार्यकारिणी महाराष्ट्र राज्याचे मुख्य मंत्री ना. यशवंतराव चव्हाण यांचे आमार मानीत आहे.”

त्याचप्रमाणे महाराष्ट्र प्रदेश रिपब्लिकन पक्षाच्या कार्यकारिणीची बैठक ता. ११ व १२ जून १९६० रोजी जळगाव येथे झाली. या बैठकीत महाराष्ट्र राज्य सरकारचे म्हणजेच पर्यायाने ना. यशवंतराव यांचेच अभिनंदन केले आहे.

खालच्या थरांतील जनतेच्या मूलभूत प्रश्नांकडे ना. यशवंतराव नेहमीच आकर्षिते जातात; आणि त्या प्रश्नांचे महत्त्व त्यांच्या बुद्धीला पटतांच लागलीच ते त्यावर उपाय म्हणून पुढची पावले टाकतात, हा त्यांचा महत्त्वाचा गुण यांतून दिसतो.

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जयंति दिनाची सुट्टी मान्य केली
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर हे भारतीय असृश्य व बौद्धजनांचे दैवत आहेत आणि याच अंतरीच्या भावनेने ही दलित जनता त्यांना भजते व पुजते. आपल्या परमपूज्य नेत्याच्या जयंतिदिनाची सुट्टी सरकारने द्यावी, अशीच त्यांची मागणीहि होती. डॉ. बाबासाहेब यांच्याबद्दल ना. यशवंतराव यांना आदरभाव आहे. ना. यशवंतराव ता. १४-४-१९६० रोजी मुंबईतील डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर-जयंतीच्या एका समारंभाला हजर होते. त्या वेळी ते डॉ. आंबेडकर यांच्याबद्दल गौरवपूर्ण उद्गार काढून म्हणाले, “डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर हे खऱ्या अर्थाने थोर होते. त्यांनी भारताला घटना दिली. त्यांनी पददलित समाजाला माणसांत आणले. त्यांनी प्रत्येक गोष्ट विचारपूर्वक केली आहे. त्यांनी केलेला बौद्धधर्माचा स्वीकार हाहि पूर्ण विचारांती स्वीकारलेला मार्ग आहे. त्यांनी बौद्ध धर्माचा स्वीकार करून योग्य तेंच केले असे मला वाटते!” (प्रबुद्ध भारत ता. २३-४-६०)

ना. यशवंतराव यांचे डॉ. बाबासाहेब यांच्याबद्दल काय विचार आहेत, याची यावरून कल्पना येते. त्यांतच ना. यशवंतरावजींनी डॉ. आंबेडकर-जयंति-दिनाची (ता. १४ एप्रिल) सुट्टी देण्याचे मान्य करून, भारतीय असृश्य व बौद्धजनांच्या भावनेचा आदर केला आहे. एका परीने बाबासाहेबांच्या थोरपणाला व थोर-गुणाला सरकारनेच अभिवादन केले आहे. अर्थात याचे सर्व श्रेय ना. यशवंतरावजींना आहे, ही गोष्ट डॉ. आंबेडकर यांचे कोट्यवधि अनुयायी कधीच विसरणार नाहीत. १९५२ सालच्या पहिल्या सार्वत्रिक निवडणुकींत घटनेच्या शिल्पकाराचा परभाव काँग्रेस पक्षाने केला आणि आज त्याच राज्यांत त्याच पक्षाच्या मुख्य मंत्र्याने डॉ. बाबासाहेब यांच्या जयंतिदिनाची सुट्टी देण्याचे मान्य केले, हा केवढा अपूर्व योगायोग आहे! जनतेच्या भावना ना. यशवंतरावजी चांगल्या ओळखू शकतात म्हणून त्यांच्या हातून अशा स्वरूपाच्या अभिनव व अपूर्व घटना घडतात हेच त्यांतील खरे रहस्य होय.

पवित्र दीक्षाभूमीची मागणी

नागपूर येथे ज्या भूमीवर डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांनी बौद्ध धर्माची दीक्षा घेतली तिला पवित्र दीक्षाभूमि असे नव-दीक्षित बौद्ध मानतात. याच भूमीवर भारतांत पुन्हा बौद्धधर्माच्या पुनरुज्जीवनकार्याला सुरुवात झाली. त्या दृष्टीने या भूमीला ऐतिहासिक महत्त्व आहे. या दीक्षाभूमीवर डॉ. बाबासाहेब यांच्या नांवाला व कीर्तीला साजेलसे भव्य स्मारक उभारण्याचा भारतीय बौद्धजनांचा निर्धार आहे. आणि त्याच स्मारकासाठी ही ‘दीक्षाभूमि’ आम्हांला द्यावी, अशी बौद्धजनांची

मागणी आहे. ही भूमि महाराष्ट्र राज्याच्या मालकीची आहे. ही भूमि मिळावी म्हणून बौद्धजनांचे नेते अनेक वेळां महाराष्ट्र राज्यसरकार व ना. यशवंतरावजी यांना भेटले आहेत. ही दीक्षाभूमि भारतीय बौद्धांच्या भावनेचा प्रश्न आहे, त्यांचा हा मानबिंदु आहे, ही गोष्ट ना. यशवंतरावजी यांना पटलेली आहे. याबाबत लौकरच ही सर्व 'दीक्षाभूमि' देण्याबाबत यशस्वी तडजोड होईल, अशी आशा आता निर्माण झालेली आहे.

याप्रमाणे ना. यशवंतरावजी यांनी अस्पृश्य व नव-दीक्षित बौद्ध यांच्या समस्या सोडविण्याच्या दृष्टीने मोलाची कामगिरी केलेली आहे. अर्थात् त्याचा अर्थ असा होत नाही, की या वर्गाच्या सर्व समस्या मूलतः पूर्ण सुटलेल्या आहेत. ना. यशवंतरावजी यांच्या या कार्यामुळे एक सुपरिणाम मात्र निश्चित दिसतो. तो असा की, गेल्या तीस वर्षांतील डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांचा पक्ष—अनुयायी व महाराष्ट्रांतील काँग्रेस पक्ष यांच्यांतील कडवट विरोधाची धार कमी होत असून, दोन्ही पक्षांत व पक्षनेत्यांत एक प्रकारचे नवे सलोख्याचे वातावरण निर्माण होत आहे. भापापल्या पक्षाची मूलभूत तत्त्वप्रणाली शिरोधार्य मानून दोन्ही पक्ष-अनुयायांत एकमेकांबद्दल प्रेम, बंधुभाव, व सहानुभूति निर्माण झाल्यास लोकशाहीच्या विकासाला ते पोषकच ठरणारे आहे. या दिशेने दोन्हीहि पक्ष-अनुयायांत खेडोपाडीं सहजीवन व सहकार या तत्त्वाने जगणारे जीवन निर्माण होईल का ? ना. यशवंतरावजी यांच्या कारकीर्दीत ही आशा सफल होईल का ?

नवा माणूस निर्माण केला पाहिजे

'माझ्या कल्पनेतील खेडे' या विषयावर ना. यशवंतराव चव्हाण यांनी पुणे आकाशवाणीवरून आपले मनोगत सांगितले आहे. त्यांच्या मते ज्या खेड्यांतला समाज भापले सगळे प्रश्न एकमेकांच्या जिव्हाळ्याने आणि समजुतीने सोडविण्यासाठी एकत्र बसून त्याचा निर्णय करू शकतो, असे पंचायतीचे जीवन जगणारे खेडे तुमच्या-माझ्यापुढे असले पाहिजे.

—पण प्रश्न आहे तो हाच ! 'असे खेडे' निर्माण होण्यासाठी, खेड्याची जातवार पद्धतीवर आधारलेली समाजरचना नष्ट केली पाहिजे; व समता, बंधुता, स्वतंत्रता व न्याय अशा नवीन मूल्यांवर आधारलेले नवे ग्रामीण जीवन उभे केले पाहिजे. खेड्यांतील जातीय बंधनाच्या चक्रव्यूहांत सापडलेला माणूस मुक्त करून नवा माणूस निर्माण केला पाहिजे; नवी समाजरचना निर्माण केली पाहिजे; नवी खेडी निर्माण केली पाहिजेत. तरच ना. यशवंतरावजी म्हणतात त्याप्रमाणे 'माझ्या कल्पनेतील खेडे' निर्माण होणार ! आणि '...एकमेकांमध्ये सहृदयतेने मदत' करण्याच्या भावनेने पाहणारा बंधूबंधूंचा असा एक निराळा समाज...' खेड्यांत कधी निर्माण होणार ! हाच मोठा प्रश्न आमच्यापुढे आहे.

हा प्रश्न ना. यशवंतरावजी सोडवतील अशी आशा मनांत धरून, त्यांच्या या ४८ व्या वाढदिवसाच्या निमित्ताने त्यांना दीर्घायुष्य लाभो, अशी प्रार्थना करतो.



“नवमहाराष्ट्राचा भाग्योदय मला माझ्या नजरेसमोर दिसत आहे. थोडी लांबची वाटचाल आपणांस करावी लागेल. वाट अवघड आहे, कष्ट कमी नाहीत. पण यश निश्चित आहे.”

—श्री. चव्हाण
(सांगलीचे भाषण)

महाराष्ट्राच्या राजकारणातील रुमरुमा



डॉ. ना. र. देशपांडे

राज्यशास्त्र-विभागप्रमुख, नागपूर विद्यापीठ.

एक उत्तम प्रशासक आणि कर्तृत्ववान मुख्य मंत्री म्हणून श्री. यशवंतराव चव्हाण यांचा पंतप्रधान नेहरूंनी अनेक वेळां गौरव केला आहे. भारताच्या नेतृत्वपदाच्या संदर्भात नेहरूंनंतर कोण असा प्रश्न उपस्थित केला जातो. त्या दृष्टीने श्री. जयप्रकाश नारायण यांनी यशवंतराव चव्हाणांचा उल्लेख केला होता. अशा तऱ्हेचीं अखिल भारतीय पातळीवरील पुढाऱ्यांचीं प्रशस्तिपत्रकें यशवंतरावांनीं गेल्या कांही वर्षात मिळविलीं आहेत. परंतु महाराष्ट्र राज्याची निर्मिति, विशेषतः ती ज्या पद्धतीने झाली ती, यशवंतरावांच्या नेतृत्वाचें खरें प्रशस्तिपत्र समजावयाला हवें. कारण, प्रशासक आणि राजकीय नेता या दोन्ही नात्यांनी आवश्यक असलेले गुण ज्या ठिकाणी एकवटून व्यक्त झालेले पहावयास सापडतात अशी यशवंतरावांची कामगिरी म्हणजे विशाल द्विभाषिकाचा कारभार कार्यक्षमतेने चालवून, महाराष्ट्रराज्याची निर्मिति त्यांनी सुकर आणि निश्चित केली, ही होय.

महाराष्ट्र राज्य कसें झालें ?

महाराष्ट्र राज्य निर्माण होणार हें निश्चित झाल्यापासून त्याचें श्रेय कोणाचें व किती याबद्दल एक प्रकारची अहमहमिका सुरू झाली. सर्व श्रेय काँग्रेसला किंवा यशवंतरावांच्या नेतृत्वाला देणें वस्तुस्थितीला धरून होणार नाही. संयुक्त महाराष्ट्र समितीला आणि तिने केलेल्या चळवळीला श्रेयाचा मोठा भाग दिला पाहिजे. आणि खुद्द यशवंतरावांनी समितीच्या कार्याचें महत्त्व मोकळेपणाने मान्य केलें आहे. मराठी जनतेने इतर मतभेद बाजूस सारून या प्रश्नावर जी एकजूट दाखविली तिला मुख्य श्रेय दिलें पाहिजे. परंतु संयुक्त महाराष्ट्राची निर्मिति ज्या वातावरणांत आणि ज्या पद्धतीने झाली त्याचें पुष्कळसें श्रेय यशवंतरावांना दिलें पाहिजे. आणि भारतीय लोकशाहीच्या उपासकांचे दृष्टीने तरी संयुक्त महाराष्ट्राच्या निर्मितीएवढेंच महत्त्व ही निर्मिति ज्या पद्धतीने झाली त्या पद्धतीला आहे.

महाराष्ट्र राज्याची निर्मिति ज्या पद्धतीने झाली तिचा विचार करित असतांना जी एक गोष्ट प्रामुख्याने दिसून येते ती अशी की, लोकशाहीपद्धतीला अनुसरून आणि भारतीय संदर्भाचीं सुसंगत अशा रीतीने आणि वाटाघाटींनीं हें राज्य निर्माण झालें आहे. त्यामुळे अनुकूल वातावरण या राज्याला जन्मापासून लाभलें आहे. याला यशवंतरावांचें नेतृत्व बऱ्हेशीं कारणीभूत आहे यांत शंका नाही. विशाल द्विभाषिकाचे मुख्य मंत्री या नात्याने यशवंतरावांनी जें काम केलें त्यायोगें दोन मुख्य गोष्टी साधल्या.

भारतीय नेतृत्वाचा विश्वास संपादन करून मुंबई शहर एकभाषी मराठी राज्याचा भाग बनविण्यास ज्या शंका, संदेह, अविश्वास यांमुळे विरोध होत होता त्यांचे निराकरण केले. त्यामुळे यशवंतरावांच्या शब्दांला दिल्लीमध्ये महत्त्व प्राप्त झाले. मुंबईसह महाराष्ट्राच्या निर्मितीला विरोध करणाऱ्या नेत्यांचा प्रभाव त्या मानाने कमी झाला. आत्मविश्वासाचे सामर्थ्य यशवंतरावांच्या भूमिकेमागे उभे राहिले. परंतु आपल्या प्रशासकीय कर्तृत्वाने केवळ भारतास नेतृत्वाचाच विश्वास यशवंतरावांनी संपादन केला नाही, तर खुद्द मुंबई राज्यामध्ये सहकाऱ्यांचा विश्वास संपादन करून या राज्याच्या भिन्न भिन्न प्रादेशिक घटकांचाहि पाठिंबा मिळविला. गुजराथ आणि महाराष्ट्र यांच्या निर्मितीपूर्वीच्या वाटाघाटी ज्या बंधुभावाच्या वातावरणात आणि गुण्यागोविंदाने झाल्या त्याला यशवंतरावांनी गुजराथी सहकारी व गुजराथी समाज यांचा संपादन केलेला विश्वास बव्हंशी कारणीभूत होता हे स्पष्ट आहे. त्याचप्रमाणे मराठवाड्याने निःसंकोचपणे महाराष्ट्र राज्याला दिलेला पाठिंबा आणि विदर्भातील सहकाऱ्यांनी वाटाघाटीनंतर आणि कांही थोड्या खळखळीनंतर महाराष्ट्र राज्यांत सामील होण्यास दर्शविलेली तयारी ह्यालाहि यशवंतरावांनी या दोन्ही प्रदेशांत संपादन केलेला विश्वास कारणीभूत होता यांत शंका नाही. एवढेच नव्हे, तर संयुक्त महाराष्ट्र समितीची भूमिका कट्टर विरोधाची असतांना-सुद्धा हा विरोध राजकीय मतभेदांच्या पातळीवर राहावा, त्यांतून कटुतेची भावना निर्माण होऊं नये या दृष्टीने यशवंतरावांनी विरोधकांबरोबर वागण्याचे जे धोरण स्वीकारले होते त्यामुळे महाराष्ट्रामध्ये संयुक्त महाराष्ट्राच्या प्रभावर तीव्र लोकमत प्रभावी रीत्या संघटित झाले असूनहि वातावरणांत फार कटुता निर्माण झाली नाही; आणि महाराष्ट्रनिर्मितीचा प्रश्न वाटाघाटींनी सुटू शकला. अर्थात् यशवंतरावांप्रमाणेच संयुक्त महाराष्ट्र समितीचे नेतृत्व करणाऱ्या एस्. एम्. जोशी प्रभृतीनाहि या संबंधांत मोठे श्रेय दिले पाहिजे.

भारतीय नेत्यांचे मन बळविण्याएवढा विश्वास यशवंतराव संपादन करू शकले नसते तर ज्या मार्गाने महाराष्ट्र निर्मितीची बोलणी सुरू झाली तो मार्ग खुंटला असता. राज्य पुनर्रचनेच्या वेळी मुंबई महाराष्ट्राला मिळू न देण्याला ज्या भारतीय नेत्यांचे प्रयत्न कारणीभूत झाले त्यांना निष्प्रभ करण्याएवढी पुण्याई यशवंतरावांनी मिळविली होती. परंतु भारतीय नेत्यांचे मन बळवूनहि मुंबई राज्यातील सहकाऱ्यांचा विश्वास व सहकार्य यशवंतराव मिळवू शकले नसते तरीहि महाराष्ट्र निर्मितीचा प्रश्न सुकर झाला नसता. सद्भावनेच्या वातावरणांत वाटाघाटींनी हा प्रश्न सुटला हे या घटनेचे मुख्य वैशिष्ट्य आहे.

प्रशासकत्व व राजकीय नेतृत्व

उत्तम प्रशासकाचे ठिकाणी आवश्यक असलेले गुण यशवंतरावांचे ठायी आहेत याची जाणीव त्यांचा मुंबई राज्याचे मंत्रिमंडळांत संसदीय सचिव म्हणून समावेश ध्याऱ्यापासूनच प्रशासनाशी संबंध येणाऱ्या लोकांना झाली. विशेषतः ते नागरी पुरवठा खात्याचे व स्थानिक स्वराज्यखात्याचे मंत्री असतांना राज्यकारभाराचा उरक सांभाळून, कार्यक्षमतेला बाधा येऊं न देतां तो लोकाभिमुख वसा करतां येईल, या दृष्टीने त्यांचा प्रयत्न असे. मुख्य मंत्री झाल्यानंतर त्यांच्या प्रशासकीय गुणांच्या अभिव्यक्तीला

व्यापक वाव मिळाला. कठीण जबाबदारी पत्करल्यामुळे त्यांच्या गुणांचा प्रकर्षत्वाने विकासहि झाला. लोकांची गा-शाणी मोकळेपणाने ऐकून घेऊन त्यांनी लोकांमध्ये विश्वास निर्माण केला. तसेच, लोकांचे समाधान हीच लोकशाहीतील प्रशासनाची कसोटी आहे, यावर भर देऊन त्यांनी शासनातील अधिकारी वर्गाला नव्या मनुची जाणीव दिली. मुद्याला धरून आणि थोडक्यांत भाषणे करण्याची त्यांची प्रथा आपल्या देशामध्ये राजकारणी पुढाऱ्यांनी रूढ केलेल्या परंपरेला अपवाद वाटते. प्रशासनातील उणीवांची जाणीव असल्याचे ते जाहीररीत्या कबूल करतात. आणि मुख्य म्हणजे कोणताहि लहानसहान प्रश्न प्रतिष्ठेचा करण्याबद्दल त्यांचा आग्रह नसतो; त्यामुळे सामाजिक व्यवहाराला आवश्यक असलेली तडजोड होण्यास मदत होते. मुंबईमध्ये हुतात्म्यांचे स्मारक उभारण्यास संयुक्त महाराष्ट्र समितीच्या मागणीला यशवंतरावांनी जे उत्तर दिले आणि ज्या रीतीने दिले ते या वृत्तीचे निदर्शक आहे.

परंतु प्रशासकीय गुणांपेक्षाहि राजकीय नेतृत्वाचे गुण यशवंतरावांच्या महाराष्ट्रनिर्मितीच्या कार्यामध्ये विशेष दिसून आले. त्यांचे नेतृत्व प्रभावी होण्याला तीन गुण प्रामुख्याने कारणीभूत झाले आहेत. राजकीय घटनांचाच त्यांचा दृष्टिकोन वास्तववादी असतो आणि धोरणाबद्दल त्यांची भूमिका व्यावहारिक असते. ठोकळेबाज तत्त्वज्ञान किंवा भोगळ आदर्शवाद यांचा पगडा यशवंतरावांवर कधीहि बसला नाही. पण त्यांची भूमिका व्यावहारिक असली तरी संधिसाधूपणाची नसते. याचे कारण राजकीय प्रश्नांबद्दल अभ्यासू दृष्टि स्वीकारून विचाराच्या बैठकीवर त्यांची भूमिका बनत असते. संयुक्त महाराष्ट्राच्या मागणीबद्दल त्यांची वैचारिक भूमिका घट्ट होती. मुंबई विधानसभेमध्ये महाराष्ट्र काँग्रेसची या प्रश्नाबद्दलची भूमिका विशद करणारे जे भाषण यशवंतरावांनी केले होते त्यामध्ये ही घट्ट वैचारिक भूमिका स्पष्टपणे व्यक्त झाली आहे. परंतु व्यावहारिक दृष्टिकोनांतून ज्यावेळी संयुक्त महाराष्ट्राच्या मागणीला पर्याय स्वीकारावा लागेल असे दिसू लागले, त्यावेळी यशवंतरावांनी त्यांतल्या त्यांत जवळचा असा विशाल द्विभाषिकाचा पर्याय स्वीकारण्यास अनमान केला नाही. केवळ तत्वाचा अट्टाहास म्हणून व्यवहार्यतेकडे त्यांनी डोळेझाक केली नाही. मुंबई राज्याचा कारभार प्रशासनाचे दृष्टीने चांगला चालला होता तरीहि लोकशाही पद्धतीमध्ये अभिप्रेत असलेले भावनात्मक ऐक्य द्विभाषिकांत साधेलसे दिसत नाही, अशी खात्री झाल्याबरोबर यशवंतरावांनी द्विभाषिकाचा फेरविचार सुरू करण्यास चालना दिली. नेहळूच्या प्रतापगडभेटीचे वेळचा सं. म. समितीचा मोर्चा हा यशवंतरावांच्या विचारास चालना देणारा ठरला असावा. वास्तववादी दृष्टिकोनामुळे त्यांनी महाराष्ट्रीय मनावर संयुक्त महाराष्ट्राच्या प्रश्नाची पकड किती पक्की बसली आहे ते जाणले. व्यावहारिक भूमिकेमुळे राज्यपुनर्रचनेचा प्रश्न त्यांनी प्रतिष्ठेचा केला नाही. उलट लोकशाही मार्गावरिल निष्ठेमुळे लोकांचे समाधान करण्याचा लोकशाहीवादी मार्ग पत्करण्याची तत्परता त्यांनी दाखविली.

अशा रीतीने महाराष्ट्र राज्याची निर्मिती अनुकूल वातावरणामध्ये होण्यास यशवंतरावांचे नेतृत्व बऱ्याच अंशी कारणीभूत झाले आहे. आता महाराष्ट्र राज्य स्थिर झाले आहे. प्रश्न आहे तो या राज्याच्या विकासाचा. कारण महाराष्ट्र राज्यनिर्मिती हे कांही अंतिम साध्य नाही. मराठी

जनतेच्या सर्वांगीण विकासांत आणि भारतीय जीवनाच्या विकासामध्ये मराठी जनतेला यथाश्चित् हातभार लावणे शक्य करण्याचें एक प्रमुख साधन म्हणूनच संयुक्त महाराष्ट्राची मागणी होती.

महाराष्ट्र राज्याची निर्मिती हें महाराष्ट्र समाजाला, विशेषतः महाराष्ट्रीय नेतृत्वाला आव्हान आहे. भारतीय राजकारणामध्ये महाराष्ट्राला योग्य स्थान नाही ही तक्रार राहणार नाही अशी परिस्थिति निर्माण करण्याचें एक साधन म्हणून नव्या राज्याची वाटचाल कशी होते, यावरूनच नेतृत्वाचा कस लागणार आहे.

भारतीय राजकारण व महाराष्ट्र

भारतीय राजकारणामध्ये महाराष्ट्र मागे आहे असा प्रश्न मराठी मनामध्ये खोलवर रुजला आहे. या परिस्थितीचें विवरण करतांना ज्या गोष्टी उदाहरणादाखल सांगितल्या जातात त्या म्हणजे केंद्रीय मंत्रिमंडळामध्ये किंवा वरिष्ठ सरकारी अधिकाऱ्यांमध्ये मराठी लोकांचा प्रभाव नाही, सत्कारुढ पक्षाच्या नेतृत्वामध्ये मराठी लोकांचा अभाव आहे, वगैरे. भारताचें संघराज्य आहे म्हणून या संघराज्याच्या राजकारणामध्ये निरनिराळ्या घटकराज्यांना प्रमाणशीर प्रतिनिधित्व मिळालें पाहिजे ही कल्पना अव्यवहार्य आहे आणि अनिष्टहि आहे. परंतु संघराज्याच्या कारभारामध्ये आपल्या प्रदेशांतील लोकांचा प्रभाव किती आहे यावरूनच प्रदेशांचें भारताच्या राजकारणांतील स्थान तेथील लोक ठरविणार हें स्वाभाविकहि आहे. गुणप्रकर्षानेच प्रत्येक प्रदेशाने आपला प्रभाव भारतीय राजकारणावर पाडण्यासाठी चढाओढीने झटलें पाहिजे आणि हा सर्व प्रयत्न भारतीय समाजजीवनाला पोषक असला पाहिजे. महाराष्ट्र राज्यनिर्मितीमुळे या चढाओढीत महाराष्ट्राला खुल्या दिलाने भाग घेतां येईल आणि ज्या प्रमाणांत महाराष्ट्रीय प्रतिनिधी गुणप्रकर्षाने पुढे येतील त्या प्रमाणांत महाराष्ट्राचा भारतीय राजकारणावरील प्रभाव वाढत्याशिवाय राहणार नाही. अशा तऱ्हेने महाराष्ट्रीय जनतेला गुणप्रकर्षाने पुढे येण्यास जास्तीत जास्त वाव देणें व त्यासाठी शक्य त्या सोई, सवलती उपलब्ध करून देणें ही महाराष्ट्राच्या नेतृत्वाकडून अपेक्षा आहे.

भारतीय प्रशासनामध्ये वरच्या स्तरावर महाराष्ट्रीय लोक थोडे आहेत. चढाओढीच्या परीक्षांमध्ये आपले विद्यार्थी फारच कमी प्रमाणांत उत्तीर्ण होतात. त्यामुळे प्रशासनांतील वरच्या स्तरावर असलेल्या महाराष्ट्रीय अधिकाऱ्यांची संख्या थोडी आहे. याबाबत खरी अडचण विद्यार्थ्यांला चांगलें आणि पुरेसें मार्गदर्शन मिळू शकत नाही ही आहे. महाराष्ट्रांतील विद्यापीठांनी याबाबत मार्गदर्शन पुरविण्याची चांगली कार्यक्रम योजना आखली पाहिजे आणि महाराष्ट्रशासनाने या योजनेला पुरेसें साहाय्य देऊं केलें पाहिजे. प्रशासकीय क्षेत्रांप्रमाणेच संरक्षण दलामध्ये प्रवेश मिळण्याबाबत महाराष्ट्रीय तरुणांना प्रोत्साहन मिळालें पाहिजे. अर्थात् आपली परंपरा याला पोषक आहे. महाराष्ट्रशासनाने या दृष्टीने धोरण आखून प्राथमिक लष्करी विद्यालये स्थापण्याचा आणि एन्. सी. सी. ची वाढ करण्याचा निर्णय कार्यान्वित केला हें योग्यच आहे.

प्रशासकीय आणि लष्करी अधिकारीवर्गांमध्ये महाराष्ट्रीयंबद्दल असलेले गैरसमज दूर व्हावे हें तितकेंच आवश्यक आहे, एरवी मराठी लोकांबद्दलचा संशय व भीति वाढण्याचीच शक्यता. इतरांबरोबर

सहकार्याने काम करण्याबद्दल मराठी लोकांची ख्याति नाही. ही परिस्थिति बदलणे आवश्यक आहे आणि त्यासाठी मराठी समाजाने प्रयत्न केले पाहिजेत. बहुमाषिक वस्ती असलेल्या मोठमोठ्या शहरांमधून मराठी लोकांनी प्रयत्नपूर्वक इतरमाषिक समाजांशी सहकार्य वाढविलें पाहिजे आणि त्या त्या ठिकाणच्या सामाजिक जीवनामध्ये सहभागी झालें पाहिजे. विशेषतः भारताची राजधानी असलेल्या दिल्ली शहरामध्ये महाराष्ट्रीय समाज मोठ्या संख्येने आहे. दिल्लीच्या सामाजिक, शैक्षणिक आणि सांस्कृतिक जीवनामध्ये तेथील मराठी लोकांनी सहभागी झालें पाहिजे. महाराष्ट्रीय जीवनाच्या चांगल्या परंपरा व्यक्त होतील अशा रीतीने मराठी समाजाचें कार्य राजधानीत होत राहिले तर परंप्रांतीयांत महाराष्ट्राबद्दल गैरसमज निर्माण होणार नाहीत. दिल्लीमध्ये महाराष्ट्र सरकारने एक माहितीकेंद्र उघडण्याचें ठरविलें आहे. तेथील मराठी जनतेसाठी म्हणून त्याचें कार्य होणार असल्याचें जाहीर झालें आहे. परंतु या केंद्राचें क्षेत्र व्यापक करून तें महाराष्ट्राचें सांस्कृतिक केंद्र झालें आणि त्याद्वारे परंप्रांतीयांना महाराष्ट्र संस्कृतीचा परिचय आणि मराठी समाजाला इतर प्रादेशिक समाजांबरोबर सांस्कृतिक दळणवळण यांचें साधन म्हणून जर उपयोग करतां आला तर तें जास्त श्रेयस्कर ठरेल, असें वाटतें.

जनतेचा जागृत पाठिंबा हवा

परंप्रांतीयांमध्ये महाराष्ट्राबद्दल किती गैरसमज आहेत याची कल्पना राज्यपुनर्रचनेच्या वाटाघाटी आणि चळवळी चालू असतांना आली. हे गैरसमज दूर करणें हें महत्त्वाचें कार्य आतां महाराष्ट्र राज्याने केलें पाहिजे. मराठी साहित्य, संस्कृति व इतिहास यांच्या संशोधन-प्रसारासाठी महाराष्ट्र सरकारने एक मंडळ नेमलें आहे. मराठीमधून प्रसिद्ध होणाऱ्या साहित्याला प्रोत्साहन देणें हें या मंडळाचें काम राहिल. पण मराठींतील विचारधन, संस्कृति-परंपरा यांचा परंप्रांतीयांना परिचय करून देण्यासाठी इंग्रजीमधून आणि हिंदीमधून साहित्य प्रकाशनालाहि महाराष्ट्र सरकारने प्रोत्साहन दिलें पाहिजे. महाराष्ट्र राज्य स्थापन झाल्यापासून महाराष्ट्रामध्ये ठिकठिकाणी शिवछत्रपतींची स्मारके उभारलीं जात आहेत. खरें पाहूं जातां शिवाजी महाराजांच्या कार्याविषयी खरी आणि योग्य माहिती इतर प्रांतांतील लोकांना देण्याची जास्त जवरी आहे. शिवाजी महाराजांचें स्मारक भारताच्या राजधानीमध्ये उभारलें जावें हें आज औचित्यपूर्ण होईल. आणि त्या निमित्ताने त्यांच्या कार्याची सर्व प्रदेशांतील प्रतिनिधींना ओळख होऊं शकेल. या कार्याला चालना मिळावी अशी महाराष्ट्राच्या नेतृत्वाकडून अपेक्षा करणें वावगें होणार नाही.

भारतीय प्रशासनामध्ये महाराष्ट्रीय लोकांना वाढता वाव मिळावा आणि परंप्रांतीयांचे आपणाबद्दलचे गैरसमज दूर होऊन आपणास त्यांचेशी सहकार्य करून विधायक कामगिरी करतां यावी, अशी मराठी जनतेची स्वाभाविक अपेक्षा आहे. महाराष्ट्रराज्यनिर्मितीनंतर ही अपेक्षा पूर्ण होण्यास अडचणहि नाही. आणि नव्या महाराष्ट्रराज्याने त्या दिशेने वाटचाल सुरुहि केली आहे. परंतु भारतीय जीवनाला निश्चित गति देण्याचे कार्यांत प्रभावीपणें भाग घेण्यासाठी महाराष्ट्राचें प्रतिनिधित्व प्रभावी पाहिजे, त्यामागे महाराष्ट्रसमाजाचा जागृत पाठिंबा हवा. या गोष्टी साधणें हें सर्वस्वी महाराष्ट्रीय समाजामध्ये एकोपा आणि उत्साह निर्माण

होण्यावर अवलंबून आहे. आणि यामध्ये महाराष्ट्राच्या नेतृत्वाची येत्या काही वर्षांत खरी कसोटी लागणार आहे.

महाराष्ट्र समाजामध्ये एकोपा निर्माण करण्यासाठी सामाजिक आणि आर्थिक समस्या सोडविल्या पाहिजेत. सामाजिक क्षेत्रांत ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर-वाद आणि अस्पृश्यतांचा प्रश्न यांमुळे प्रमुख समस्या निर्माण झाली आहे. आर्थिक क्षेत्रामध्ये उद्योगधंद्यांची वाढ, सहकारी पद्धतीचा प्रसार, भूमि-हीनांना शेती आणि सुशिक्षितांतील बेकारी हे मुख्य प्रश्न आहेत. राजकीय क्षेत्रामध्ये महाराष्ट्राच्या तिन्ही विभागांचे—विदर्भ, मराठवाडा आणि पश्चिम महाराष्ट्र यांचे—एकात्म्य साधणे ही मुख्य समस्या आहे. या सर्व समस्यांच्या मुळाशी लोकशाहीबद्दल निष्ठा वाढवून लोकशाही व्यवहाराला चालना द्यावयाची ही मूलभूत भूमिका आहे.

नवे नेतृत्व आवश्यक

नवमहाराष्ट्रापुढील या समस्यांची यशवंतरावांना पूर्ण जाणीव आहे असे गेल्या वर्षीत अनेक ठिकाणी त्यांनी केलेल्या भाषणांवरून स्पष्ट झाले आहे. आणि ही जाणीव ठेवूनच महाराष्ट्र राज्याचे धोरण ते आखित असल्यामुळे या धोरणामध्ये जशी वास्तवता आहे तशीच प्रगतीची लक्षणेही आहेत. त्यामुळेच यशवंतरावांच्या नेतृत्वाबद्दल महाराष्ट्रातील सर्व थरांतील लोकांना विश्वास वाटतो. विरोधी पक्षाचे पुढारी आणि विरोधी चळवळीचे नेतेही त्यांच्या नेतृत्वाची मुक्तकंठाने प्रशंसा करतात ती यामुळेच.

खरी समस्या आहे ती या समस्यांची सोडवणूक करण्याची. यशवंतरावांचे नेतृत्व हे महाराष्ट्रामध्ये सर्वमान्य झाले तरच या समस्यांची जाणीवपूर्वक सोडवणूक करू शकणारी लोकशक्ति उभी राहिल. आज महाराष्ट्रातील बऱ्याच लोकांना भीति वाटते ती यशवंतरावांचे नेतृत्व एकाकी असून ते दिव्हील जाऊन महाराष्ट्र त्यांच्या नेतृत्वाला मुकण्याची. वस्तुस्थिति अशी आहे की, विदर्भ-मराठवाड्यांतील लोक यशवंतरावांच्या नेतृत्वाची प्रशंसा करतात; परंतु मुंबई राज्याच्या प्रशासनाचा टिटकारा करतात. प्रशासनातील अधिकारी यशवंतरावांच्या व्यवहारी भूमिकेचे आणि प्रशासनकुशलतेचे कौतुक करतात; परंतु काँग्रेस पक्षाच्या राज्यकारभाराबद्दल फारसे चांगले बोलत नाहीत. विरोधी पक्ष यशवंतरावांच्या सौजन्यशील नेतृत्वाबद्दल व वास्तववादी दृष्टिकोनाबद्दल प्रशंसा करतो; परंतु महाराष्ट्रातील काँग्रेसचे राजकारण सहकार्य करण्याइतकेहि समंजसपणाचे नाही, असे समजतो. यावरून यशवंतरावांच्या नेतृत्वामध्ये त्यांच्या व्यक्तिमत्त्वाचा भाग मोठा आहे हे जसे खरे, तसेच यशवंतरावांना महाराष्ट्राच्या सर्व भागांतून आणि

स्तरांतून मिळणारा पाठिंबा हा त्यांच्या अभावी महाराष्ट्र काँग्रेसच्या नेतृत्वास मिळेल असे वाटत नाही. आणि जनतेच्या जागृत पाठिंब्याशिवाय महाराष्ट्राचे भारतामधील स्थान प्रभावी होणार नाही हे उघड आहे.

तेव्हा अनुकूल वातावरणांत जन्म पावलेल्या महाराष्ट्रास विचारी, समंजस आणि पुरोगामी नेतृत्व लाभून भारतीय समाजजीवनास यथाशक्ति हातभार लावू शकेल असे स्थान मिळवावयाचे असेल तर महाराष्ट्रामध्ये यशवंतरावांच्या नेतृत्वाखाली नवीन कार्यकर्ते तयार होऊन पुढे येतील अशा दिशेने कार्य झाले पाहिजे. लोकशाहीच्या या युगामध्ये बहुजन समाजामधूनच नवे नेतृत्व पुढे येणे हे स्वाभाविक आणि स्वागताहर्हि आहे. परंतु या नेतृत्वाला नवमहाराष्ट्राच्या विकासाची जबाबदारी पेलतां आली पाहिजे. त्यासाठी या कार्यकर्त्यांची सांस्कृतिक उंची वाढली पाहिजे आणि त्यांची राजकीय जागृतीही वाढली पाहिजे. महाराष्ट्रांतल्या सर्वच राजकीय पक्षांनी कार्यकर्त्यांच्या शिक्षणाला (राजकीय त्याचप्रमाणे संघटनात्मक) जरूर तेवढे महत्त्व दिलेले नाही. यापुढे या प्रश्नाकडे दुर्लक्ष करणे अहितकारक ठरेल. काँग्रेस पक्षाबाबत नव्या कार्यकर्त्यांच्या शिक्षणाला यशवंतरावांनी अप्रहक दिला तरच ही समस्या थोड्याफार अवधीनंतर सुकर होण्याची शक्यता आहे. महाराष्ट्रातील काँग्रेस पक्षांत नसलेल्या सामान्य नागरिकांचे दृष्टीनेही ही गोष्ट महत्त्वाची आहे. कारण जोपर्यंत रूढ पक्षपद्धतीमुळे काँग्रेस पक्ष अधिकारवर राहिल तोपर्यंत या पक्षाच्या कार्यकर्त्यांची पातळी उच्च दर्जाची असावी असेच कोणीही म्हणेल.

नवे नेतृत्व बहुजनसमाजामधून येणे स्वाभाविक असले तरी त्याचा परिणाम समाजाच्या कोणत्याहि घटकाला संधि नाकारण्यांत होतां कामा नये. कारण भेदभावामधून निर्माण होणारा अन्याय हा विफलतेची भावना वाढीस लावतो आणि असंतोषास जन्म देतो. त्याचा परिणाम लोकशाहीच्या पायावरच आघात करण्यांत होतो. शिवाय महाराष्ट्राला जी एकात्मता साधावयाची आहे ती जातीजातींमध्ये त्याचप्रमाणे प्रदेशा-प्रदेशांमध्येहि साधावयाची आहे. आणि यापैकी कोणत्याहि घटकाला (जातीसंबंधी वा प्रादेशिक) जर भावी महाराष्ट्रामध्ये समान संधि मिळण्याची खात्री नसेल तर समाजामध्ये एकात्मता निर्माण होणार नाही.

महाराष्ट्रामध्ये एकोपा साधण्याचे आणि उत्साह निर्माण करण्याचे कार्य बिकट असले तरी कुशल नेतृत्वाला ते साध्य होण्याजोगे आहे. श्री. यशवंतराव चव्हाण यांच्या नेतृत्वाकडून हे कार्य सिद्ध व्हावे, अशी अपेक्षा आहे. त्यांचे सहकारी तसेच त्यांचे विरोधक आणि आम मराठी जनता त्यांना या कार्यात यशच चिंतील.



स्वातंत्र्य साधनांत भारत महाराष्ट्र संबंध



प्रा. न. र. फाटक

प्राचीन काळापासून महाराष्ट्राला देशाच्या स्वातंत्र्यप्राप्तीच्या यशास्वी प्रयत्नांचे व रक्षणाचे मान्य लाभले आहे. इसवी सनाच्या सातव्या शतकांत उत्तरेकडून आलेल्या एका स्वारीचा प्रतिकार महाराष्ट्राने केल्याचा वृत्तान्त इतिहासांत सांगितला जातो. हा वृत्तान्त अतिशय शुभा व कांहीसा अस्पष्ट तपशीलाचा आहे. त्यानंतर नऊशे वर्षांनी महाराष्ट्राने साऱ्या भारताला चमत्कारांत लोटणाऱ्या एका महापुरुषाला जन्म देऊन भारताच्या साऱ्या इतिहासाला जे वळण लावले, ते सातव्या शतकातील वृत्तान्ताप्रमाणे पुसट स्वरूपाचे नाही. हा महापुरुष म्हणजे पुण्यश्लोक शिवाजी महाराज हे सद्गज लक्षांत येण्यासारखे आहे. जेव्हा मोगल-बादशाहीची सद्दी औरंगजेबाच्या कारभाराने कळसास पोचली होती, तेव्हा महाराष्ट्राच्या डोंगरांत शिवाजीमहाराजांनी त्या जगद्विजयी (आलमगीर) मोगली प्रतापाला तुच्छ लेखणारे स्वातंत्र्याचे निशाण उभारले आणि अनेक संकटांच्या झंझावातांतहि ते निशाण पडू तर दिले नाहीच, पण अधिक उंचीवर नेऊन फडकवीत ठेविले. महाराजांच्या निधनानंतर महाराष्ट्रातील सामान्य जनतेच्या मर्दुमकीने त्या निशाणाची प्रतिष्ठा वाढविली. महाराष्ट्राच्या पराक्रमाने खिळखिळ्या झालेल्या मोगल-बादशाहीचा कारभारच कालांतराने मराठ्यांच्या हातीं आला. हा कारभार हातीं घेतेवेळीं भारतामधील पुष्कळशा महत्त्वाकांक्षी हिंदुमुसलमान राजे-नबाबांचे दात खट्टे झाले. त्यांनी व त्यांच्या पक्षपाती इंग्रजांनी—कारण इंग्रजी सत्तेच्या विस्ताराला व प्रभावाला खरा व मोठा अडथळा बहुत वर्षे घडला—मराठ्यांच्या राज्यविस्ताराचे जे विवृत वर्णन लिहून ठेवले व शिकविले त्याचा पगडा अद्यापि पूर्णपणे नाहीसा झालेला नसला तरी इंग्रजी राज्य नाहीसे व्हावे, या आकांक्षेला जर कुणाच्या उदाहरणाने स्फूर्ति पुरविली असेल तर ती शिवाजी महाराजांच्या कर्तृत्वेतिहासाने, ही गोष्ट प्रतिपाद्य विषयाच्या संदर्भात अत्यंत महत्त्वाची आहे. भारताच्या स्वातंत्र्य-साधनांतला पहिला गुरु कोण या प्रश्नाचे शिवाजी महाराज असे एकच उत्तर सर्वांना द्यावे लागेल.

महाराष्ट्राच्या इतिहासाला व महाराष्ट्राच्या प्रकृतीला कोणी कितीहि नावे ठेवली तरी नावे ठेवण्याची गरज ही महाराष्ट्राचे एकंदर देशविभागातील अनन्यसाधारण वैशिष्ट्य दर्शविणारी खूण ठरते. इंग्रजी राज्याचे मूळ मद्रास, मुंबई व रोवटी बंगाल येथे पक्के रजत त्या राज्याचा देशांत सर्वत्र विस्तार झाल्यानंतर, या परक्यांचे राज्य नको अशी भावना कुठे व केव्हा उदय



पावली, याविषयी प्रांतपरत्वे भिन्न भिन्न मते दृष्टीस पडतात. राममोहन राय यांजकडे बोट दाखवून आपण सदर भावनेच्या वाच्यतेचे व प्रसाराचे पुढारी आहो, असें सदैव बंगाली माणसें बोलातां-लिहितांना आढळतात. राममोहनांच्या शिकवणीत अस्सल राष्ट्रीय बाणा टिकविण्याचा उपाय दिसत नाही, बंगालचा एक पक्ष तो बाणा शिकवणारा रामकृष्ण परमहंसांचा पंथ असा दावा मांडतांना पहायला सापडतो. बंगालबाहेर आर्यसमाज आणि थिऑसफी हे दोन धर्मपंथ राष्ट्रीयत्वाचें बीजारोपण आपल्या विद्यमाने घडले, असें सांगतात; वस्तुतः हे दोन्ही पंथ एकाच वर्षी म्हणजे १८७५ मध्ये मुंबई शहरांत जन्मास येऊन थिऑसफीने आपले ठाणें अख्यार (मद्रास) येथे हालविले आणि आर्यसमाजाने अजमेर (सऊथ स्थान) येथे आपल्या कार्याचें मुख्य केंद्र स्थापून पंजाब, उत्तरप्रदेश वगैरे भागांतून आपल्या मतांचा प्रचार चालविला. आर्यसमाजाचे लाला लजपता रायासारखे बरेच पुढारी देशाच्या स्वातंत्र्यसाधनाच्या आघाडीवर चमकले, परंतु त्यांचा खऱ्या कर्तव्यगारीचा काळ या शतकांतील आहे, गेल्या शतकांतील नाही.

थिऑसफीचे अभिमानी १८८४ मध्ये अख्यार येथे भरलेल्या थिऑस-फिस्टांच्या संमेलनाचा प्रसंग दाखवून त्या संमेलनांत जमलेल्या पुढान्यांनीं राष्ट्रांतील जनता जाग्रत करण्यासाठीं काँग्रेस भरविण्याची कल्पना स्वीकारली, असें बजावतात. १८८४ नंतर ब्रॅस वर्षांनीं (१९१४ च्या सुमारास)-थिऑसफी पंथाच्या अध्यक्ष बेझंटबाई या भारतीय राजकारणाच्या आखा-ख्यांत उतरून त्यांनीं तुफानी चळवळ केली, हे मान्य करूनहि बेझंटबाईंच्या उठावापर्यंत स्वतः बाई व त्यांचे अनुयायी राजकीय दृष्ट्या कोणतीं महत्त्वाचीं कामें करित होते, असा प्रश्न उपस्थित करणें शक्य आहे. बंगाल्यांच्या अंगीं लेखन आणि वक्तृत्व हे गुण असल्यानें ते आपल्याकडे स्वातंत्र्यसाधनाच्या उद्योगाचें श्रेय वारंवार घेतात. बेझंट-बाईंनीं थिऑसफीच्या पदरांत हें श्रेय टाकण्याचा यत्न आपल्या छोट्या मोठ्या पुस्तकांतून केलेला आहे. आर्यसमाजी पुढान्यांचा आवाज बंगाली व बेझंटबाई यांच्याइतका मोठा नाही, पण त्यांना अशा श्रेयाचे धनी होण्याची आकांक्षा असल्याचा प्रत्यय त्यांच्या लेखनांतून येतो. महाराष्ट्राच्या स्वभावांत आत्मस्मरणेचा दोष नाही, हें एक कारण; शिवाय इंग्रजी भाषेत लिहिण्याचा कंटाळा, हें दुसरें कारण. यामुळे त्यांच्या मरिब राष्ट्रीय कर्तृत्वाचें योग्य दर्शन बहुधा समग्र देशांतील सर्वसामान्य जनतेला लाभत नाही.

महाराष्ट्राचें स्वराज्य १८१८ मध्ये अस्तास गेल्यापासून महाष्ट्राच्या जनते-मध्ये त्याच्या हानीची दळदळ चालू होती. इंग्रजांच्या राज्यकारभाराचें निभेळ प्रेम जनतेच्या ठिकाणीं वसत असल्याचे पुरावे फार थोडे सापडतील आणि ते विशिष्ट हेतूचे सापडतील. स्वराज्याच्या अंतकालीन अंधाधुंदीतून इंग्रजांनीं सोडविल्याचें समाधान जनतेच्या कांहीं थरांत दिसले, म्हणून स्वराज्याची हानि ही देवाची कृपा असें मानण्याइतका इंग्रजी राज्यकारभाराविषयींचा आदर महाराष्ट्रीय जनतेच्या सर्व थरांत पसरला होता अशी समजूत करून घेतल्यास ती आत्मबंधना ठरेल. याचें एक प्रमाण म्हणजे गोपाळराव देशमुख ऊर्फ लोकहितवादी यांचे इ. स. १८४८ तील लेख हें आहे. मराठेशाही लोपून १८४८ मध्ये अवधी तीसच वर्षे उलटलीं होती. या

अत्यावधीत इंग्रजी राज्यासंबंधाचा आदर न्हास पावण्याऐवजीं उत्कर्षास चढलेला असणें हें अधिक संभवनीय असतांहि इंग्रजांचें राज्य शे-दोनशे वर्षांत आटपेल व भारतामध्ये पार्लेमेंटरी धर्तीचें राज्य अस्तित्वांत येईल असें भविष्य लोकहितवादींनीं १८४८ सालीं निस्संदिग्ध शब्दांमध्ये व्यक्त केले आहे. स्वराज्याकांक्षेचा इतका जुना स्पष्ट उल्लेख भारताच्या इतर प्रदेशाच्या राजकीय वाङ्मयांत सांपडणें कठिण आहे. लोकहितवादींनीं स्वदेशी व्रत, कारखानदारी वगैरे अनेक विषयांचें प्रतिपादन ब्रिटिश वर्चस्व कमी करण्याच्या हेतूनें १८४८ पासून पुढें अखंड चालविले होतें.

१८४८ नंतर थोड्याच वर्षांनीं ज्योतीबा फुल्यांनीं असृश्यतानिवा-रणाचें कार्य हातीं घेतलें. त्यांनीं असृश्य समाजाच्या शिक्षणासाठीं जी शाळा घातली ती विलक्षण धाडसाची होती. फुल्यांचें सामर्थ्य या धाड-साला पुरून उरण्याइतकें मोठें नव्हतें. तथापि ज्योतीबांनीं त्या शाळेच्या रूपानें जो सामाजिक समतेचा पाया घातला तो सान्या देशाच्या इति-हासांत अपूर्व गणला जाण्यासारखा आहे. त्यांच्या धाडसाला हातभार लावण्याला ब्राह्मणहि पुढें आले हें या संदर्भांत सुद्धा लक्षांत ठेवणें अवश्य आहे. ज्योतीबा असृश्य वर्गांतले नव्हते, याबरोबरच त्यांनीं कडव्या पुराणमताभिमानाच्या पुणें शहरांत आपल्या संस्थेला जन्म दिला हा एक त्यांच्या धाडसाचा विशेष जमेस धरल्याशिवाय गत्यंतर नाही. त्यांच्या शाळास्थापनेमागून सुमारे साठ वर्षांनीं विठ्ठल रामजी शिंदे यांनीं असृश्योद्धाराची जबाबदारी आपल्या खांद्यावर वाहिली. असृश्यता थोड्याफार प्रमाणांमध्ये सान्या देशांत पसरलेली होती. ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थिऑसफी हे धर्मसुधारणावादी पंथ सामाजिक विषमतेबद्दल तीव्र विरोध दर्शवीत असले तरी यांतल्या एकाहि संस्थेची संबंध नसलेल्या ज्योतीबांनीं हा विरोध कार्यांत उतरविला. ज्या काळांत ज्योतीबांची शाळा अवतरली त्या काळीं भारतामध्ये कुठेहि तशी शाळा दाखवितां येणार नाही.

१८५७ सालीं इंग्रजांच्या नोकरीतल्या शिपायांनीं जो उठाव केला, त्याच्यामागील प्रेरणेबद्दल किंवा दृष्टीबद्दल मतभेद असला तरी त्या उठावांत नांवाजले जाणारे पुढारी (उत्तरेकडील झांशीची राणी, बिदूरचे नाना आणि तात्या टोपे) महाराष्ट्रीय असावे हा योग नजरेआड करण्यासारखा नाही. शिपायांच्या त्या उठावांत महाराष्ट्रीयान्या गळ्यांत अग्रगण्यत्वाची माळ पडते, ती त्यांच्यासंबंधांतील शिपायांच्या मनांत वावरणाऱ्या अपेक्षेची साक्ष म्हणावी लागते.

यापुढील राजकीय घटनांचा आढावा घेतांना १८७८ सालांतील वासुदेव बळवंत फडके यांची चळवळ आणि १८९७ मध्ये दोषां इंग्रज अधिकाऱ्यांचा चाफेकरबंधुंनीं केलेला वध यांच्याकडे दृष्टिक्षेप करायला हवा. फडके आणि चाफेकरबंधु यांचीं कृत्ये अपूर्वतेच्या सदरांतील आहेत. जेव्हां तीं घडलीं तेव्हां इंग्रजी राज्याविरुद्ध हत्यार उपसण्याची व हत्यार उपसण्यावरच न थांबतां तें चालवून इंग्रज अंमलदारांना ठार मारण्याचीं स्वप्नें पाहणें देखील भारताच्या महाराष्ट्रेतर प्रदेशांत अशक्य-प्राय होतें. ज्या वर्षांत फडक्यांनीं धामधूम केली आणि चाफेकरांनीं इंग्रज अंमलदारांचे प्राण घेतले, त्या वर्षांच्या अवधीत अशीं कृत्ये करणारे सान्या भारतांत दुसरे कोणी नव्हते. अंमलदारांना मारण्याच्या

कृत्यांशीं द्रवीडबंधूंचा प्राणघात जोडला पाहिजे. खुदीराम बोसाचा बाबगोळा १९०८ मध्ये—चाफेकरांमागून दहा वर्षांनी—उडाला व त्याच्यांतून निघालेल्या खटल्यांतील माफीचा साक्षीदार त्यानंतर फटवाल्यांच्या शस्त्राला बळी पडला. पण युगलक्षोरांना देहान्त प्रायश्चित्त देण्याचा धडा चाफेकरांनी द्रवीडबंधूंना मारून महाराष्ट्रांत निर्माण केला. यामुळे कालक्रमानुसार बंगालमधील व महाराष्ट्रांतील अधिकाऱ्यांना मारण्याच्या (वीर सावरकरादि) कटाचें गुरुस्थान महाराष्ट्रांतील घावें लागतें.

फडके व चाफेकरबंधु यांचीं कृत्यें आकस्मिक उत्पाताप्रमाणें भासतात, म्हणून महाराष्ट्रांतील लोकजागृतीच्या उद्योगाचें शांत व्यापक स्वरूप निदर्शनास आणणें विषयाच्या स्पष्टीकरणार्थ अवश्य आहे. ह्या उद्योगाच्या इतिहासांत ज्या पुरुषापुढें देशांतील सर्व पुढारी मान शुकवितात तो महादेव गोविंद रानडे हा होय. देशाला स्वातंत्र्य मिळवून देणारी जी प्रमुख संस्था काँग्रेस तिची पायाभरणी करणारे रानडे होते याविषयीं दुमत नाही. त्यांचा संबंध आला नाही अशी त्यांच्या हयातींत महाराष्ट्रांत एकहि महत्त्वाची संस्था नव्हती. समाजाच्या उदारार्थीं सर्व अंगें विकसित व्हावीं अशा विशाल दृष्टीनें मरेपर्यंत त्यांचा उद्योग चाललेला होता. त्यांच्या पुढाकारानें पुण्याच्या सार्वजनिक सभेची कार्यक्षमता आणि मानमात्यता इतकी वाढली कीं सार्वजनिक सभेची उपेक्षा करणें सरकारालाहि जड जाऊं लागलें. या सभेमार्फत १९ व्या शतकाच्या शेवटच्या पंचविशींत दोन वेळां स्वदेशीचा पुरस्कार झाला. १८७१ मध्ये स्वदेशी व्यापाराविषयीं स्वतंत्र व्याख्यानें देऊन रानड्यांनीं सार्वजनिक काकांसारख्या अनेकांना स्वदेशी व्रताचें आचरण करावयास लाविलें. हें वृत्त मुद्दाम येथें नमूद करण्याचें कारण एवढेंच कीं, १९०५ सालीं बंगालच्या फाळणीनें माजविलेल्या क्षोभांतून उद्भवलेल्या स्वदेशीच्या माहात्म्यासमोर १९०५ सालापूर्वीं अनेक वर्षे स्वदेशी व्रतांच्या लाभान्वी महाराष्ट्राला असलेली जाणीव डोळ्यांआड होऊं नये. येथेंच पुनः एकवार १८४८ तील लोकहितवादींच्या 'स्वदेशी' विषयक चर्चेची आठवण द्यावीशी वाटते. रानड्यांना देखील तीस कोटी जनसंख्येचा भारत देश इंग्रजांच्या राज्याखालीं यावच्छंद्रदिवाकरौ राहिल असें वाटत नव्हतें. तो स्वतंत्र झालाच पाहिजे अशी त्यांची खानी होती. परंतु त्यांची स्वातंत्र्यासंबंधींचे विचार व्यक्त करण्याची पद्धत निराळी होती. महाराष्ट्राचा रानड्यांना उत्कट अभिमान होता व ज्या प्रदेशानें एकदा साऱ्या भारताला पारतंत्र्यांतून सुटण्याचा चमत्कार दाखविला, त्याच प्रदेशानें—अर्थात् महाराष्ट्रानें—इंग्रजी राज्याची पकड सैल करणाऱ्या सर्व चळवळींच्या अग्रगामीं राहावें, अशी आकांक्षा ते खाजगी संवादांतून प्रगट करित असल्याच्या अनेक विश्वसनीय आख्यायिका आहेत. यांतील कांही आख्यायिका आगरकर-टिळकांच्या शिक्षणक्षेत्रांतील कामगिरीच्या उदापोहांतील आहेत. पोटापुरतें वेतन घेऊन नव्या पिढीला शिक्षण देण्याचा जो संप्रदाय आगरकर-टिळकांनी उभारला त्याचें अनुकरण पंजाबांत शिक्षणसंस्था निर्माण करणाराऱ्या आर्यसमाजाच्या लोकांनी केल्याची साक्ष उपलब्ध आहे. इंग्रजी अमदानींत महाराष्ट्रांतील कर्तव्य-शक्तीची विविध प्रकारें जोपासना करून ती बाढीस लावण्याच्या प्रयत्नांत रानड्यांची धोरवी भरलेली आहे. त्या धोरवीचा थोडा तपशील येथे

सांगितला, परंतु तेवढ्याने हा तपशील संपत नाही, तरीसुद्धा त्याच्या विस्तारांत न पडतां गोखले-टिळकांकडे वळणें बरें.

गोखल्यांनी कायदेमंडळांतील राजकारणाकडे आपलें सारें बुद्धिवळ केंद्रित केलें होतें. कायदेमंडळांतील प्रतिपक्षी अंमलदारांच्या प्रतिगामी धोरणांतील डावपेच उघडकीस आणून त्यांच्या सुक्तिवादाचा कोंडमारा करण्याची गोखल्यांची हातोटी त्यांच्या हयातींत व त्यांच्या मागून कुणालाच साधली नाही. नामदार या शब्दाची यथार्थता एका गोखल्यांनीच पटविली. म. गांधींनी त्यांना गुरु मानलें, ही एकच गोष्ट गोखल्यांची महती पटविण्याला पुरेशी आहे.

टिळकांनी जनतेच्या आकांक्षांना वाचा फोडून जनतेच्या जागृतीचा वेग वाढविला. त्यांच्या चरित्रांतील अपूर्वता तुरंगवासांत आहे. त्यांच्या आधीं राजद्रोहाच्या खटल्यांत बंगाली वृत्तपत्रकारांनी तडजोड स्वीकारून तुरंग टाळल्याचें उदाहरण आहे. टिळकांनी तडजोडीचा म्हणजे दिलगिरी प्रदर्शित करण्याचा मार्ग चोखाळण्याला नकार दिला, आणि आनंदाने तुरंगवास पत्करला. कारावासाचें भय टिळकांनी घालविलें, त्या योगाने त्यासंबंधांतला अग्रमान महाराष्ट्राने आपलासा केल्या.

प्रस्तुत विवेचन विषयाचें 'नांव स्वातंत्र्यसाधनांत भारत-महाराष्ट्रांचे संबंध' असें आहे. स्वातंत्र्यसिद्ध्यर्थ जेवढ्या घडामोडी मागील सव्वासो वर्षांत देशामध्ये घडल्या त्यांत महाराष्ट्र इतर देशांच्या मागे तर नाहीच पण अघाडीवर होता, हा बोध होण्याइतकी माहिती येथे सादर केली आहे. सारांशाने असें म्हणतां येईल की, भारताच्या इतर प्रदेशांनी महाराष्ट्राकडे अनेक बाबतींत गुरुत्वाच्या नात्याने पाहावें, अशी त्याची योग्यता आहे. महाराष्ट्राला इतर प्रदेशांनी गुरु समजावें असा निष्कर्ष मांडला, तो दुरभिमानाचें पोषण करण्यासाठीं मांडलेला नाही. दुरभिमान व त्याच्यापायीं इतरांची मानखंडना करण्याची वृत्ति इतकी स्वभावसिद्ध आहे की तिच्यासाठी इतिहासाचा आधार घेण्याची गरज नाही. हें गुरुत्व कायम राखायचें असेल तर ज्यांनी या श्रेष्ठ स्थानाचा वारसा महाराष्ट्राला दिला त्यांच्या अतृप्त आकांक्षा तृप्त करण्याची जबाबदारी महाराष्ट्राने अंगावर घेऊन इतर प्रदेशांना आदर्श व्हावें; हेंच त्याचें एकमेव अपरिहार्य कर्तव्य आहे. गुरुत्वाच्या पदवीवर चढलेल्या पूर्वजांनी कुणाचा द्रोह केला नाही, कुणाचा मत्सर बाळगला नाही, कुणाच्या प्रगतीला आडकाठी केली नाही. स्वराज्यापूर्वीचा काळ जागृति, संघटना आणि स्वराज्यप्राप्तीची चळवळ यांच्यांत सारी शक्ति वेचण्याचा होता. आता महाराष्ट्र राज्याचा सर्वांगीण उत्कर्ष होण्यासाठी बुद्धीचें व शरिराचें बळ खर्ची घालण्याचा काळ आलेला आहे. म्हणून पूर्वजांच्या निर्दोष अभिमानाने पुढची वाटचाल महाराष्ट्राने शेवटास न्यावी. ही वाटचाल स्वतंत्र महाराष्ट्र झालें म्हणून सोपी आहे, अशा भ्रमांत न पडण्याची काळजी घ्यावी. अध्यापि महाराष्ट्रीय समाजांत भावभावनांचा एकजिनसीपणा उत्पन्न झालेला नाही. तो होण्याकरिता समाजाच्या सर्व थरांना व घटकांना स्वार्थत्यागाच्या क्लेशमय दिव्यांतून जावें लागेल व अशा दिव्याच्या यातनांतून कार्यक्षमतेने जाहरे पडण्याचा रंगेल फस महाराष्ट्रांयांत भरपूर आहे हें ध्यानांत घेण्यासाठी महाराष्ट्राच्या गुरुत्वाची कथा जिशासूपुढे थोडक्यांत ठेवली आहे.

● ● ●

भारतीय लोकशाहीची प्रकृति



न. वि. गाडगीळ
राज्यपाल, पंजाब.

आजकाल सर्वत्र भारतातील लोकशाहीबद्दल टीका केली जात आहे. जगामध्ये कोणीहि निर्भेळपणे चांगला नाही. कोणतीहि राज्यपद्धति निर्भेळपणे व निरपेक्षपणे चांगली नाही. मानवी समाजांत जें मूल्यांकन करावयाचें असतें तें विद्यमान परिस्थितीचे संदर्भात आलेल्या व येत असलेल्या अनुभवाच्या दृष्टीने करावयाचें असतें. भारतांत प्राचीनकाळां लोकशाही शासनव्यवस्थेचीं बीजे दिसून येत असत हें सामान्यपणें मान्य आहे.

पण ज्याला आधुनिक पद्धतीची लोकशाही म्हणतात तिचीं बीजे भारतांत मागल्या शतकाच्या मध्यानंतर दिसूं लागलीं. जेव्हा रिपनसाहेबांच्या कारकीर्दीत कांही स्थानिक संस्थांना प्रतिनिधि घाडण्याचे अधिकार मिळाले तेव्हापासून लोकशाहीच्या कार्याला सुरुवात झाली असें म्हणतां येईल. लोकशाही, जिला संसदीय लोकशाही म्हणतात, ती १९३५ च्या कायद्याप्रमाणे मोठ्या प्रमाणांत येथे सुरू झाली. १९१९ च्या कायद्याने थोडीशी सुरुवात झालीच होती. १९४७ मध्ये हल्लीच्या स्वरूपांत ती दिसूं लागली व घटना कायदा पास झाल्यानंतर आज ती पूर्णतया त्या स्वरूपाची आपल्याला दिसून येत आहे. लोकशाही मार्गातील ही वाटचाल भारतांत सुरू झाली असें नव्हे, तर गेल्या २० वर्षांत जगभर अनेक नूतन स्वातंत्र्य मिळालेल्या राष्ट्रांतून सुरू झाली. आशियातील गेल्या २५ वर्षांतील राजकीय प्रक्षोभ ही या शतकातील एक क्रान्तिकारक गोष्ट आहे. त्याच क्रान्तीचा प्रवाह आता आफ्रिका खंडांत वाहू लागला असून पुढील दहा वर्षांचे आंत अफ्रिकेचें राजकीय स्वरूप बदलून जाणार आहे. गेल्या दहा वर्षांत २९ राष्ट्रांतून सुमारे ६० कोटी लोक स्वातंत्र्य मिळविण्यांत यशस्वी झाले. कांही ठिकाणीं विद्यमान राज्यकर्त्यांनी आपण होऊन सत्तादान केले, प्रजेचें स्वातंत्र्य मान्य केले व सर्व गोष्टी कमीजास्त प्रमाणांत शान्ततेने घडून आल्या तर कांही राष्ट्रांत हिंसा व अत्याचार या मार्गाने स्वातंत्र्य प्राप्त झाले. मार्च १९४७ मध्ये दिल्ली येथे आशियातील राष्ट्रांची परिषद भरली होती. त्यानंतर हिंदुस्थान स्वतंत्र झाला. इंडोनेशिया त्याच सुमारास स्वतंत्र झाला व आशियातील राष्ट्रांमध्ये एक आशियाविषयक भाव उत्पन्न झाला. आशियातील राष्ट्रे राष्ट्रभावाने प्रेरित असल्यामुळे सर्वत्र राष्ट्रीय स्वातंत्र्याचा जयजयकार झाला. ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्याची प्रेरणा पाश्चात्य राजकीय विचार व पाश्चात्य तत्त्वज्ञान यांमुळे मिळाली ही गोष्ट मान्य केली पाहिजे.



महात्मा गांधी, सत्यत सेन, मुस्ताफा कमालपाशा, नाहास पाशा हे सर्व महान नेते आशिया खंडातील क्रांतीचे मार्गदर्शक व प्रणेते होते.

लोकराज्याची अंभे

सामान्यपणे असे म्हणता येईल की, आशिया खंडातील राष्ट्रांत जी स्वातंत्र्याची चळवळ झाली तिचा उद्देश परकीय राज्याचा अंत करणे एवढाच नसून लोकांची सत्ता प्रस्थापित करणे, लोकराज्य स्थापन करणे हाच दिसून येतो. या राष्ट्रांत जे शासनाचे स्वरूप दिसून येते तें विविध असले तरी राज्य हे लोकांचे, राज्याचा स्वामी लोक, ही कल्पना सर्वत्र आढळून येते. लोकराज्याची बांधणी कशी याबाबत विविध विचारसरणीमुळे लोकराज्याचे स्वरूप निरनिराळे असले तरी सामान्यपणे सार्वत्रिक मतदानाचा हक्क, कार्यकारी सरकार विधिमंडळाचा जबाबदार, न्यायसत्ता स्वतंत्र, नागरिकांच्या हक्कांना मान्यता, मुद्रणस्वातंत्र्य इत्यादि गोष्टी कमीजास्त प्रमाणांत आपल्याला आढळून येतात. प्रातिनिधिक सरकार असल्याने तें बदलण्याचा हक्क लोकांचा व त्यासाठी मतदान करावयाचे, मनगटशाही करावयाची नाही हे मुख्य लक्षण मानलेले दिसून येते. थोडक्यांत सांगावयाचे म्हणजे राष्ट्रवाद व लोकशाही यांचा समन्वय दिसून येतो अगर येत होता असे म्हटले पाहिजे. कारण आज जर आपण आशिया खंडातील या शतकांत स्वतंत्र झालेल्या राष्ट्रांकडे पाहिले तर लोकशाही उभी असली तरी तिचे पाय लपटत आहेत. लोकशाहीचा मुखवटा असला तरी त्यामागे हुकूमशाहीचा राक्षस प्रबल झाला आहे, असे दिसते. या गोष्टीला अनेक कारणे असू शकतील.

लोकशाहीचा आर्थिक पाया

तथापि लोकशाही यशस्वी होण्याच्या दृष्टीने कांही प्रवृत्ती आवश्यक असतात. त्या वाढत्या गेल्या नाहीत अगर त्यांची जोपासना केली गेली नाही. सही सही नकळ केली, पण अकलेने काम करता आले नाही. तसेच, संबंधित राष्ट्रांतील आर्थिक परिस्थिति, आर्थिक जडण व घडण पुष्कळ ठिकाणी लोकशाहीला पोषक नव्हती. उद्योगप्रधान राष्ट्रांत लोकशाहीला अनुकूल वातावरण राहते असे सामान्यपणे मानले जाते व म्हणून जी राष्ट्रे अद्यापि शेतकीप्रधान अर्थव्यवस्थेखालील आहेत त्या राष्ट्रांत लोकशाहीला अनुकूल भूमिका मिळत नाही असे मानले जाते. माझ्या मते कांही मर्यादेपर्यंत हे खरे आहे. वस्तुस्थिति अशी आहे की ज्या हिरिरीने व ईर्ष्येने स्वातंत्र्यप्राप्तीच्या कामी प्रयत्न झाले तसे प्रयत्न आर्थिक दृष्ट्या नवीन समान बांधणीसाठी झाले नाहीत. राज्य लोकांचे झाल्यानंतर तें लोकांच्यासाठी असले पाहिजे व लोकांच्या आर्थिक गरजा भागविल, त्यांचे जीवन अधिक समृद्ध, अधिक समाधानी करील असे असले पाहिजे व तें तसे व्हावयाचे म्हणजे समाजातील संपत्तीची विषम वाटणी नाहीशी केली पाहिजे. मूठभर आहेरे व अगणित नाहीरे यांच्यातील आर्थिक अंतर तोडले गेले पाहिजे. जे अनुभवाला आले तें मूठभर लोकांनी मूठभर संपत्तिवाल्यांना बगलेत मारून लोकांसाठी मिळविलेली सत्ता आपल्या संकुचित वर्गापुरतीच वापरण्यास सुरुवात केली. शासन चांगले पाहिजे याबद्दल वादविवाद नाही; पण तें चांगले आहे की नाही हे लोकांनी ठरविले पाहिजे. ज्यांच्या हातांत सत्ता आली

त्यांनी मात्र आपण लोकांचे म्हणून आपल्या लोक या व्याख्येत आपल्या हितसंबंधी लोकांचाच समावेश केला. आपल्या गावाचे कल्याण राष्ट्रांचे कल्याण मानले. आपल्या वर्गाचे अगर पक्षाचे हित राष्ट्रहित मानले. आरंभी सर्व निवडणुकींच्या मार्गाने सत्ताधीश झाले हे खरे आहे. हिटलरहि निवडूनच आला होता. निवडणुकीनंतर मात्र आपण म्हणजे राष्ट्र ही घोषणा आपल्याला आढळून येते. फ्रेंच राजा लुई, “मी म्हणजे राज्य,” असे म्हणत असे. त्याचीच ही आधुनिक आवृत्ति म्हणण्यास हरकत नाही. असेहि झाले आहे की, या सत्ताधीश वर्गाने व व्यक्तींनी लोकांचे भलेहि केले आहे. तथापि लोकराज्यांत लोकांचे बरे ही पूर्ण कसोटी ठरत नाही. लोकांचे समाधान ही खरी कसोटी आहे आणि म्हणून जे निवडलेले असेल तें सरकार निवडणुकीच्या अक्षतांनी विसर्जन करण्याचा अधिकार लोकांना असला पाहिजे. निवडणुकीतील चुका निवडणुकांच्याच द्वारे दुरुस्त करण्याचा अधिकार हा लोकशाहीचा आत्मा आहे.

लोकशाहीची असुरक्षितता

पाकिस्तानमध्ये काय चालले आहे, बर्मात काय झाले, सिलोनमध्ये काय घडत आहे, तसेच मध्य आशियात काय घडत आहे, अतिपूर्व आशियात काय घडत आहे, हे आपण पाहिले पाहिजे व मग हिंदुस्थानातील लोकशाहीबद्दल काय टीका करावयाची ती केली पाहिजे. कोठे ‘दिग्दर्शित लोकशाही’ चालू आहे, कोठे ‘नियंत्रित लोकशाही’ चालू आहे, कोठे ती तहकूब केलेली दिसत आहे, कोठे नट आचारी असल्याने नाटक बंद होते तसे झाले आहे. भारत अभिमानाने म्हणू शकतो की, लोकशाहीची पताका आशियामध्ये एकदा भारत डौलाने हाती धरून आहे. पहिल्या महायुद्धांत युद्धाचे उद्देश सांगतांना प्रेसिडेंट विस्सनने असे सांगितले होते की, युद्ध हे लोकशाहीच्या स्थापनेसाठी, ती सुरक्षित राहावी म्हणून लढले जात आहे. दुसऱ्या महायुद्धांत चतुर्विध स्वातंत्र्याची घोषणा झाली. युद्ध संपून १५ वर्षे झाली. दुसऱ्या युद्धाच्या सुरुवातीला असणारी बरीच लोकशाही राष्ट्रे इतिहासजमा झाली. युद्धानंतर अस्तित्वांत आलेल्या लोकशाही राष्ट्रांची काय परिस्थिति आहे याचा उल्लेख वर केलाच आहे. आज लोकशाही सुरक्षित नाही व चतुर्विध स्वातंत्र्य अद्यापि जगाच्या अनुभवाला आलेले नाही. इतकेच नव्हे, तर जगातील राजकारणांत अशी स्थिति घडून येत आहे की, प्रत्यक्ष स्वातंत्र्य धोक्यांत येत आहे. लोकशाही म्हणजे केवळ आचार नव्हे. लोकशाही म्हणजे कांही किमान मूल्ये ज्या राज्यव्यवस्थेत महत्वाची व मौलिक मानली जातात ती राज्यव्यवस्था. लोकशाही केवळ जीवननिष्ठा आहे असे नव्हे. चांगला अर्थ चांगल्या शब्दांत सांगितल्याने रसनिर्मित होते. काव्य म्हणजे रसात्मकम् वाक्यम् असेच थोडेसे येथे आहे.

संस्था व त्यातील मूल्यांची पार्श्वभूमी या दोन्ही एकत्र असल्या लागतात; म्हणजेच खरी लोकशाही प्रभावी होते. स्वातंत्र्य याचा अर्थ परदास्याचा अभाव एवढाच नव्हे. स्वातंत्र्य म्हणजे जीवनाकडे जबाबदार दृष्टीने पाहणे हाहि एक विचार आहे. जनता नानाविध स्वरूपाची असते व नाना विचार समाजांत वावरत असतात. त्या सर्वांमध्ये घेयाच्या दृष्टीने एकता पाहिजे, हिताच्या दृष्टीने एकता पाहिजे व विचारांत व आचारांत अनुशासनशीलता असली पाहिजे. तसे नसेल तर एकाच

राज्यांतील व राष्ट्रांतील विविध हितसंबंध एकमेकांच्या गळ्यावर सत्तेची सुरी फिरवतील. लोकशाही म्हणजे निवड करून घ्यावयाचे. कोणी तरी नियुक्त केलेले नव्हे. आपली अकलहुपारी चालवून जनतेने निर्णय घेणे हीच लोकशाहीची प्रक्रिया आहे. निवड करावयाची असल्याने पुढे येणारे विकल्प काय आहेत याची चर्चा आवश्यक ठरते. एकमुखी कारभार असेल तर चर्चा संभवत नाही. मतभेद असले म्हणजे चर्चा जन्माला येते आणि चर्चेतून मतांक्य निर्माण करायचे असते. निवडून आलेला पक्ष, पक्ष म्हणून निवडून आला असला, तरी त्याचे सरकार सर्व जनतेचे मानले जाते व असले पाहिजे. समाजामध्ये काय विचारप्रवाह आहे हे लक्षात घेतले पाहिजे व निवडणूक जरी लांब असली तरी दरम्यानच्या काळात जनमताला जबाबदार आहेत ही जाणीव ठेवली पाहिजे. कारभार करतांना जे केवळ निवडणुकीवर लक्ष ठेवून कारभार करतात, ते धूर्त खरे, पण मुत्सद्दी नव्हेत. तात्कालिक सत्ता संबंध जनतेसाठी व जनतेच्या आजच्याच नव्हे तर आजच्या व उद्याच्या हितासाठी वापरली पाहिजे आणि जर असे शासनकर्ते नसतील, असे व्यापक विचार करणारे नेतृत्व नसेल व पक्षाच्या कल्याणासाठी नीतितत्त्वाचा अर्थ कमीजास्त होऊ लागला तर राज्याचे स्वरूप लोकशाही राहिल; पण आशय पक्षशाहीचा असेल. लोकशाही स्वातंत्र्य तेथेच नांदू शकेल जेथे सत्ताधीश सत्तेचा उपयोग पक्षविहीन दृष्टीने करतात. सत्तेवर गेल्याबरोबर डोकें फिरते हा सामान्य अनुभव आहे. तथापि दीर्घ कालपर्यंत हुकूमशाही पद्धतीची पक्षशाही चालू शकत नाही.

लोकशाहीचे पथ्य व लोकशिक्षण

भारताच्या दृष्टीने विचार करतां अन्य देशांत ज्याप्रमाणे निवडून आलेल्या सत्ताधीशाने निवडणुकीला निकाली काढले अथवा निर्जीव केले तसे भारतांत घडले नाही. मुक्त व मोकळ्या वातावरणांत निवडणुकी होणे हे लोकशाहीचे पहिले पथ्य आहे. या दृष्टीने विचार करतां १९५२ साली झालेली सार्वत्रिक निवडणूक व १९५७ साली झालेली सार्वत्रिक निवडणूक यांतील महत्त्वाच्या गोष्टींकडे लक्ष दिल्यास, भारतांत मुक्त व मोकळ्या निवडणुकी होत राहतील, असे म्हणण्यास हरकत नाही. मतदानास पात्र असलेल्या लोकसंख्येपैकी ५२ साली ९६ टक्के व ५७ साली ९८ टक्के मतदारांच्या यादीत समाविष्ट होते. यादीत असलेल्या मतदारांच्या संख्येपैकी ५२ साली सुमारे ५० टक्के व ५७ साली ४७ टक्के मतदान झाले. लोकसभेच्या ४९४ जागांसाठी १९५४ उमेदवार ५७ च्या निवडणुकीत होते. घटक राज्यांच्या विधान मंडळांसाठी ३१०२ जागांसाठी प्रत्यक्ष निवडणुकीत भाग घेतलेले १०७९४ उमेदवार होते. ५२ साली ९३ ठिकाणी पोलिंग बंद करावे लागले, त्या वेळी १९६८४ पोलिंग स्टेशन होती. ५७ साली फक्त ३४ ठिकाणी पोलिंग बंद करावे लागले. २२०४८७ पोलिंग स्टेशन होती. ५२ साली दंगे, लडाईने केलेले मतदान, निवडणुकांचे गुन्हे ज्या प्रमाणांत होते त्यामानाने ५७ च्या निवडणुकीत फारच कमी संख्येने या गोष्टी दिसून आल्या. फक्त ४ ठिकाणी दंगा झाला. पहिल्या निवडणुकीपेक्षा दुसऱ्या निवडणुकीत स्वतंत्र उमेदवार कमी होते व पक्ष अधिक संघटित झालेले दिसत होते. निवडणुकीच्या विद्यमान पद्धतीमुळे ४८ टक्के मतदान मिळून

७२ टक्के प्रतिनिधित्व काँग्रेसला मिळाले हे खरे, तथापि निवडणुकी मुक्त वातावरणांत झाल्या. मतदारांनी पण सामान्यपणे सारासार विचार करून मते दिली. काही ठिकाणी मतदार भावनावश झाले, तथापि तेवढ्यामुळे निवडणुकीला दोषाई ठरवितां येणार नाही. जनतेचे राज्य झाले याचा अर्थ जनता कधीच चूक करणार नाही असा नाही. जनतेपुढे सत्यकथन अग्नयुक्तिवाद सर्वच मांडतात असे नाही. वक्तृत्व व सत्यापलाप अनेक वेळां होत असतो. ज्या ठिकाणी मतदार सुशिक्षित व विचारी आहेत त्या ठिकाणी लोकशाही यशस्वी होत असते. भारतांत १६ टक्के जनता शिक्षित आहे. तथापि राजकीय अभिप्राय देण्याच्या कामी मोठ्या प्रमाणांत तिला राजकीय शिक्षण मिळत आहे व जसजसे अधिक शिक्षण मिळत जाईल तसतशी ही जनता अधिक विवेकी होत जाईल. कोणी तरी उपटसुमाने उठावे, कसला तरी पक्ष काढावा व बेफाम कार्यक्रम सांगावा हे घडून येणे लोकशाहीमध्ये, भाषणस्वातंत्र्य, संघस्वातंत्र्य असल्याने शक्य आहे. तथापि यावर उपाय म्हणजे ही स्वातंत्र्ये नष्ट करणे हा नव्हे; तर जनतेला अधिक राजकीय शिक्षण देणे हा होय. शासक सुद्धा शासन करतांना एक प्रकारे शिक्षण घेत असतात व म्हणून लोकशाही स्वातंत्र्ये अबाधित राहिली पाहिजेत, लोकांच्या अनुभवाला तीं आली पाहिजेत, केवळ संविधानांत आहेत एवढ्यावरून चालणार नाही. मला वाटते की, नागरिक स्वातंत्र्ये भारतामध्ये जनता उपभोगीत आहे. कांही अपवाद सोडल्यास हा अनुभव न्यायी माणसांना मान्य करावा लागेल व जेथे अपवाद आहेत तेथेहि ते योग्य आहेत, हेहि मान्य करावे लागेल. लोकशाहीत नको असलेले सरकार बदलून घेण्याचा हक्क मौलिक आहे. किंबहुना तो नसेल तर तेथे लोकशाही नाही. गेल्या दहा वर्षांत जनतेने हा हक्क प्रसंगाप्रसंगाने बजावला आहे.

समता व स्वातंत्र्य

‘केवळ निवडणुका’ ‘केवळ जबाबदार सरकार’ एवढ्याने लोकशाही अर्थपूर्ण होत नाही. स्वातंत्र्य हे न्यायभावातून निर्माण झालेले द्रव्य आहे. समाजांत न्याय राहावा व तो सर्वोंना मिळावा यासाठी स्वातंत्र्य व तें स्वातंत्र्य, जर तेथे समता नसेल, तर अर्थपूर्ण नाही. तें अपुरे आहे. समता केवळ राजकीय असून भागत नाही. सामाजिक समता व आर्थिक समता ही जर नसेल तर राजकीय समता ही थट्टेचा विषय आहे. जनता दुःखी आहे, दरिद्री आहे, आर्थिक दृष्ट्या असाहाय्य आहे, अशा स्थितीत निवडणुकीचा हक्क तिचे समाधान करू शकत नाही. म्हणून लोकशाहीमध्ये सर्व समाजांत आर्थिक समता स्थापन झाली पाहिजे व समाजांत निर्माण होणारी संपत्ति सर्व समाजाची व तिचे वितरण सर्वांच्यासाठी समानतेला धरून असले पाहिजे. क्षणाक्षणाला आपली उन्नति होत आहे, ही भावना खऱ्या लोकशाहीत जनतेमध्ये सतत प्रादुर्भूत असली पाहिजे. या दृष्टीने विचार करतां भारतामध्ये जें आर्थिक तत्त्वज्ञान स्वीकारले गेले आहे, तें लोकशाहीच्या दृष्टीने अनुरूप आहे. क्रान्तिवाद स्वीकारलेला नसला तरी क्रमवाद काम करीत आहे. सर्वच कांही एकदम होईल असे नाही; पण प्रवास चालू आहे. गति कुठित झालेली नाही. म्हणून भारतांत लोकशाहीला धोका आहे, असे मानण्याचे कारण नाही. लोकशाहीच्या यशस्वितेसाठी मतदार ज्याप्रमाणे सुशिक्षित असावा लागतो त्याप्रमाणे नेतृत्वहि विशाल दृष्टीचे असावे

लागतें. आपलें हित म्हणजे जनतेचें हित न मानतां सार्वजनिक हितांत आपला पक्ष, आपण, आपलें गाव या सर्वांचा समावेश होतो, असें मानणारे, नव्हे श्रद्धा असणारे, ते असले पाहिजेत. मोठा म्हणजे महान नव्हे, स्थानावर आला म्हणून श्रेष्ठ नव्हे, असें मानण्याची विवेचक वृत्ति समाजांत असली पाहिजे. समाजामध्ये कांही मूल्ये सतत प्रभावी असली पाहिजेत. तरच लोकशाही यशस्वी होईल. तत्त्वहीन राजकारण असतां कामा विवेक नये. सदसद्विवेकबुद्धिशून्य संपन्नता नाशाचें कारण ठरते. म्हणून समाजामध्ये उच्च विचारांची, समाजाची नित्य काळजी वाहणारीं माणसें असावीं लागतात. त्यांतूनच व त्यांच्याच मार्गदर्शनाखाली नवे

नेतृत्व उदयाला येतें. आज या दृष्टीने विचार करतां देशांतील सार्वजनिक शील थोडें शिथिल झालें आहे, राजकारण हें व्रत न राहातां वृत्ति झाली आहे, सार्वजनिक जीवन सेवा न राहातां एक व्यवसाय बनला आहे, असें आढळतें. ही घसरण जर थांबविली गेली नाही तर लोकशाहीला निश्चित धोका आहे. संतोषाची गोष्ट आहे की, देशांतील विचारवंतांनाहि जाणीव झाली आहे; महाराष्ट्रांतहि होऊं लागली आहे. म्हणून अनेक लोक आज जरी भारतांतील लोकशाहीच्या भविष्यावद्दल संचित असले तरी तितकें चिंता करण्याचें कारण नाही. मात्र जनता सावधान असली पाहिजे. कारण, लोकशाही स्वातंत्र्याची किंमत अखंड सावधानता हीच आहे.



“जनतेच्या जीवनांतले प्रश्न हातीं घेऊन कांही निश्चित कार्यक्रमाची आंखणी करून राजकीय पक्षांनीं पुढें आलें पाहिजे. असा कार्यक्रम आणि तो कार्यक्रम शासनसंस्थेमार्फत पार पाडण्याइतकी शक्ति ही राजकीय पक्षांची कसोटी आहे.”

श्री. चव्हाण
सांगलीचें भाषण

शुभाजिपाद आणि महाराष्ट्र राज्य



एस. एम्. जोशी

नवभारताची उभारणी लोकशाही आणि समाजवादी स्वरूपाची असावी याबाबत आता फारसे मतभेद राहिलेले नाहीत. देशातील सत्ता-लुट पक्षानेच आता समाजवादी समाजरचनेचा पुरस्कार केलेला आहे. ते ध्येय लवकरांत लवकर कसे गाठतां येईल, त्यासाठी कोणत्या धोरणाचा अवलंब करावा, आर्थिक राजकीय आणि सामाजिक क्षेत्रांमध्ये समाजवादी समाजरचनेचा आविष्कार कोणत्या स्वरूपांत होऊं शकेल, इत्यादि प्रश्नांबाबत मात्र मतभिन्नता आहे आणि ती रहाणारच. परंतु त्यामुळे समाजवादी प्रगतीसाठी महाराष्ट्र राज्याने मरीच कामगिरी करावयाची ठरविल्यास विशेष अडचणी निर्माण होणार नाहीत. किंबहुना त्यामुळे भारतातील समाजवादाला अनुकूल अशा शक्तींना साहाय्यच होईल. कारण शेवटी अखिल भारतामध्ये समाजवादाला अनुकूल असे वातावरण आणि परिस्थिति निर्माण होण्यावरच आपलें यशापयश अवलंबून आहे.

लोकशाही समाजवादाचें ध्येय महाराष्ट्राला एकट्याने गाठतां येईल अशा भ्रमांत कोणी राहूं नये. आपल्या राज्यांत परिस्थिति कांही अंशी अनुकूल आहे हें खरें. परंतु तेवढ्याने सारे प्रश्न सुटत नाहीत. महाराष्ट्रांत मोठमोठाले भांडवलदार अथवा जमीनदार नाहीत. समाजवादाच्या दिशेने प्रगति करावयाचें ठरविल्यास स्वहितवादी लोकांकडून पाय मागे खेचले जाण्याची शक्यता इतर प्रांतांच्या मानाने बरीच कमी आहे. परंतु आमचा समाज गरीब आणि श्रमजीवी आहे, एवढें म्हणून भागत नाही. कारण, कोणत्याहि देशांत बहुसंख्य समाज गरीब आणि श्रमजीवीच असतो. त्या समाजावर पकड कोणाची आहे हाच महत्त्वाचा प्रश्न आहे. त्या दृष्टीने पाहतां आपल्या राज्यांत जागृति अधिक असून मूठभर लोकांचीच छाप लोकमतावर नाही. परंतु या अनुकूल परिस्थितीबरोबरच प्रतिकूल गोष्टी कांही कमी नाहीत. आमच्याकडे मोठमोठाले भांडवलदार नाहीत याचाच अर्थ असा की, महाराष्ट्राचा फार मोठा भाग औद्योगिक दृष्ट्या मागासलेला आहे. कोरडवाहू जमिनीचें प्रमाण मोठें आहे. पावसाचा रोष वरचेवर होत असल्यामुळे वारंवार दुष्काळाच्या आपत्तीला तोंड द्यावें लागतें. शेकडो प्रपंच उध्वस्त होऊन देशोधडीला लागतात. ही सारी परिस्थिति बदलायची आणि तसें करित असतांना भांडवलशाहीची वाट होणार नाही अशी खबरदारी घ्यायची म्हणजे भांडवलशाहीकडून जी कायें होत असतात तीं करण्यासाठी जनतेने फंडर बांधायची. भरपूर श्रम करून धनोत्पादन करायचें आणि बचत करून



उत्पादनासाठी लागणाऱ्या साधनसामुग्रीचा संचय करायचा. हे सारे आपल्याला करावे लागेल. त्यासाठी आवश्यक अशा घटकसंख्या निर्माण कराव्या लागतील. तरच शेतीची सुधारणा आणि उद्योगधंद्यांची वाढ होऊ शकेल.

समाजशरीर हे निरनिराळ्या घटक संस्थांचे बनलेले असते. एक-घटकी समाजव्यवस्था प्रगत देशांत आढळून येणार नाही. दरेक समाजाचे भरणपोषणाचे कार्य विविध संस्थांच्या मार्फत चाललेले असते. भांडवलशाही समाजव्यवस्था स्पंधेवर आधारलेली आहे असे आपण म्हणतो. परंतु त्यांतही निरनिराळ्या संस्था उभ्या राहतातच. जॉईट स्टॉक कंपनी आणि व्यापारी संस्था उभारल्या जातात. व्यक्तीला या संस्थांच्याबरोबर एकत्रिताने टक्कर देता येत नाही. भांडवलशाही समाजव्यवस्थेच्या जागी समाजवादी समाजव्यवस्था निर्माण करण्याचा आपला मानस आहे. कारण त्यांत बहुसंख्य लोकांना जीवनाची शाश्वती आणि विकासाची संधि उपलब्ध करून देता येईल अशी आपली श्रद्धा आहे. याचा अर्थ असा नव्हे की, दरेक व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र राहिल. समाजवादी व्यवस्थेमध्ये देखील भरणपोषणाच्या कार्यासाठी निरनिराळ्या संस्था उभाराव्या लागतीलच. एकेकट्या शेतकऱ्याला जी जबाबदारी पेलता येणार नाही ती सहकारी संस्था काढून पेलवी लागेल. ग्रामपंचायतीसारख्या संस्था कार्यक्षम करून, दरेक व्यक्तीला अभय मिळेल अशी जबाबदारी घेता आली पाहिजे. कामगार संघांच्या द्वारा कामगारांनी आपल्या अधिकारांचे संरक्षण आणि आपल्या कर्तव्यांची पूर्तता केली पाहिजे. जुनी समाजव्यवस्था मोडून तिच्या जागी नवी समाजरचना उभारायची म्हणजे जुन्या संस्था मोडून त्यांच्या जागी परिस्थितिनुसार नव्या संस्था उभाराव्या लागतात. सर्व अवयवांचे मिळून जसे मनुष्याचे शरीर बनते त्याप्रमाणे विविध संस्था मिळूनच एक समाज बनत असतो. जातीपातीवर आणि जन्मजात उच्चनीचतेच्या कल्पनेवर आधारलेली जुनी समाजव्यवस्था मोडीत काढून सामाजिक आणि आर्थिक समानतेवर आधारलेली नवसमाजरचना आपल्याला करावयाची आहे. ही समाजरचना देखील एकघटकी असू शकणार नाही. शासन ही एकच संस्था, बाकी सर्व व्यक्ति स्वतंत्र अशी रचना होऊ शकणार नाही. निरनिराळ्या संस्था निर्माण करूनच तिची उभारणी करावी लागेल. जुन्या समाजरचनेमध्ये आणि त्या रचनेचे घटक असलेल्या संस्थांमुळे जो अन्याय आणि जी विषमता बहुसंख्य लोकांना सोसावी लागत होती, ती विषमता आणि तो अन्याय नाहीसा करण्याची, निदान कमीत कमी करण्याची, शाश्वती ज्या संस्थांच्या द्वारा देता येईल, अशा संस्थांचाच आपल्याला पुरस्कार करावा लागेल. अशा संस्था कोणत्या, त्या अधिकाधिक कार्यक्षम होण्यासाठी कोणत्या कार्यपद्धतीचा आणि धोरणाचा अवलंब करणे श्रेयस्कर आहे याबाबत अनुभवाच्या आधारावर संशोधनाचे कार्य करावे लागेल. नुसती ठोकळेबाजी करून चालणार नाही. वेळोवेळी सुधारणा आणि दुरुस्ती करण्याची तयारी महाराष्ट्र राज्याने ठेवली पाहिजे. या दृष्टीने पाहिल्यास ग्रामपंचायती, सहकारी संस्था आणि कामगारसंघ या संघटना पायाभूत होणार आहेत. सहकारी संघटना आणि कामगारसंघ यांना उत्पादनाच्या कार्यांत महत्त्वाची जबाबदारी स्वीकारावी लागेल. त्यांनी केवळ हक्कासाठी झगडून भागणार

नाहीं. विधायक पुरुषार्थाच्या प्रेरणेने त्यांनी काम केले तरच नवसमाजाला आधारभूत अशा कार्यक्षम संस्था उभ्या राहू शकतील. पूर्वी जाती-जमातींच्याकडे व्यक्तीला शिस्त लावण्याचे काम होते. त्यांची शिस्त करडी होती. जन्मावर आधारलेल्या जातिसंस्था आणि उच्चनीचतेच्या कल्पना आम्हांला आता नकोत. परंतु त्याचा अर्थ असा नव्हे की, आमचे शिस्तीशिवाय भागू शकेल. शिस्त लावण्याचे कार्य या नव्या संस्थांच्या द्वारा करून घ्यावे लागेल.

जीवनसमृद्धीची ईर्ष्याच प्रेरक शक्ति व्हावी

आर्थिक विषमतेप्रमाणेच सामाजिक विषमता दूर करण्याचे कार्य लोकशाही पद्धतीने करता येईल. त्याला उच्छेदवादाची आवश्यकता नाही, ही गोष्ट आम्हांला सिद्ध करून दाखविली पाहिजे. जुन्या समाजव्यवस्थेत सामान्य जनांना विकासाची संधि मिळत नव्हती. उत्पादनतंत्रच इतके मागासलेले होते की, बहुसंख्य लोकांची पिढवणूक करूनच मूठभर लोकांना सुखाचे जिणे जगाता येत असे. त्यांना हीन दर्जाचे लेखण्यांत येई. या अन्यायाविरुद्ध दलितान्या मनांत चीड येत नव्हती असे नाही. अधून मधून त्यांचे उठाव होत. परंतु ते चिरडले जात. स्वाभाविकच त्यांच्या मनामध्ये उच्चवर्णीयांबद्दल विद्वेषाची भावना दटमूळ होई; आणि त्यांच्या प्रेरणा आणि लढे उच्छेदक स्वरूप धारण करित. स्वातंत्र्यपूर्व काळांत दलितान्या आणि मागासलेल्यांच्या चळवळी होत. त्या वेळी विद्वेषाची भावना प्रखर होऊन त्या चळवळींना विकृत स्वरूप येई. त्यांचे कारण हेच होते, परंतु आतां परकीय सत्ता जाऊन लोकशाहीचा जमाना सुरू झाला आहे. जगामध्ये विशानाची वाढ होऊन उत्पादनतंत्रांत झालेल्या सुधारणांचा उपयोग आपल्याला करून घेता येण्यासारखी परिस्थिति प्राप्त झाली आहे. सार्वत्रिक मतदानाच्या हक्कामुळे आतां बहुसंख्यांच्या हाती राजसत्ता येऊ शकते आणि बहुसंख्य श्रमजीवी समाजाचे जीवन सुसह्य करून त्यांना विकासाची संधि उपलब्ध करून देता येते. म्हणून उचित मार्गदर्शन लाभल्यास सामाजिक विषमतेविरुद्ध चाललेल्या आंदोलनाला विधायक वळण देणे सहज शक्य आहे. त्यातील उच्छेदक प्रवृत्तींचा हळुहळू निरास करता येईल. मराठी जनतेचे मार्गदर्शन करण्याची जबाबदारी ज्यांच्यावर आहे त्यांनी याबाबतची आपली जबाबदारी पूर्ण केली पाहिजे. जातीय भावना नष्ट झाली आहे, अथवा एकदम नष्ट होईल अशी खुळसट कल्पना कोणीहि करून घेऊ नये. दलितान्या आणि मागासलेल्या समाजाच्या मनांतून ती एकदम नष्ट होऊ शकत नाही. मात्र तिची धार बोधत झाली आहे हे निश्चित. राजकारणांत त्या भावनेचा उपयोग करून घेतला जाण्याची शक्यता असली तरी ती महत्त्वाची शक्ति नाही, आणि नसावी. नव्या जमान्यांत आपले मवितव्य घडविण्याची बहुजनसमानांला जी संधि उपलब्ध झाली आहे तिचा उपयोग करून आपले जीवन समृद्ध करण्याची ईर्ष्या हीच त्यांची मुख्य प्रेरक शक्ति आहे, आणि असली पाहिजे.

राजकीय आचारसंहिता आतां आवश्यकच

हिंदु समाजातील जातिसंस्थेमुळे निर्माण झालेल्या जातीयतेची प्रखरता कमी झाली असली तरी धर्मभेदांमुळे उत्पन्न होणाऱ्या जातीयतेचे स्वरूप अजून बदललेले नाही. ते सौम्य होण्याऐवजी अधिकच उपद्रवकारी होऊं

पाहत आहे. कारण द्विराष्ट्रवादाची कल्पना निघून देशाची फाळणी झाली. पाकिस्तान आणि भारत अशी दोन सार्वभौम राज्ये निर्माण झाली. हिंदू आणि मुसलमान या दोन्ही जमातींतील सामान्य जनतेला अपार हाल-अपेक्षा सहन कराव्या लागल्या. रक्ताच्या नद्या वाहवल्या आणि माणुसकीचा बळी द्यावा लागला. एवढ्या मोठ्या आहुतीनंतर जातीय विद्वेषाचा अग्नि शांत होईल, अशी अपेक्षा होती. परंतु दुर्दैवाने ती खोटी ठरली. पाकिस्तानचे राज्यकर्ते आपणच जणु सान्या मुसलमानांचे विश्वस्त आणि रक्षक आहोत अशा थाटांत जनतेची दिशाभूल करीत आहेत. भारतातील मुसलमानांना नीट वागवले जात नाही, त्यांच्यावर अन्याय होतो, अशी खोटी हाकट्टी करून ते भारतातील जातीयतेला अराष्ट्रीयतेची जोड देत आहेत. भारतातील मुसलमानांपैकी काही मंडळी त्यांच्या या कारस्थानाला बळी पडतात हे नाकारता येणार नाही. मुसलमानांनी भारताला आपले राष्ट्र समजू नये, कारण येथील राज्यकर्ते इस्लामचे अनुयायी नाहीत, असा विषारी प्रचार ते करू लागले आहेत. विद्यमान जगामध्ये निरनिराळ्या धर्मांची अल्हा अलग सार्वभौम राज्ये होऊ शकत नाहीत. तसा प्रयत्न कोणी करू पाहील तर सान्या सुजाण आणि शांतताप्रिय जगाचा रोष त्यांना आपल्यावर ओढवून घ्यावा लागेल. भिन्न भिन्न धर्मांच्या लोकांनी एका राज्यांत राहून आपला विकास करून घेतल्याशिवाय गत्यंतर नाही. प्रत्येक राज्यांत निरनिराळ्या धर्मांचे लोक कमी-जास्त प्रमाणांत राहणारच. सर्वांना आपल्या धर्माप्रमाणे उपासना करण्याचा इक्क असणारच. एखाद्या धर्मांचे लोक अल्पसंख्य असले तरी त्यांना नागरिकत्वाचे अधिकार सारखेच राहतील. ज्या धर्मांचे लोक बहुसंख्य असतील त्यांनी आपल्यासाठी अधिक इक्क घेण्याची कल्पना लोकशाहीच्या कल्पनेशी विसंगत आहे. लोकशाहीमध्ये प्रत्येक व्यक्तीला आपल्या निष्ठेप्रमाणे उपासना करण्याचा आणि आपले जीवन सर्व बाजूंनी विकसित करण्याचा अधिकार आहे. सर्व नागरिक समान आहेत हे तत्व मान्य झाल्यावर अल्पसंख्य जमातींना आपोआपच अभय प्राप्त होतं. एवढेच नव्हे तर इतरांहितकीच विकासाची संधि त्यांना उपलब्ध होऊ शकते. यालाच निघर्मी राज्य अथवा सेक्युलॅरिझम असे म्हणतात. धर्महीन राज्य असा त्याचा अर्थ नव्हे. मात्र सर्व नागरिकांनी आपल्या राष्ट्राशी एकनिष्ठ राहिले पाहिजे. या दृष्टीने कोणत्याहि कारणास्तव कोणी राष्ट्रविरोधी फुटीर भावना निर्माण करील तर त्याला कडक शासन केले पाहिजे. एका जमातीने—मग ती अल्पसंख्य असो अथवा बहुसंख्य असो—दुसऱ्या जमातीवर दादागिरी करण्याचा प्रयत्न केला आणि तो आपण खपवून घेतला तर राष्ट्र दुर्बल होऊन समानता नांवापुरतीच राहिल. फुटीर वृत्तीला प्रोत्साहन देणारांची गय होतां उपयोगी नाही किंवा तात्कालिक लाभासाठी त्यांना ज्वळ करतां उपयोगी नाही. भारताच्या या महान लोकशाही राष्ट्राशी एकनिष्ठ राहून लोकशाहीचे कार्य करणाऱ्या चारित्र्यवान लोकांची उपेक्षा होतां उपयोगी नाही. त्यांना प्रोत्साहन देऊन अल्पसंख्य जमातींतील सामान्य जनांना भारतनिष्ठ अशा लोकशाही जीवनाचे शिक्षण दिले पाहिजे. तरच द्विराष्ट्रवादामुळे निर्माण झालेले हे जातीयतेचे विष हळूहळू दूर करतां येईल. त्यासाठी सर्व राजकीय पक्षांनी एक आचारसंहिता मंजूर करून तिच्याप्रमाणे वर्तन करण्याची शिकस्त केली

पाहिजे. महाराष्ट्र राज्याने जर या बाबतीत पुढाकार घेतला तर लोकशाहीच्या आणि समाजवादाच्या प्रस्थापनेसाठी फार मोठी मदत होईल.

कर्तव्यदक्ष आणि ध्येयनिष्ठ कार्यकर्त्यांवर मदार

आपल्या राष्ट्रीयत्वाला या जमातवाद्यांपासून जसा धोका आहे तसा धर्मवेड्या मुसलमानांप्रमाणे आंतरराष्ट्रीय कम्युनिझमचा प्रसार करणाऱ्या पिसाट कम्युनिस्टांपासूनहि आहे. तेहि उघडपणे सांगतात की, आमची पहिली निष्ठा आंतरराष्ट्रीय कम्युनिझमला आहे. ज्या राष्ट्रांचे राज्यकर्ते कम्युनिस्ट असतील त्या राष्ट्रांशी ते निष्ठेने वागतील. नाहीपेक्षा राष्ट्रनिष्ठेला गौण स्थान देऊन राष्ट्रविरोधी कारवाया करण्यासहि मागेपुढे पाहणार नाहीत. कम्युनिझमच्या या पिसाट प्रचारकांना तोंड देणे अधिकच बिकट होऊं पाहत आहे. आंतरराष्ट्रीय कम्युनिझमचे नेते त्यांना सर्व प्रकारची मदत करतात आणि हे पुरोगामी तत्त्वाचा बुरखा पांघरून राष्ट्राचा पायाच पोखरून काढतात. महाराष्ट्र कामगार चळवळीच्या क्षेत्रांतहि अग्रेसर आहे. त्या चळवळीच्या आश्रयाने राहणाऱ्या लोकांकडून राष्ट्राचा पाया पोखरण्याचे कार्य कोणी करणार नाही अशी खबरदारी आपण घेतली पाहिजे. कम्युनिस्ट लोकशाहीच्या गप्पा मारतात. परंतु त्यांची लोकशाहीची कल्पना अजब आहे. सत्ता हस्तगत करण्यापुरता लोकशाहीचा वापर करायचा आणि मग आपणच भ्रमजीवी सामान्य जनतेच्या हिताचे एकमेव ठेकेदार आहो असे सांगून अन्य विचारसरणीच्या राजकीय पक्षांना नेस्तनाबूत करायचे, असा त्यांचा खाक्या आहे. त्यांची ही जनता लोकशाही म्हणजे संरंजामयुगांतील इस्लामच्या जमातवादी लोकशाहीसारखीच आहे. दरेक व्यक्तीच्या अधिकाराची कदर करून तिला विकासाची संधि प्राप्त करून देणाऱ्या आधुनिक लोकशाहीशी ती पूर्णतया विसंगत आहे. त्यापासून आपण सावध राहिले पाहिजे. समाजवादी प्रगति आपणांस लोकशाहीच्या पद्धतीने करावयाची आहे, या गोष्टीचा महाराष्ट्र राज्याने कधीच विसर पडू देतां उपयोगी नाही. लोकशाही राज्याची जी घटना आपण स्वीकारली आहे तिच्यामध्ये पक्षपद्धति अभिप्रेत आहे. किंबहुना दुल्यबल विरोधी पक्ष असेल तरच आपल्या लोकशाहीचा आशय अधिकाधिक समृद्ध होऊं शकतो. हा विचार त्या संसदीय लोकशाहीच्या कल्पनेचा मूलाधार आहे. आर्थिक नियोजनाच्या युगांत आपण आहो, आपला देश मागासलेला आहे, आपल्याला झपाट्याने प्रगति करावयाची आहे, राज्यकर्त्या पक्षांने देखील समाजवाद मान्य केला आहे, सबब आतां विरोधी पक्षाची आवश्यकता नाही, असल्या कल्पनांच्या आहारी आपण जातां उपयोगी नाही. विद्यमान राज्यपद्धतीमध्ये विरोधी पक्षांची आवश्यकता नेहमीच राहणार. नियोजन केले तरी सर्व नागरिकांना सारखा न्याय दिला जाईल किंवा देतां येईल अशा भ्रमांत कोणी राहू नये, जे वर्ग संपन्न आहेत, संघटित आहेत अशांची दाद लवकर लागते, हा सर्वांचा अनुभव आहे. सबब नियोजनामध्ये चुका होणार, कांही लोकांकडे दुर्लक्ष होणार हे निश्चित आहे. अशा वेळी राज्यकर्त्या पक्षावर अंकुश ठेवण्यासाठी विरोधी पक्ष हवाच. मात्र त्याचा विरोध विधायक स्वरूपाचा आणि लोकशाही पद्धतीचा असला पाहिजे. समाजांतील जे वर्ग अथवा थर आज संपन्न नाहीत, संघटित नाहीत आणि त्यामुळे अकार्यक्षम आहेत अशा वर्गांना संघटित करण्याचे कार्य महत्त्वाचे

आहे. त्यांना स्वावलंबी बनवावे लागेल. आपला देश औद्योगिक दृष्ट्या मागासलेला आहे, त्यामुळे धनोत्पादनाच्या कार्यात आपणाला बरीच मजल मारायची आहे. लोकशाही मूल्ये कायम ठेवून ते करावयाचे आहे. त्यासाठी ज्या संस्था नवसमाजाला पायाभूत आहेत अशा संस्था राजकीय पक्षबाजीपासून अलिप्त ठेवल्या पाहिजेत. ग्रामपंचायती, सहकारी संस्था आणि कामगार संघ यांचा त्या दृष्टीने उल्लेख करता येईल. महाराष्ट्रांतील राजकीय आणि सामाजिक जागृती लक्षांत घेतां, ही विधायक दृष्टि स्वीकारून सामान्य जनांमध्ये सामूहिक पुरुषार्थाची ईर्षा निर्माण करण्याचे

कार्य आपणास करतां आले पाहिजे. अर्थात् त्या बाबतीत राज्यकर्त्या पक्षाने पुढाकार घेतला पाहिजे. विधायक वृत्तीने आणि लोकशाही पद्धतीने विरोध करणारा राष्ट्रनिष्ठ असा पर्यायी पक्ष आपले कर्तव्य पार पाडीत आहे आणि राज्यकर्ता पक्ष आणि सर्व लोकशाहीवादी विरोधी पक्ष नवसमाजाच्या उभारणीसाठी जरूर त्या प्राथमिक संस्थांमध्ये घेयानिष्ठेने कार्य करीत आहेत, असे चित्र जर आपण उभे करू शकलो तर भारतामध्ये महाराष्ट्राचा गौरव होईल आणि यथोचित महत्त्व प्राप्त होईल. या मार्गाने गेलो तरच समाजवादी प्रगतीच्या कार्यात आपली जबाबदारी पार पाडतां येणे शक्य आहे.



“एकमेकांच्या वैराने वसवसलेले, दारिद्र्याने निराश झालेले, आजपर्यंत एकसारखा कुणी तरी आपल्यावरती अन्याय केला या भावनेने इतरांकडे संशयाने पाहणारे असे गांव वसण्यापेक्षां एकमेकांकडे सहृदयतेने, मदत करण्याच्या भावनेने पाहणारा बंधूबंधूचा असा एक निराळा समाज खेड्यांतून आपल्याला उभा करावयाचा आहे.”

— श्री. चव्हाण

सत्तारूढ पक्ष व विरोधी पक्ष



पां. वा. गाडगीळ

सत्तारूढ पक्ष व विरोधी पक्ष यांचे लोकशाहीतील संबंध, या प्रश्नाचा नजीकच्या दृष्टीने व दूरच्या दृष्टीने असा दुहेरी विचार करावा लागतो. तसेच तात्विक आणि व्यावहारिक अशाही दोन्ही दृष्टींनी या प्रश्नाचा विचार करावा लागतो. लोकशाही ही मानव समाजाची अगदी नैसर्गिक राजव्यवस्था आहे अथवा ती सर्वोत्तम व्यवस्था आहे अर्थां जी सिद्धान्तसूचक विधाने केली जातात ती खरी नव्हेत. सामान्यतः शंभरांच्या समूहांतील ५१ चा निर्णय बाकीच्या ४९ नी मानावा हा लोकशाहीचा तांत्रिक संकेत आहे. पण ४९ ना जर अशी खात्री वाटली की, आपलेच मत निश्चित बरोबर व संशयातीत आहे आणि ५१ मतवाले हे मूर्ख आहेत, त्यांचे मत हे अनर्थकारी आहे म्हणून शारीर बलोपयोगाने ५१ चे मत मोडून काढले पाहिजे, तर तेथे लोकशाही संपुष्टांतच येते. संख्येने जे जास्त त्यांचे म्हणणे बरोबर व संख्येने कमी त्यांचे म्हणणे चूक असा सिद्धान्त अशास्त्रीयहि आहे. ज्या अल्पसंख्यांना शारीर बलाधिक्य आहे व आपल्या मताच्या सत्यतेबद्दल संपूर्ण विश्वास आहे त्यांनी सत्यमताच्या बजावणीसाठी शारीरबल न वापरणे हा अधर्म होय, असेंहि कोणी म्हणू शकेल. उलट, बहुमतवाल्यांचेच मत ग्राह्य असे एकदा ठरले म्हणजे शारीर बलोपासना न करता बहुसंख्य हे निर्बलतेने व निर्बुद्धपणे जगाचा व्यवहार करतील अथवा सत्य संशोधन न करता अथवा उलट अपल्पसंख्यांना क्रूरपणे वागवतील. हेहि अशक्य नाही. बहुमताची सत्ता हे त्रिकालाबाधित सत्य होय अथवा अशी सत्ता लोककल्याणकारी असतेच असा जो एक सुप्त समज पुष्कळांचा असतो तो चुकीचा आहे एवढे दाखविण्यासाठी वरील मुद्दे मांडले आहेत.

तर मग बहुमताची सत्ता ती लोकशाही हे मत कां रूढ झाले, त्याला अपवाद आहेत का, ते कोणते, हा प्रश्न बऱ्याच दीर्घ लेखनाने चर्चिण्यासारखा आहे. ती सर्व चर्चा येथे न करता लोकशाही अस्तित्वांत यावी हे मत मान्य करूनच मी पुढे बोलतो. लोकशाही मान्य करण्यासाठी पहिली अवश्य गोष्ट आहे ती ही की, जे (समजा) शंभर घटक लोकशाही संघटनेचे असतील त्यांच्यांत बहुमताचा निर्णय मान्य करायचा, या मुद्द्यावर नुसतेंच बहुमत नव्हे, तर एकमतच हवे. ब्रिटिश पार्लमेंटांत प्रत्येक निर्णय बहुमताने ठरवितात. याचा अर्थ अल्पमतवाल्यांना बहुमताचे म्हणणे चुकीचे वाटले तरी ते त्याविरुद्ध शारीरबल न वापरता बहुमतापुढे



मान तुक्कवितात. म्हणजे अल्पमतवाल्यांनी सुद्धा बहुमताचा निर्णय हाच धिरसावंध मानावा, हें मत बहुमतवाल्यांच्या इतकेंच अल्पमतवाल्यांना मान्य असतें, ज्या देशांत बहुमतवाल्यांच्या हातीं सत्ता असेल व अल्पमतवाले म्हणजे विरोधी पक्ष हे उघड उघड कम्युनिस्ट अथवा फॅसिस्ट असतील, अशा देशांत लोकशाही शाश्वत राहिल अशी खात्री देतां येणार नाही. कारण, त्या अल्पसंख्य विरोधकांत शारीरबळ कमी असेपर्यंत ते बहुमतापुढे मान तुक्कवितील. शारीरबळ वाढलें की बंड करणें हें त्यांच्या तत्वाला सुसंगतच आहे. तसेंच कम्युनिस्ट व फॅसिस्ट हे बहुमतांत आले तर अल्पमतवाल्यांना कायमचे नेस्तनाबूद करण्यासाठी ते आपल्या सर्व बळाचा उपयोग करतील हेंहि त्यांच्या सिद्धान्ताशी सुसंगतच आहे. सांगण्याचा मुद्दा असा की, बहुमतवाल्यांचें राज्य असावें या सिद्धान्तावर निष्ठा असणाऱ्या एकजिनसी समाजांतच लोकशाही सुरक्षित राहते. असा एकजिनसी निष्ठेचा समाज नसेल तेथे लोकशाही डळमळीतच राहणार.

लोकशाही निर्माण करावी लागते

असा एकजिनसी समाज आहे असें गृहीत धरून सत्ताधारी पक्ष व विरोधी पक्ष यांच्या संबंधांचा विचार करावयाचा. या स्थितींत दोन्ही बाजूंनी निव्वळ अडवणूक अथवा आडमुठेपणा दोन्ही पक्षांनी करावयाचा नाही, असा आणखी एक संकेत उभय पक्षांनी पाळला पाहिजे. विधानमंडळासमोर येणाऱ्या कोणत्याहि विषयावर प्रथम पक्षसंघटनेंत चर्चा होऊन निर्णय ठरविले जातात. हे निर्णय कायमचे व पक्के न मानतां विधान मंडळांत खुली चर्चा व विचारविनिमय होऊन उभयपक्षांनी एकमेकांच्या मतास मान दिला जातो, असा समज रूढ होईल, असें वर्तन दोन्ही पक्षां इतकें प्रगटपणें झालें पाहिजे की, केवळ विधानमंडळांतच नव्हे, तर विधानमंडळाबाहेर सामान्य जनता, वृत्तपत्रें, विधानमंडळांत न जाणारे विचारवंत, या सर्वांची अशी खात्री पटली पाहिजे की, विधानमंडळांतील निर्णय हे केवळ बहुमताच्या अथवा अल्पमताच्या इत्वादाने नव्हे, तर एकमेकांचे विचार व व्यवहार समजूत घेऊन ठरविले जातात. यामुळे, ज्यांचीं मते बनलेलीं नसतात, बनण्याच्या अवस्थेंत असतात, त्यांची लोकशाहीनिष्ठा वाढेल. संघसरकारपासून स्थानिक स्वराज्यसंस्था-

पर्यंतच्या सर्व विधानमंडळांत अशीच प्रवृत्ति सर्वत्र राहिल याची काळजी घेतली पाहिजे. लोकशाहीचा गाभा बहुमत विरुद्ध अल्पमत हा नव्हे; तें फक्त एक तंत्र अथवा बाह्य स्वरूप आहे. परस्परांच्या प्रामाणिकपणाबद्दल विश्वास, परस्परांच्या मतांबद्दल आदर व विचारविनिमयांनी निर्णय ठरविण्यावर निष्ठा या गोष्टी लोकशाहीचा गाभा होत. जितक्या मानाने या गोष्टी असतील तितक्याच मानाने ती लोकशाही शुद्ध व सुरक्षित असेल.

विरोधी पक्षांनी राज्यकर्त्या पक्षास कळकळीचें सहकार्य द्यावें अशी प्रेरणा विरोधी पक्षांचे ठिकाणीं निर्माण करण्याची जबाबदारी बहुमतवाल्या पक्षावर विशेष प्रकारें असते. निव्वळ कायदे करण्यांतच नव्हे, तर लोकहिताच्या योजनांची जबाबदारी करण्यांतहि बहुमतवाला म्हणजे सत्ताधारी पक्ष आपलें सहकार्य घेतो, असें विरोधी पक्षाला राज्यकर्त्या पक्षाने अनुभवाने शिकविलें पाहिजे. जिल्हापातळीवरच्या विकासमंडळांत निवडणुकीने सदस्य घेणार, निव्वळ सत्ताधारी पक्षाची भरती करणार नाही, असें महाराष्ट्र सरकारने ठरविल्याचें जें ऐकण्यांत आहे त्यांत धाडस मोठें असलें तरी परिणामी ती गोष्ट हितकरच ठरेल. यामुळे सत्तेसाठी गटस्पर्धा ज्या होतात त्यांतली तीव्रता, चिडाचीड, विद्वेष, युद्धखोरी या प्रवृत्ति नाहीशा होऊन विधायक विकासकार्यांबद्दलची निष्ठा वाढेल. खुद्द राज्यकर्त्या पक्षांतहि कठोर व क्रूर स्पर्धा, क्रूर कारस्थाने चालू असतात. पण मुख्य मंत्री जसा सर्व पक्षसदस्यांनी निवडायचा तसेच बाकीचे मंत्रीहि पक्षसदस्यांनी निवडायचे ठरलें व त्या त्या पातळीवरच्या लोकशाहीवर वरच्या पातळीवरच्या 'लोकशाही'ने दडपादडपी करायची नाही असें ठरलें, तर राज्यकर्त्या पक्षांतील लाथाळी नष्ट होते व त्याचा घडा विरोधी पक्षाला मिळतो. सामान्यतः असें दिसतें की, फॅसिस्ट व कम्युनिस्ट यांसारखे लोकशाहीविरोधी पक्ष बलवान नसले आणि बहुमतवाल्या म्हणजेच सत्ताधारी पक्षांत अंतर्गत लोकशाही व खेळीमेळी असून विरोधी पक्षांच्या मताला मान देण्याची प्रवृत्ति असली तर विरोधी पक्षांत राज्यकर्त्या पक्षाशी सहकार्य करण्याची प्रवृत्ति वाढती राहते. पण वर सांगितलेले लोकशाही संकेत सर्वांनीच निष्ठेने पाळले पाहिजेत. लोकशाही ही निर्मायची असते. ती त्रिकालाबाधित सहजावस्था नव्हे.



महाराष्ट्राच्या इतिहासाची सामाज्य रेखा



वा. वि. मिराशी

माननीय श्री. यशवंतरावजी चव्हाण यांच्या अभिनंदनपर ग्रंथांत उपरिनिर्दिष्ट विषयावर छोटासा लेख लिहावा अशी चालकांकडून विनंती आली. तदनुसार महाराष्ट्राच्या प्राचीन इतिहासाच्या सद्यःस्थिती-विषयी संक्षिप्त माहिती देत आहे.

भारताच्या प्राचीन इतिहासप्रमाणें महाराष्ट्राच्याहि प्राचीन इतिहासाचे प्रागैतिहासिक काल, वेदपुराणकाल आणि ऐतिहासिक काल असे तीन ठोकळ भाग पडतात. त्यांपैकी प्रागैतिहासिक कालाविषयी अद्यापि फारसें संशोधन झाले नाही. पुराणाश्मयुग व नवाश्मयुग या कालांतील कांही अवशेष नागपूर जिल्ह्यांतील, कळमेश्वर, नवेगांव वगैरे ठिकाणी सापडले आहेत, पण या दृष्टीने संबंध महाराष्ट्राची सूक्ष्म पाहणी होणें जरूर आहे. नागपूर, चांदा व भंडारा जिल्ह्यांत अनेक ठिकाणी मोठमोठे दगड लावून बनविलेलीं शवस्थानें दृष्टीस पडतात, त्यांचेहि उत्खनन करून अभ्यास करणें जरूर आहे.

ऋग्वेदांत महाराष्ट्रांतील विदर्भादि देशांचा उल्लेख येत नाही, पण विंध्य पर्वत ओलांडण्याचा मार्ग दाखवून ज्यानें आर्योंचा दक्षिणापथप्रवेश सुकर केला त्या अगस्त्य ऋषीनें व त्याची पत्नी लोपामुद्रा हिनें रचलेल्या ऋचा ऋग्वेदाच्या पहिल्या मंडळांत घेतल्या आहेत. उपनिषदांत विदर्भांतील कांही ऋषींचा उल्लेख आहे. प्रश्नोपनिषदांत विदर्भ देशाच्या भार्गवाचें बृहदारण्यकोपनिषदांत विदर्भी कौण्डिन्य ऋषीचें नांव आले आहे. त्यावरून त्या काळांत विदर्भ प्रसिद्ध होता असें दिसते. त्यानंतरच्या पौराणिक कालांत अयोध्येचा अज, द्वारकेचा कृष्ण आणि निषध देशाचा नल या राजांच्या विदर्भांतील राजकन्यांशी झालेल्या विवाहांचें वर्णन हरिवंशांत व पुराणांत येतें. महाभारतांत पांडवांच्या तीर्थयात्रेच्या वर्णनांत महाराष्ट्रांतील पयोष्णी (पूर्णा), वेणा (वाहनगंगा), वरदा (वर्धा), गोदावरी इत्यादि नद्यांचा व जमदग्निपुत्र परशुरामाचें वास्तव्य असलेले शर्पारक (ठाणें जिल्ह्यांतील सोपारा), वराहतीर्थ, रामतीर्थ इत्यादि तीर्थस्थानांचें वर्णन आहे.

महाराष्ट्राचा ज्ञात ऐतिहासिक काळ

महाराष्ट्राच्या ऐतिहासिक कालाला मौर्य राजवटीपासून सुरुवात होते. अशोकाचा शिलालेख सोपारा येथें आणि त्याच्या महामात्र नामक अधिकाऱ्याचा चांदा जिल्ह्यांतील देवटेक येथें सापडला आहे. तसेंच त्याच्या शिलालेखांत पश्चिम महाराष्ट्रांतील राष्ट्रिक आणि विदर्भांतील



भोज लोकांचा उल्लेख आहे. त्यावरून महाराष्ट्र त्याच्या साम्राज्यांत मोडत होता यांत संशय नाही. त्याच्या निघनानंतर लौकरच सातवाहनांनी आपले स्वातंत्र्य पुकारले. त्यांची राजधानी मराठावाळ्यांतील प्रतिष्ठान (पैठण) येथे होती. सातवाहनांच्या काळांत वैदिक धर्माला पुनः राजाश्रय मिळाला. सातवाहननृपति प्रथम सातकर्णी व त्याची राणी नागनिका यांनी अश्वमेध, राजसूय, गवामयन इत्यादि अनेक श्रौत याग करून हजारों कार्षापण नाणी, घोडे, गाई यांच्या दक्षिणा दिल्या. त्यांचा बौद्ध धर्मालाहि उदार आश्रय होता. बौद्ध मिश्रकरिता त्यांनी नाशिक, काळे वगैरे ठिकाणी लेणी कोरविली आणि त्यांच्या योगक्षेमाकरिता गांव दान दिले. सातवाहनांचे राज्य महाराष्ट्रांत साडेचारशे वर्षे टिकले. या काळांत प्राकृत वाङ्मयाला मोठा बहर येऊन त्यांतील गाथासप्तशतीसारख्या उत्कृष्ट ज्ञानपद काव्याची निर्मिती झाली.

मध्यंतरी काही काळ पश्चिम महाराष्ट्र शकवंशी क्षत्रपांच्या अमलाखाली आला होता. नरपान व त्याचा जावई ऋषभदत्त यांचे लेख नाशिक वगैरे ठिकाणी मिळाले आहेत. त्या काळांत सातवाहनांना विदर्भांत आश्रय घ्यावा लागला होता, पण पुढे लौकरच गौतमीपुत्र सातकर्णीने त्यांचा उच्छेद करून पुनः पश्चिम महाराष्ट्र आपल्या अमलाखाली आणला.

सातवाहनांच्या कालानंतर महाराष्ट्रांत अनेक राज्ये उदयास आली. पश्चिम महाराष्ट्रांत आभीर राजांनी आपले राज्य स्थापले. त्यांचे व त्यांचे मांडलिक त्रैकूटक राजे यांचे लेख नाशिक व कान्हेरी येथे सापडले आहेत. आभीरांचे साम्राज्य पश्चिम महाराष्ट्र, गुजराथ व कोंकण या प्रदेशांवर पसरले होते. त्रैकूटकांची चांदीची नाणीहि पश्चिम महाराष्ट्र, कोंकण व गुजराथ येथे सापडली आहेत. आभीरांनी स्वतःचा शक चालू केला होता तो पुढे कलचुरिचेदि शके या नांवाने दीर्घकाल महाराष्ट्र, उत्तर भारत व छत्तीसगड या भागांत प्रचलित होता.

वाकाटक राजघट

याच काळांत विदर्भांत वाकाटकांचे राज्य स्थापन झाले. ते सुमारे अडीचशे वर्षे टिकले. वाकाटक वंशाच्या चार शाखा झाल्या होत्या असें पुराणांतील उल्लेखांवरून समजते, पण त्यांपैकी नंदिवर्धन (रामटेकजवळील नन्दवर्धन) आणि वत्सगुल्म (अकोला जिल्ह्यांतील वाशीम) या दोन शाखांचेच लेख आतांपर्यंत मिळाले आहेत. नंदिवर्धन शाखेचा उत्तरेतील गुप्त वंशाशी वैवाहिक संबंध होऊन सख्य झाले होते. गुप्त सम्राट् द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्याने आपली कन्या प्रभावतीगुप्ता हिचा विवाह वाकाटक नृपति द्वितीय रुद्रसेन याच्याशी केला होता. विवाहानंतर लौकरच रुद्रसेन स्वर्गवासी झाला तेव्हा प्रभावतीगुप्ता आपल्या अल्पवयी दिवाकरसेन नामक पुत्राच्या नांवें निदान तेरा वर्षे राज्य करीत होती. तिच्या मदतीकरिता द्वितीय चंद्रगुप्ताने आपले विश्वासू सेनापति व मुत्सद्दी विदर्भांत पाठविले होते. त्यांमध्ये कविगुल्मगुरु कालिदास हाहि होता असें दिसते. वाकाटकांची राजधानी नन्दिवर्धन येथे असतां कालिदासाने आपले विश्वविख्यात मेघदूत काव्य रचले. त्यांत निर्वासित यक्षाचे निवासस्थान म्हणून वर्णिलेला रामगिरि हा नन्दिवर्धन (नन्दवर्धन) जवळचें रामटेक होय.

वत्सगुल्म शाखेचा शेवटचा राजा हरिषेण याच्या काळीं वाकाटक साम्राज्य पश्चिमेस अरबी समुद्रापासून पूर्वेस बंगालच्या उपसागरापर्यंत आणि उत्तरेस नर्मदेपासून दक्षिणेस तुंगभद्रपर्यंत पसरले होते. वाकाटक नृपतींनी हिंदुधर्म, संस्कृत व प्राकृत वाङ्मय आणि स्थापत्य, शिल्प, चित्र इत्यादि कला यांस उदार आश्रय दिला, इतकेंच नव्हे तर स्वतःहि संस्कृत व प्राकृत काव्यें रचलीं. वाकाटक नृपति सर्वसेन यांचे हरिविजय आणि द्वितीयप्रवरसेन यांचे सेतुबंध या प्राकृत काव्यांची स्तुति अनेक कवींनी व आलंकारिकांनी मुक्तकंठाने केली आहे. त्या काळीं विदर्भांत इतकी उत्कृष्ट संस्कृत काव्यें रचलीं गेलीं कीं, त्यायोगें वैदर्भी नामक रीति सर्वमान्यता पावली. अजंठ्याची सोळा, सतरा व एकोणीस क्रमांकांचीं लेणी वाकाटक काळांतच कोरलीं गेलीं व चित्रशिल्पादिकांनीं विभूषित केलीं गेलीं. त्या काळीं अनेक हिंदु देवालये बांधलीं होती. त्यांपैकी एकाचे अवशेष वाकाटक राजधानी प्रवरपूर (सध्याचे पवनार) येथें श्री. विनोबांच्या आश्रमाच्या परिसरांत सांपडले आहेत.

वाकाटकांच्या काळीं दक्षिण महाष्ट्रांत सातारा, कोल्हापूर, दौंड या भागांत एक राष्ट्रकूट घराणें उदयास आले. त्यांचे काहीं ताम्रपट त्या प्रदेशांत मिळाले आहेत. त्यांना कुंतलेश्वर म्हणत. त्यांच्या दरबारीं द्वितीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्याने कालिदासास आपला वकील म्हणून पाठविले होते अशी आख्यायिका राजशेखर, भोज इत्यादि आलंकारिकांनी उल्लेखिली आहे.

चालुक्य, राष्ट्रकूट व शिलाहार

वाकाटकांच्या अस्तानंतर सन ५५० च्या सुमारास माहिष्मती (सध्याचे महेश्वर)च्या कलचुरींचें राज्य महाराष्ट्रांत प्रस्थापित झालें. त्यांचे लेख व नाणी नाशिक, मुंबई, अमरावती जिल्ह्यांतील धामोसी, नागपूरजवळचें नन्दिवर्धन येथें सापडलीं आहेत. कलचुरींनीं फोकरांत मौर्य घराणें मांडलिक म्हणून स्थापन केले. त्या काळीं मुंबईजवळचीं सुप्रसिद्ध धारापुरी लेणी कोरलीं गेलीं.

सातव्या शतकाच्या प्रथमार्धांत उदयास आलेल्या बदामीच्या चालुक्यवंशी द्वितीय पुलकेशी राजानें कलचुरी नृपति बुद्धराज याचा पराभव करून कुन्दल (दक्षिण महाराष्ट्र) पश्चिम महाराष्ट्र आणि विदर्भ असे तीन महाराष्ट्र आपल्या राज्यास जोडले. त्याचें वर्णन त्याच्या ऐहोळे येथील शिलालेखांत पुढीलप्रमाणें आलें आहे :

अगमदधिपतिर्ष्वं यो महाराष्ट्रकाणां

नवनवतिसहस्रप्रामभाजां त्रयाणाम् ॥

(जो पुलकेशी नव्याणव हजार गावें असतऱ्या तीन महाराष्ट्रांचा स्वामी झाला.)

द्वितीय पुलकेशीच्या काळीं सुप्रसिद्ध चिनी यात्रेकरू ह्युएन त्सींग भारतांत आला होता. त्याने महाराष्ट्राचा राजा पुलकेशी याचें व महाराष्ट्रायांचें वर्णन केले आहे. त्यांत तो म्हणतो, “पुलकेशी राजा क्षत्रिय असून स्वभावानें कृपाळू व उदार आहे. त्याचे प्रजाजन राजनिष्ठ आहेत. महाराष्ट्रीय लोक मोठे अभिमानी आहेत. कोणी त्यांचें कल्याण केले तर ते त्याबद्दल कृतज्ञ असतात, पण कोणी त्यांचें नुकसान केले तर ते त्याचा सूड उगवल्याशिवाय राहत नाहींत. शत्रूला पूर्वसूचना

दिव्याशिवाय ते त्याच्यावर हल्ला करीत नाहीत. ते पळपुठ्यांचा पाठलाग करतात, पण शरण आलेल्यांना जीवदान देतात. युद्धाच्या प्रसंगी ते सुरापान करून मस्त होतात, तेव्हा त्यांच्यापैकी एक एक दहा हजार प्रतिपक्ष्यांना भारी असतो. असे शूर लढवय्ये पदरी असल्याने पुलकेशी राजा शेजारच्या राजांना कस्पटाप्रमाणे लेखतो.” या शूर मराठ्यांच्या मदतीने पुलकेशीने उत्तर भारताचा अधिपति हर्ष याचा नर्मदातीरी पराभव केला आणि सर्व दक्षिणभर दिग्विजय केला.

चालुक्यांचा सन ७५० च्या सुमारास अस्त होऊन औरंगाबादजवळचे राष्ट्रकूट घराणे उदयास आले. याची आरंभीची राजधानी मयूरखंडी येथे होती. तिचा अद्यापि निश्चित शोध लागला नाही. काही कालानंतर ती मान्यखेड (सध्याचे मालखेड) येथे नेण्यात आली. या घराण्यांत ध्रुव, तृतीय गोविंद, तृतीय इंद्र, तृतीय कृष्ण इत्यादि शूर राजे उत्पन्न झाले. त्यांनी उत्तर हिंदुस्थानांत हिमालयापर्यंत स्वान्या करून सर्वत्र आपला दारा बसविला. दक्षिणेत यांचे फार विस्तृत असे साम्राज्य होतें. यांचे अनेक लेख महाराष्ट्रांत सर्वत्र मिळाले आहेत. यांच्या काळी संस्कृत विद्येस व स्थापत्यादि कलांस चांगले उत्तेजन मिळाले. वेरूळची जगद्विख्यात लेणी यांच्याच काळी कोरली गेली. त्यांतील कैलास हे लेणे तर जगांतील प्रमुख आश्चर्यांत गणले जाते. राष्ट्रकूट राजांचा जैन वाङ्मयासहि उदार आश्रय होता. त्यांच्या काळी अनेक उत्कृष्ट प्राकृत व अपभ्रंश भाषेंतील काव्ये निर्माण झाली.

राष्ट्रकूटांनी सन ८०० च्या सुमारास कोकणांत शिलाहार राजांची मांडलिक म्हणून स्थापना केली. हे शिलाहार मूळचे तगर (मराठवाड्यांतील तेर) या गांवाचे. म्हणून त्यांचे ‘तगरपुरविनिर्गत’ किंवा ‘तगरनगरभूषालक’ असे वर्णन धाडळते. या वंशाच्या मुख्य तीन शाखा होत्या. एका शाखेचे राज्य गोवे, सावंतवाडी आणि रत्नागिरी या दक्षिण कोकणावर होतें. याच्या राजधानीचा अद्यापि निश्चितपणे शोध लागला नाही. दुसरी शाखा उत्तर कोकणांत पुरी (जंजिऱ्याजवळची राजपुरी) येथून राज्य करीत होती. या शाखेचे अनेक ताम्रपट सापडले आहेत. या शाखेच्या अपरार्क किंवा अपरादित्य राजाने याज्ञवल्क्य स्मृतीवर लिहिलेली अपरार्क टीका सुप्रसिद्ध आहे. तिचा प्रसार उत्तरेत काश्मीरपर्यंत झाला होता. तिसरी शाखा कोल्हापूर येथून राज्य करीत होती. हिच्या पन्हाळा आणि वळिवडे अशा दुसऱ्याहि राजधान्या होत्या. कोल्हापूरची महालक्ष्मी ही या शाखेची कुलदेवता होती. कऱ्हाड येथेहि या शाखेचे राज्यकारभाराचे एक मुख्य स्थान होतें.

शिलाहारांना कोकणांतील राज्य राष्ट्रकूट सम्राटांच्या कृपेने मिळाले. तेहि आपल्या सम्राटांशी शोबटपर्यंत राजनिष्ठ राहिले.

राष्ट्रकूटांनंतर कल्याणीच्या चालुक्यांचा उदय झाला. यांचे अनेक कोरीव लेख महाराष्ट्रांत सर्वत्र सापडले आहेत. यांच्या काळी उज्जयिनी-धार येथील परमारांनी गोदावरीपर्यंत आक्रमण केले होते. पण पुढे तैलपाने मुंज राजाचा पराभव करून ते काही काळ परतवले. या वंशांतील महापराक्रमी राजा सहावा विक्रमादित्य याचा शके १००८ (सन १०८७) चा स्तंभलेख सीताबर्डीचा लेख म्हणून प्रसिद्ध आहे. तो मूळचा मांदक येथील विंथ्यासन टेकडीवर होता. या लेखांत एका ब्राह्मण

अधिकार्याने गाईच्या चरार्हकरितां कांही निवर्तनें जमीन दिल्याचा उल्लेख आहे.

देवगिरीचे यादव

बाराव्या शतकाच्या अखेरीस देवगिरीचे यादव उदयास आले. यांचे साम्राज्य उत्तरेस गुजराथपासून दक्षिणेत कर्नाटकापर्यंत पसरले. यादव-नृपति सिंघण यांच्या काळी त्याचा सेनापति खोलेश्वर हा मूळचा विदर्भातील होता. त्याने उत्तरेत बारामासीपर्यंत स्वान्या केल्या होत्या. त्याने विदर्भांत अनेक धार्मिक कृत्ये केली. त्याने आपल्या नांवे खोलापूर नामक अग्रहार स्थापून तो ब्राह्मणांस दिला. हे गांव अमरावतीजवळ अद्यापि आपल्या प्राचीन नांवाने विद्यमान आहे. यादव वंशांतील रामचंद्र राजाने वाराणसीतून मुसलमानांना पिटाळून तेथे शाहूगंधराचे देवालय बांधले. तसेच त्याच्या राघव नामक अधिकार्याने रामटेक येथे लक्ष्मणाचे देवालय उभारले. महाराष्ट्रांत इतरत्रहि अनेक ठिकाणी यादव काळांत देवळे बांधली गेली. त्यांच्या स्थापत्यपद्धतीला ‘हेमाडपंती’ असे नांव आहे.

देवगिरीच्या यादवांच्या राजवटीत संस्कृत वाङ्मयाला उदार राजाश्रय मिळाला. सुप्रसिद्ध हेमाद्रि पंडित हा महादेव व रामचंद्र यांच्या कारकीर्दीत ‘श्रीकरणाधिप’ म्हणजे सचिवालयचा प्रमुख होता. याने ‘चतुर्वर्गचिंतामणि’ नामक धर्मशास्त्राचा बृहत्कोश रचला होता. याशिवाय ‘आयुर्वेदरसायन’ आणि ‘सुक्ताफलटीका’ हे ग्रंथहि त्याच्या नांवावर मोडतात. हेमाद्रीचा आश्रित बोपदेव याने सव्वीस ग्रंथ संस्कृतांत लिहिले होते. त्यांमध्ये व्याकरणवैद्यक, तिथिनिर्णय, साहित्य, भागवत वगैरेवर ग्रंथ आहेत. याने तयार केलेले मुग्धबोध व्याकरण समजण्यास सोपे असल्याने त्याचा प्रसार अद्यापि बंगाल प्रांतांत चालू आहे. रामदेवराव यादवांच्या काळी सन १२९० मध्ये मराठीतील मूध्दय ग्रंथ ज्ञानेश्वरी लिहिला गेला.

यादवांच्या राजवटीत विदर्भात महानुभाव पंथाचा उदय झाला. या पंथाचे मूळ पुरुष गोविंद प्रभु ऊर्फ गुंडम राउळ हे कण्ठशास्त्रीय ब्राह्मण असून अमरावतीजवळ ऋद्धपूर गांवी राहत होते. त्यांचे शिष्य गुजराती नागर ब्राह्मण हरिपाल ऊर्फ चक्रधर यांनी विदर्भात महानुभाव पंथाची स्थापना व प्रसार केला. यादव घराण्यांतील कांही पुरुष व स्त्रियाहि या पंथाचे अनुयायी बनले होते असे दिसते. हा पंथ कृष्णोपासक व भक्तिमार्गी होता तरी त्याचे कांही आचार तत्कालीन लोकांस विचित्र व सनातन वैदिक धर्माच्या विरुद्ध होते असे दिसते. त्यामुळे रामदेवराव यादवांच्या काळी या पंथाचा थोडाबहुत छळ झाला असावा. तथापि हेमाद्रीच्या आज्ञेने श्रीचक्रधराचा वध झाला असे जे विधान कांही महानुभावीय ग्रंथांत केले आहे, त्याला पुरेसा आधार नाही. याच्या उलट श्रीचक्रधर बदरिकाश्रमास निघून गेले हे कांही महानुभाव पोथ्यांतील विधान जास्त संभवनीय वाटते. चक्रधराच्या वधानंतर रामदेव राजास उपरति होऊन त्याने हेमाद्रीला छळ करून ठार मारले, हे कांही महानुभाव पोथ्यांतील विधान इतर बलवत्तर पुराव्यावरून आता असत्य ठरले आहे.

श्रीचक्रधरांनी आपल्या पंथाचा उपदेश मराठीत करण्याचा उपक्रम केल्यामुळे त्या काळी मराठीत उत्तम ग्रंथरचना झाली. कवीश्वर भास्कर भट्टाचे ‘शिशुपालवध’ व ‘एकादशस्कंध,’ दामोदर पंडिताचे ‘वत्सहरण,’

नरेंद्र कवीचें 'रुक्मिणीस्वयंवर' इत्यादि ग्रंथांना महानुभावपंथांत पूज्य मानलें जातें. मराठीच्या आद्य वाङ्मयांत यांची गणना होते.

यादवांच्या राजवटींत वैदिक धर्मीयांनीं हि मराठींत उत्कृष्ट ग्रंथरचना केली. मराठीतील आद्य ग्रंथकार मुकुंदराज यांचे विवेकसिंधु व परमामृत हे ग्रंथ सुप्रसिद्ध आहेत. ज्ञानेश्वरीचा उल्लेख मागें केला आहेच.

तेराव्या शतकाच्या अखेरीस यादवांच्या राज्यावर मुसलमानांची स्वारी होऊन तींत रामदेवरावाचा पराभव झाला आणि त्याला शत्रूला जबर खंडणी देणें भाग पडलें. यानंतर यादवांच्या राज्याला उतरती कळा लागून लौकरच महाराष्ट्र मुसलमानांच्या अंमलाखालीं गेला.

याप्रमाणें गेल्या शे-दीडशें वर्षांत अनेक पाश्चात्य व भारतीय संशोधकांच्या परिश्रमानें महाराष्ट्राच्या प्राचीन इतिहासाची उभारणी झाली आहे. याकरितां त्यांना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व मराठी भाषांतील वाङ्मय, कोरीव लेख व नाणीं, स्थापत्य, शिल्प व चित्रकलांचे अवशेष, परकी प्रवाशांचीं प्रवासवर्णनें इत्यादिकांचा सूक्ष्म अभ्यास करून कणाकणानें माहिती जमवावी लागली आहे. आतां महाराष्ट्राच्या प्राचीन इतिहासाची ठोकळ रूपरेषा माहीत झाली असली तरी त्यांत अनेक ठिकाणीं रंग भरणें अवश्य आहे. हें काम करण्यास अनेक उत्साही संशोधक पुढें येतील अशी अपेक्षा आहे.



“महाराष्ट्रांत गुणाची अवहेलना केली जाणार नाही. कोठल्याहि क्षेत्रांत सत्तास्थानांत निवडणुकींत गुणवत्तेला महत्त्व कायम टिकविलें जाईल अशी माझी ग्वाही आहे. त्याशिवाय महाराष्ट्राचें आपण भलें करूं शकणारच नाही अशी माझी श्रद्धा आहे.”

—श्री. चव्हाण
(सांगलीचें भाषण)

क्षात्रधर्म हाच राष्ट्रधर्म

साहित्याचार्य बाळशास्त्री हरदास

महाराष्ट्र राज्याचे मुख्य मंत्री श्री. यशवंतराव चव्हाण हे क्षत्रिय आहेत. त्यांच्या वाढदिवस-समारंभाच्या निमित्ताने राष्ट्रसंरक्षणासाठी आवश्यक असलेल्या क्षात्रधर्माचे स्वरूप या लेखांत दिग्दर्शित करणे समुचित होईल.

विषमतापूर्ण व पशुभावविशिष्ट जगांत केवळ नैतिक आदर्शांनी जीवन जगातां येण्याची कधीच शक्यता नसते. म्हणूनच महर्षि व्यासांनी म्हटले आहे, “शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते।” (“शस्त्राने संरक्षिलेल्या राष्ट्रांतच शास्त्रचिंतन व तत्त्वचिंतन शक्य असते.”) नुसते बाह्य आक्रमणापासूनच नव्हे, तर एक स्थिर व अनुशासनबद्ध समाजरचना चालवावयास व तिच्या द्वारे समाजाचा विकास घडवून आणावयास या सामर्थ्याची आवश्यकता आहे. प्रबल दंडशक्तीवरच कोणतीही मूल्ये व व्यवस्था चिरस्थायी होणे अवलंबून असते. या शक्तीचे महत्त्व ज्यांनी ओळखले नाही त्यांना समाजाचा विकास तर घडवून आणतां आला नाहीच; पण स्वतःचा व आपल्या राष्ट्राचाहि नाश मात्र त्यांनी ओढवून घेतला असे जगाचा इतिहास सांगतो. राजर्षि मनूनने त्रिगुणात्मक जगाच्या व्यवहाराचे व त्यांतील तमोगुणावर अधिष्ठित असणाऱ्या प्रवृत्तीचे अत्यंत सूक्ष्म निरीक्षण करून असा सिद्धान्त सांगितला आहे कीं,

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्भोगाय कल्पते ॥
देवदानवगंधर्वाः रक्षांसि पतंगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥

(मनुस्मृति अ. ७ वा, श्लोक : २२, २३ व २५)

“जगामध्ये कोणत्याहि बलाधिष्ठित अनुशासनाचा धाक नसतांना स्वयंप्रेरणेने विशुद्धपणे वागणारा मनुष्य अत्यंत दुर्लभ आहे. वस्तुतः सर्व लोक दंडाच्याच समर्थ्याने नियंत्रित असतात. मनुष्यच काय पण देव, दानव, गंधर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प इत्यादि जगांतील उच्च व नीच योनिविशेष सुद्धा केवळ दंडाच्याच धाकाने आपापल्या अनुशासनाच्या सीमारेषेत असतात. ज्या ठिकाणी श्यामवर्णाचा, आरक्त नेत्रांचा व पापाचा विनाश करणारा दंड सतत फिरत असतो त्याच ठिकाणी प्रजांना कर्तव्याकर्तव्याच्या संबंधांत कधी मोह उत्पन्न होऊं शकत नाही. मात्र दंडनीतीचा प्रेरक



असणारा नेता तिचें रहस्य ओळखून योग्य प्रेरणा देणारा असला पाहिजे. ” या दंडनीतीचें प्रत्यक्ष प्रतीक म्हणजे राज्यसंस्था असून ही राज्यसंस्था ज्या वर्गांतून उत्पन्न होते व ज्या वर्गाच्या बळावर मुख्यतः अधिष्ठित असते त्या वर्गाला क्षात्रवर्ण असें भारतीयानीं म्हटलें आहे. तपस्वी वर्गानें या वर्णाची निर्मिति केली असें शतपथ ब्राह्मणांत वर्णन आहे. देश व धर्म यांसाठीं लढणारा योद्ध्यांचा वर्ग म्हणजे क्षत्रिय.

वस्तुतः इतिहासाच्या कोणत्याहि कालखंडांत युद्धे हीं अनिवार्य आहेत. केवळ बाह्य परिस्थितीलाच युद्धाचें प्रधान कारण समजणें हेहि चुकीचें आहे. बाह्य परिस्थिति व अंतःप्रवृत्ति या दोन्ही कारणांमुळे युद्धे निर्माण होत असतात. व्यक्तिजीवन हा समाजजीवनाचाच एक भाग असल्यामुळे व्यक्तीची इच्छा असो अगर नसो, पण सामाजिक मनाच्या प्रवाहांत व्यक्तीला पुष्कळदा वाहत जावेंच लागतें; व सामाजिक जीवनांत युद्धे अनिवार्य ठरतात. जगाच्या युद्धांचा इतिहास पाहून त्यांच्या उद्भवनांच्या कारणांची मीमांसा केली तर असें आढळून येईल की, सामान्यतः या युद्धांचीं कारणे पुढीलप्रमाणे आहेत :

१) युयुत्सु प्रवृत्ति, २) शांततेनें जीवन जगण्याचा कंटाळा, ३) साहसीपणाची आवड व काही तरी पुरुषार्थ गाजविण्याची महत्त्वाकांक्षा, ४) मांडखोरपणा व अपहरण करण्याची प्रवृत्ति, ५) स्वसंरक्षणाची आवश्यकता, ६) शीघ्रकोपी मनोवृत्ति, ७) मत्सरीपणा व स्पर्धा-प्रवृत्ति, ८) स्वामित्वाची आकांक्षा, व ९) विजेतृत्वाच्या कीर्तीची आकांक्षा.

यांपैकीं कोणत्या ना कोणत्या कारणांनीं युद्धे अटळ असल्यामुळे प्रत्येक लोकसंघाला व राष्ट्राला खडे सैन्य व सिद्धहस्त नेतृत्व यांची आवश्यकता असते. यासंबंधांत पूर्ण विचार करून भारतीयानीं जी व्यवस्था केली ती आजहि अनेक दृष्टींनीं विचाराईं ठरते.

आज रशियामध्ये व योद्ध्याच विवसापूर्वी इटाली, जर्मनी व जपान या देशांतून आपापले राष्ट्र सदैव सामर्थ्यसंपन्न राखण्यासाठीं सर्व लोकांत सैनिकी प्रवृत्ति सदैव जागृत राहिल अशा शिक्षणपद्धतीचाच अंगीकार करण्यांत आला आहे. या शिक्षणयंत्राच्या द्वारे सारें सारें राष्ट्र युद्ध-प्रवृत्त व युद्धास्तव सिद्ध अशा मनोवृत्तीचें करण्यांत येतें. किंत्येक राष्ट्रांतून तर सैनिकी शिक्षण सक्तीचें करण्यांत येऊन प्रत्येक पुरुषाला सैनिक म्हणून कांही काळ काम करण्यास भाग पाडण्यांत येतें. त्याचा परिणाम समाजातील सुव्यवस्था व धैर्य यांना धक्का लागण्यांत आणि सांस्कृतिक व अन्य विकासांनाहि पुरेसा वाव न मिळण्यांत होतो. ज्या मनुष्याचें ज्या क्षेत्रांत काम करण्याचें निश्चित असेल त्याच्यावर लहानपणापासून तेच संस्कार करणें व त्या दृष्टीनेच त्याचें विकसन घडवून आणणें आवश्यक असतें. ज्याला युद्धासाठीं अखंड सिद्ध राखावयाचें आहे त्याच्या मनांत विजेतृत्वाची आकांक्षा निर्माण करणें, रक्तपात व संहार यांच्याविषयीं घृणा न वाटेले असें त्याचें भावजीवन सिद्ध करणें, कशाचीहि मीति वाटणार नाही अशी मनोवृत्ति सिद्ध करण्यासाठीं विशिष्ट प्रकारच्या वातावरणांत त्याला लहानपणापासून वाढविणें, युद्ध हाच धर्म वाटेल व शस्त्राघाताचें प्राणार्पण हेंच सर्वश्रेष्ठ ध्येय वाटेल असा आदर्श सतत मनावर बिंबविणें, भौतिक ऐश्वर्याच्या सीमित उपभोगाची इच्छा व लालसा अंतःकरणांत जागृत राहिल, करणार नाही अशाच पद्धतीनें

त्याच्या मनाची मद्यागत करणें इत्यादि गोष्टी आवश्यक ठरतात. हे संस्कार समाजाच्या सांस्कृतिक शिक्षकाचें काम करणाऱ्या वर्गावर करणें अर्थात् योग्य नाही. तात्पर्य, सैनिकाचे संस्कार वेगळे व अन्य वर्गाचे वेगळे असें ठरवून भारतीयानीं एका वर्गावर हे संपूर्ण संस्कार केले. हे संस्कार ज्या वर्गासाठीं त्यांनी सीमित केले तो क्षत्रियांचा वर्ग होय. त्याचा परिणाम अखंड युयुत्सु प्रवृत्तीपासून शांतताप्रधान विकसनाचें कार्य करणारा समाज वेगळा राखण्यांत आला व एक आश्चर्यकारक दृश्य भारतीय राष्ट्रांत दिसू लागलें. आणि तें दृश्य म्हणजे प्रत्यक्ष युद्धे व युद्धसंस्थेचीं कामे जोरांत असलीं तरी त्यापासून इतर समाजघटकांच्या कार्यांना कोणताहि अडथळा उत्पन्न होत नसे. देश व धर्म यांच्या संरक्षणासाठीं प्राणार्पण करण्याची सदैव सिद्धता असणाऱ्या या वर्गाकडे सर्वच्या सर्व समाज अत्यंत आदरानें पाही व भौतिक जीवनांतील सत्तेच्या अत्युच्च जागा या वर्गासाठीं मोकळ्या ठेवलेल्या असून त्यांच्या राष्ट्र-रक्षणाच्या महत्त्वपूर्ण कामगिरीचें मोल लक्षांत घेऊन त्यांचें वजन, उच्च अधिकार व विशिष्ट सवलती यांविषयीं समाजांतील कोणत्याच थराच्या मनांत मुळीच मत्सर व असूयेचा भाव नसे. आयुधजीवी संघ सर्वच प्राचीन राष्ट्रांत होते. जगातील श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी पुरुषांचें राष्ट्रहि सामर्थ्याच्या अभावीं कसें नष्ट होतें हा ग्रीक राष्ट्रांच्या इतिहासावरून मिळणारा धडा विसरण्यासारखा नाही. म्हणूनच ऋग्वेदांत म्हटलें आहे :

“अनायुधा स असता सचन्ताम् ।” (ऋ. ४, ५, १४)

“जे निःशस्त्र असतात त्यांना नेहमीच दुर्दैवाचें व दुःखाचें जीवन लाभतें.”

त्यामुळे भारतीयानीं क्षात्रवर्णाची निर्मिति केली हे खरें असलें तरी इतर राष्ट्रांतील बलोपासक लढवण्यांचा वर्ग यांत व क्षत्रिय वर्ग यांत अतिशय अंतर आहे, हे क्षात्रवर्णांच्या संस्कार व शिक्षण पद्धतीचें सूक्ष्म निरीक्षण केलें तर आढळून येईल. भारतीयानें हे वैशिष्ट्य आहे की, त्यांनीं पराक्रम व पशुत्व यांची क्षात्रवर्मांच्या उभारणांत गळत होऊं न देतां पशुत्व विरहित पराक्रमाचें संवर्धन केले. युद्ध व संरक्षण, राज्यविस्तार व हिंसा यांनाहि धर्माच्या नियंत्रणांत ठेवून त्यांनीं मानवतेचे हितशत्रु ठरण्यापासून स्वतःला वांचविलें आहे. आयुधजीवी लोकांच्या युद्धोन्मुखतेचें त्यांनीं समर्थन केले, पण ध्येयवादाची आधारशिला तिला दिली. संन्यास त्यांनीं या वर्गाला निषिद्ध ठरविला. पण राष्ट्ररक्षणाच्या कामीं प्राणत्याग करणारा योद्धा व ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी यांना मोक्षाचे समान अधिकारी ठरविलें. पराक्रमाचें प्रख्यापन हा क्षत्रियाचा बाणा असला तरी भारताच्या इतिहासांत अंगीं सिंहासारखा पराक्रम असून चेंगीजखान, तैमूरलंग, नादिरशहा, जनरल हॉटसन, जनरल मील यांच्यासारखे नरराक्षस उत्पन्न न होतां मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रापासून तर पुण्यश्लोक श्रीशिवछत्र-पतीपर्यंत पुण्यश्लोक राजर्षींचीच परंपरा निर्माण झालेली आहे. रणांगणावर प्राणार्पण करणें हाच ज्याचा मोक्ष, पराक्रमाचें प्रख्यापन हाच ज्याचा बाणा व जें पराक्रमानें संपादन करण्यांत येईल त्याचाच स्वीकार हे ज्याचें महाव्रत त्या या वर्गांतून पशुत्वविरहित पराक्रमी वृत्तीचा कसा आविष्कार झाला होता हे पाहावयाचें असलें तर भारतीयानें युद्धाचें नीतिशास्त्र पाहिलें पाहिजे. त्यांतील कांहीं नियम पुढीलप्रमाणे :

१. चिलखत न घातलेल्या व शिरस्त्राण नसलेल्या शत्रूवर प्रहार करू नये.

२. शत्रू धर्मयुद्धाचे नियम पाळीत असेल तर आपणाहि ते पाळावेत.

३. शरण आलेल्या भयग्रस्त शत्रूवर प्रहार करू नये.

४. वृद्ध, बाल व स्त्रिया यांच्यावर प्रहार करू नये.

५. युद्धांत भाग न घेणाऱ्या लोकांवर प्रहार करू नये.

हे नियम नुसते तत्त्वविमर्शाच्या ग्रंथांत उल्लेखिलेले आदर्श नसून ते प्रत्यक्ष व्यवहारांत असल्याचा पुरावा उपलब्ध आहे.

ख्रिस्तपूर्व चौथ्या शतकांत या देशांत चंद्रगुप्त मौर्याच्या राजसभेत असलेला ग्रीक वकील मेगॉस्थेनिस यासंबंधांत जे लिहितो तें मनन करण्यासारखें आहे. मेगॉस्थेनिस हा भारतीय राष्ट्राचा मित्र नसून शत्रु होता ही गोष्ट ध्यानांत घेतली तर त्याच्या या साक्षीचें महत्त्व विशेषच ध्यानांत भरतें. मेगॉस्थेनिस म्हणतो,

“Whereas among other nations it is usual in the contests of war to ravage the soil and thus reduce it to an uncultivated waste; among the Indians, on the contrary, by whom husbandmen, are regarded as a class that is sacred and invariable, the tillers of the soil, even when the battle is raging in their neighbourhood, are undisturbed by any sense of danger, for the combatants on either side in waging the conflict make carnage of each other, but allow those engaged in husbandry to remain quite unmolested. Besides, they neither ravage in enemy's land with fire, nor cut down its trees; nor would an enemy coming upon a husbandman at work on land do him harm, for men of this class, being regarded as public benefactors, are protected from all injury.”

(इतर राष्ट्रांमध्ये ही सर्वसामान्य गोष्ट आहे की, युद्ध चालू असतांना सारा प्रदेश पिकाला पूर्ण निरुपयोगी होईल इतकी त्याची नासाडी करण्यांत येते. पण हिंदुस्थानांत याच्या नेमका उलटा प्रकार दृष्टीस पडतो. जमिनीची लागवड करणारे शेतकरी येथे अत्यंत पवित्र समजण्यांत येतात. इतके की, प्रत्यक्ष शेजारी युद्ध चालू असतांही सर्व प्रकारच्या भीतीपासून ते मुक्त असतात. उमय बाजूचे योद्धे परस्परांशी युद्ध करीत असतांनाहि जे आपल्या न्यवसायांत निमग्न असतात त्या शेतकऱ्यांना ते मुळीच उपद्रव देत नाहीत. इतकेंच नव्हे, तर येथे शत्रूवर विजय मिळविल्यावरहि विजेता आपल्या शत्रूच्या प्रवेशांना कधी आग खवून बेचिरास करीत नाही. भयवा त्याच्या उद्यान व वनस्पति संपत्तीचा कधी नाश करीत नाही. कारण की, हा वर्ग समाजभरणाचें काम करणारा असल्याची जाणीव ठेवून त्याला सर्व प्रकारचें संरक्षण देण्यांत येतें.)

पराक्रम व पशुत्व यांनी आजवर कोणीहि फारकत करू शकला नाही. आज तर या दोन गोष्टी अधिकच एकाम् एकाल्या आहेत. भारतानें क्षात्रवर्णांच्या द्वारे ही गोष्ट साध्य करून दाखविली हें त्याचें ऐतिहासिक वैशिष्ट्य होय.

पण विषमतापूर्ण जगांत शत्रू जर पशुतेच्या पराकोटीला पोहोचलेला असला व त्यांतून आपल्या राष्ट्राच्याच जीवनमरणाचा प्रश्न उत्पन्न होत असला तर मात्र या नीतीचा परित्याग करून स्वतःच्या राष्ट्राला अजेय राखणें हाच धर्म ठरतो. जी जी गोष्ट राष्ट्रनाशक व आत्मनाशक असते

ती ती अवश्य व त्याव्यवह होय असें पूर्णावतार श्रीकृष्ण, शुक, बृहस्पति व कौटिल्य या भारतीय राजनीतिशास्त्रविशारदांचें म्हणणें आहे. दूध पाजणें हें योग्य असलें तरी सापाला तें पाजवें काय? कौटिलीय अर्थशास्त्रांत या प्रसंगाचा धर्म सांगतांना कौटिलीय म्हणतो, “चातुर्वर्ण्यरक्षार्थ औपनिषदिकमधमेषु प्रयुजीत।” ज्या वेळीं चातुर्वर्ण्यात्मक समाजरचनेचें म्हणजेच भारतीय राष्ट्रच्या राष्ट्र आसुरी पद्धतीनें आक्रमण करणाऱ्या लोकांच्या भक्षस्थानीं पडण्याचा प्रसंग येतो त्या वेळीं ज्या मार्गानें शत्रूचा विनाश होऊन आपलें संरक्षण होईल त्या सर्व मार्गांचा अवलंब हाच धर्म होय. आपण उदात्त असावें, पण बावळट नसावें असा कौटिल्याचा अभिप्राय आहे. पुण्यश्लोक शिवछत्रपतींच्या रणनीतीचें वर्णन करतांना शिवदिग्विजयांत म्हटलें आहे, “हृष्टी कलियुगाधर्म चित्याचें युद्ध महाराष्ट्रधर्मी युक्त योजना केली.”

ज्या वेळीं राष्ट्रवर सर्व बाजूंनी मर्यादातीत संकटे व अत्याचारी शत्रूंचीं आक्रमणें कोसळत असतात त्या वेळीं राष्ट्रांतील सर्वच्या सर्व समाजाचा शस्त्र हातांत धारण करून सैनिक म्हणून उभें राहणें हाच एकमात्र धर्म असतो. महाभारताच्या शांतिपर्वांत भीष्म युधिष्ठिराला राष्ट्रधर्म सांगतांना म्हणतात.

“अमर्याद प्रवृत्तेः शत्रुभि सङ्गरे कृते।

सर्वे वर्णाश्च दृश्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥”

पण आयत्या वेळीं सारे राष्ट्रच्या राष्ट्र शस्त्र हातांत घेऊन सैनिक म्हणून उभें ठाकावयास त्या राष्ट्रांतील सर्वच्या सर्व राष्ट्रघटकांना शस्त्रास्त्र विद्येचें व सैनिक जीवनाचें शिक्षण मिळणें आवश्यक असतें. याचसाठीं लोकतंत्र राष्ट्रांत सक्तीचें सैनिक विद्येचें शिक्षण ही गोष्ट भारतीय गणराज्याच्या प्राचीन पुरस्कर्त्यांनी अनिवार्य मानलेली आहे. महाभारताच्या राजधर्म प्रकरणांत या गोष्टीचा पुरस्कार केलेला असून भगवान गौतमबुद्धाच्या जातककथांमधूनहि हा पुरस्कार केलेला आढळतो.

आज आपल्या राष्ट्रावर अशीच भीषण स्थिति येऊन कोसळलेली आहे. सध्यां आपण चीनच्या आक्रमणाच्या छायेत आहोत. आपल्या सुननतेला कसलीहि भीक न घालता आपलें शेजारी राष्ट्र पाकिस्तान आपलें आक्रमक धोरण पुढें दामटीत आहे. गोव्याचें चिमुकलें राष्ट्रसुद्धां आपल्याला किंमत द्यावयास सिद्ध नाही. हीं बाह्य आक्रमणें व अंतर्गत फूट आणि भांडणें यांपासून राष्ट्राचें संरक्षण करण्यासाठीं क्षात्रधर्माचें पुनरुज्जीवन खऱ्या अर्थाने आवश्यक आहे.

महाराष्ट्राचे कर्तृत्वसंपन्न मुख्य मंत्री माननीय यशवंतरावजी चव्हाण यांनी मागच्या वर्षी पुण्याला महाराष्ट्रीय मंडळाचे कार्यवाह कॅप्टन शिवरामपंत दामले यांच्या एकसष्टी समारंभाच्या अध्यक्षपदावरून श्री. काका कालेलकर यांना उत्तर देणाऱ्या भाषणांत असे उद्गार काढले होते की, “भारतांतील लोकशाहीच्या संरक्षणासाठीच महाराष्ट्रांत सैनिक वृत्तीची जोपासना करणें आवश्यक आहे.”

भारतांतील लोकशाहीचें भवितव्य उज्वल राहण्यासाठीं महाराष्ट्राचे क्षत्रिय मुख्य मंत्री यशवंतराव चव्हाण पुण्यश्लोक शिवरायांचा हा महाराष्ट्र खऱ्या अर्थाने भारताचा खड्गाहस्त बनवितील अशी आशा बाळगणें अनुचित ठरणार नाही !

महाराष्ट्रातील बुद्धिवाद



श्री. ह. रा. महाजनी

संपादक, लोकसत्ता, मुंबई

असहकारितेच्या चळवळीत मी होतो, तेव्हापासून महाराष्ट्र बुद्धिवादी असल्याचा दावा मी ऐकत आलो आहे. १९२७ च्या सुमारास महाराष्ट्रामध्ये फेर आणि नाफेर पक्षाची लढत येन रंगांत आली होती. त्यावेळी महाराष्ट्रांत टिळकपंथीय फेरवादी पक्षाचा जोर होता. नाफेरवादी म्हणजेच कट्टर गांधीवादी त्या मानाने मागे पडले होते. पुणेकर विद्वानांच्या उपहासाचा विषयही झाले होते. वादामध्ये दोघेहि इतर प्रांतांपेक्षा महाराष्ट्र बुद्धिवादी आहे असे सांगत असत. मात्र नाफेरवाद्यांच्या मताने महाराष्ट्राचा बुद्धिवादच महाराष्ट्र मागे पडण्यास कारणीभूत झालेला होता, तर फेरवाद्यांना महाराष्ट्र बुद्धिवादी असल्याबद्दल अभिमान वाटत होता. नाफेरवादी महात्माजींचे पुढील उद्गार सद्गदित अंतःकरणाने सांगत असत की, "महाराष्ट्र म्हणजे विधायक कार्यकर्त्यांचे मोहोळ आहे; पण महाराष्ट्रांत श्रद्धा नाही." उलटपक्षी त्यावेळी टिळकपंथीय फेरवादी अभिमानाने महाराष्ट्र बुद्धिवादी असल्याचा उल्लेख करित. महाराष्ट्र बुद्धिवादी असल्यानेच महाराष्ट्रांत गांधीवादाचा जन्म बसणार नाही, असा त्या अभिमानामागचा भावार्थ. बुद्धिवादापासून असे दोन टोकाचे दोन निष्कर्ष निघालेले पाहून विचारी मनाला क्षणभर गममत वाटल्यावाचून राहणार नाही. बुद्धिवाद इतका लवचिक कसा असा संदेहहि मनांत निर्माण होईल. परंतु अशा वेगवेगळ्या प्रतिक्रिया होत असल्या तरी महाराष्ट्र बुद्धिवादी आहे यावरची आपली श्रद्धा कायम आहे. त्या श्रद्धेची थोडी तपासणी झाली पाहिजे.

इंग्रजीत ज्याला 'रॅशनलिझम' असे म्हणतात, त्याचा 'बुद्धिवाद' हा मराठी तर्जुमा होय. पण मी बुद्धिवाद हा शब्द या अर्थाने वापरीत नाही. म्हणून बुद्धिवादाविषयी थोडा अधिक खुलासा करतो. प्रथमच हे सांगितले पाहिजे की, बुद्धिवादी आणि बुद्धिजीवि यांत फरक आहे. बुद्धिजीवि म्हणजे बुद्धीवर जगणारा. यामध्ये मानवी बुद्धीच बऱ्यावाइटाचा अथवा कार्याकार्याचा अंतिम निर्णय घेणारे साधन आहे या तत्त्वाचा संबंध येत नाही. श्रमजीवि जसे श्रम विकतो तसा बुद्धिजीवि बुद्धि विकतो. बुद्धि त्याच्या चरितार्थाचे एक साधन असते. बुद्धिजीवि लोकांत अनेक बुद्धिमान असू शकतील; नव्हे आहेतहि. परंतु त्या बुद्धीचा उपयोग कशासाठी करावयाचा हे त्यांच्या स्वाधीन नसते. 'मी तो इमाल भारवाही' ही त्यांच्या बुद्धीची स्थिति. बुद्धिवादाचे याच्या उलट आहे. जीवनाचे



एक मार्गदर्शक तत्त्व म्हणून बुद्धिवादांत बुद्धीला स्थान आहे. जीवनांतील महत्त्वाच्या समस्या सोडविण्याच्या कामांत बुद्धि हेच सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होय ही श्रद्धा या बुद्धिवादांत राहिली धरलेली आहे. 'बुद्धीवर श्रद्धा' हा कित्येकांस वदतो व्याघात वाटण्याचा संभव आहे. पण तसे नाही. कारण बुद्धिवाद म्हणजे केवळ तार्किकता अथवा तर्ककर्मशता नाही. या सृष्टीतील यच्चयावत् रहस्ये अथवा जीवनांतील सर्व समस्या बुद्धीच्या साहाय्याने छुटतील असा बुद्धिवादाचा दावा नाही. श्रेष्ठ लोकांनी तत्त्वज्ञान, नीति, विज्ञान निर्माण केली अथवा त्यांत भर घातली त्यांच्याविषयी बुद्धिवादाला अनादर वाटत नाही. बुद्धीची अपूर्णता आणि पूर्वाचार्यांचे मोठेपण मान्य करूनही, जीवनांत असे कांही प्रसंग येतात की, त्या वेळी मोठ्या व्यक्तींनी सांगितलेले तत्त्व आपल्या बुद्धीला किंवा विचाराला पटत नाही. अशा प्रसंगां व्यक्ती भोठी आहे म्हणून तिने सांगितलेले तत्त्व, सत्य अथवा ज्ञान आपल्या बुद्धीला पटत नसले तरी आपण मान्य केले पाहिजे ही सक्ति बुद्धिवाद मान्य करू शकत नाही. अंततः माणसाच स्वतःच्या बुद्धीवर म्हणजे स्वतःचा स्वतःवर विश्वास असला पाहिजे.

विचारशक्तीला आवाहन हे नैतिक मूल्य आहे

रॅशनलिझम आणि बुद्धिवाद यांत फरक असा की, रॅशनलिझम संपूर्ण तर्कवादी आणि सर्वांचा अभिक्षेप करणारा वाद आहे. बुद्धिवाद साक्षेपी आहे. माणसाच्या विचारशक्तीला आवाहन करणे हे एक नैतिक मूल्य आहे ही बुद्धिवादाची धारणा आहे. भावनेला आवाहन करणे यांत धोका आहे. मग ते आवाहन प्रेम भावनेला केलेले असो अथवा अन्य कोणत्याही भावनेला केलेले असो. कारण जो आत्यंतिक प्रेम करू शकतो तोच आत्यंतिक द्वेषही करू शकतो. भावनेच्या भूमिकेवरून निर्माण होणारा आपपरभाव मित्र आणि शत्रु, राजे आणि दास, जित आणि जेते अशी द्वंद्व निर्माण करतो. उलट विचारशक्तीच्या भूमिकेवरून आपपरभाव शेजारधर्माला जन्म देतो. तेव्हा बुद्धिवाद ही एक तार्किक कसरत नसून एक नैतिक मूल्य आहे असे आपण मानले की जीवनाकडे पाहण्याच्या आपल्या दृष्टीत आमूलाग्र बदल होणे स्वाभाविक ठरते. या साक्षेपी बुद्धिवादानेच मानवी ज्ञानाची कक्षा वाढविली आणि अनिर्घटित राजेशाहीकडून लोकशाहीकडे मानव समाजास नेले अशी साक्ष इतिहास देईल. बुद्धीवरील श्रद्धेनेच गॅलिलिओने बायबलविरुद्ध बंड उभारले आणि या श्रद्धेनेच ब्रूनोला जिवंत मरण पत्करण्याचे धैर्य आले. प्राचीन शास्त्रांची, स्वीकृत मूल्यांची आणि परंपरांची फेरतपासणी करून त्यांतील ग्राह्याग्राह्याचा निर्णय करण्याचे महान कार्य बुद्धिवादाच्या साहाय्यावाचून कधीच झाले नसते. आणि हे कार्य झाले नसते तर मानवसमाजाची प्रगतीही झाली नसती.

महाराष्ट्रांतील पहिली पिढी या दृष्टीने बुद्धिवादी होती असे माझे स्पष्ट मत आहे. इंग्रजांचे अनुकरण करणारे म्हणून त्या काळांत त्यांची टवाळी झाली असली तरी कालाने त्या टवाळीवर पडदा पाडला आहे. शिष्टक राहिले आहे ते त्यांचे कार्य. लोकहितवादींचा काळ बुद्धिवादास अनुकूल नव्हता. त्या काळामध्ये ब्राह्मणधर्माची कठोर तपासणी करण्याचे धैर्य त्यांनी दाखविले. या देशांतील जातिभेदाची उतरंड मोडल्यावाचून समाजांत लोकशाही येणार नाही असेही बजावण्यास त्यांनी कमी केले

नाही. इतकेच नाही तर या देशांत शिक्षणाचा प्रसार झाला आणि पार्लमेंटसारखा राज्यकारभार सुरू झाला की इंग्रज राज्यकर्त्यांना आपले चंबूगबाळे आवरून निघून जावे लागेल हे भविष्य शंभर वर्षांपूर्वी वर्तविण्यात पत त्यांनी द्रष्टेपणाने दाखविले. तीच गोष्ट न्यायमूर्ति रानडे यांची. अनेक चळवळी आणि संस्थांना त्यांनी जन्म दिला. असे करतांना त्यांनी आपल्या जीवनाला विवेकाचे वळण लावण्याचा जाणिवेने प्रयत्न केला हे त्यांच्या व्याख्यानांवरून आणि कार्यावरून सिद्ध होण्यासारखे आहे. पश्चिमेकडून आलेल्या नवविचारांचे स्वागत करूनही न्यायमूर्ति त्या विचारांच्या आधीन गेले नाहीत. उदाहरणार्थ, ते सामाजिक सुधारणावादी असले तरी निरीश्वरवादी किंवा अशेषवादी नव्हते. मराठेशाहीसंबंधी त्यांनी केलेले विवेचन ही तर त्यांच्या दृष्टेपणाची साक्षच होय. त्यांच्याच पावलावर पाऊल टाकून ना. गोखले आणि कै. आगरकर यांनी महाराष्ट्राला बुद्धिवादाची शिक्षण दिली. याच काळखंडांत म. ज्योतिबा फुले यांचाहि गौरवपूर्वक उल्लेख करावयास हवा. कारण त्यांचे कार्य या लोकांपेक्षाहि खडतर होते. सुशिक्षितांपेक्षा अशिक्षितांमध्ये प्रतिक्रिया तीव्र स्वरूपाच्या होतात आणि विरोध प्रखर होतो. त्याला न जुमानता त्या समाजांत बुद्धिवादाची मुहूर्तमेढ रोवणे लहानसहान काम नव्हे.

—त्या बुद्धिवादाचे स्वागत झाले नाही

या बुद्धिवादाचे महाराष्ट्राने कशा प्रकारे स्वागत केले? इतिहासच याचे चोख उत्तर देईल. बुद्धिवादी महाराष्ट्राने या साक्षेपी बुद्धिवादाला सूक्तसूक्त मार्गाने विरोध केला ही गोष्ट महत्त्वाची आहे. राजकारणांत त्यांना मवाळ म्हणून हेटाळण्यांत आले, समाजकारणांत त्यांची स्वेच्छाचारी म्हणून निंदा झाली आणि धर्मकारणांत त्यांना धर्मलंड म्हणून संशोधण्यांत आले. परंपरा, रूढि, ग्रंथगत विधिनिषेध आणि शिष्टसम्मत आचारविचार यांना विरोधी विचार सांगणारास समाजाचा असा प्रखर विरोध सहन करावा लागतो हे खरे आहे. पण मग अशा समाजास बुद्धिवादी समाज म्हणता येत नाही. गतानुगतिक चाकोरीतून जाणाऱ्या इतर प्रांतांपेक्षा महाराष्ट्राचे वेगळेपण दाखविण्यासाठी आपण बुद्धिवादाचा आश्रय करित असतो, तो या इतिहासावरून महाराष्ट्राला किती लागू पडेल याबद्दल शंका वाटते. शिमग्याच्या सणांत कै. आगरकरांची त्यांच्या जिवंतपणी तिरडी बांधली गेली हे कांही साक्षेपी बुद्धिवादाचे लक्षण नाही. कारण साक्षेपी बुद्धिवादाची अशी एक अपेक्षा आहे की, कितीही प्रखर मतविरोध असला तरी शत्रुत्वात त्याचे रूपांतर होता कामा नये. ती त्याची लक्ष्मण-रेषा होय. आजच्या रूढ परिभाषेत अनुवाद करून भावनांच्या हुल्लड-बाजीत त्याचे रूपांतर होता कामा नये असे सांगता येईल. लोकहितवादीपासून सर्व बुद्धिवाद्यांची महाराष्ट्रांत अशी हुरेवडी झालेली आहे आणि परवापरवापर्यंत ती होत आलेली आहे.

चहाच्या पेलांतील वादले, ग्रामपंचे आणि सामाजिक सुधारकांची निंदानालस्ती या प्रतिक्रिया अन्वळ इंग्रजी अमदानीच्या पहिल्या पंचवीस वर्षांत आढळतात. वास्तविक आपल्या परंपरागत कल्पनांची व विचारांची फेरतपासणी करण्याचे काम सुशिक्षितांकडून अपेक्षित होते. परंतु महाराष्ट्रांतील सुशिक्षितांनी ही इतिहासदत्त कामगिरी बजावली नाहीच; पण ज्यांनी या कार्यास आरंभ केला त्यांची हेटाळणी मात्र केली.

कै. आगरकरांनी महाराष्ट्रातील सुशिक्षितांना उद्देशून केलेले कळकळीचे आवाहन ही याची विदारक साक्षच होय. याच काळात आमच्या प्राचीन विचारसंपदेचे पुनरुज्जीवन होऊ लागले होते. त्या प्राचीन विचारांची विवेक तपासणी सुरु झाली होती. पुराणे, आख्यायिका, दंतकथा यांच्या आवरणाखाली दडलेल्या ऐतिहासिक सत्यांचे संशोधन सुरु झाले होते. त्यांतून आपल्या प्राचीन संस्कृतीचे शास्त्रीय मूल्यमापन करण्याचा प्रयत्न सुरु झाला होता. पण डॉ. भांडारकर, तेलंग आदि विद्वानांनी सुरु केलेल्या या प्रयत्नाचे तरी महाराष्ट्रांत यथोचित स्वागत झाले होते काय ? दुर्दैवाने यांचेहि नकारात्मक उत्तर घावे लागले.

उलट पीछेहाटच झाली !

ही गोष्ट खरी आहे की, पाश्चात्य विचारांच्या प्रभावाने साक्षेपी बुद्धिवादाचे लोण प्रथम महाराष्ट्रांत आले. पण यांत अपमान अथवा शरम वाटण्यासारखे असे काय आहे ? आपण एका परकीय सत्तेचे गुलाम झाले ही राजकीय घटना शरम वाटण्यासारखी आहे खास. परंतु ही राजकीय घटना तरी आपल्या वैचारिक व सामाजिक दुर्बलतेमुळेच घडून आली ना. याचाच दुसरा अर्थ असा की, ज्यांनी या देशावर राज्य स्थापित केले, ते केवळ शस्त्रांच्या बाबतीत आघाडीवर होते असे नाही. शास्त्रे आणि नवी ज्ञाने याहि क्षेत्रांत ते आघाडीवर होते. तेव्हा जर आपणांस ही परिस्थिती बदलावयाची असेल तर आपली सामाजिक व वैचारिक दुर्बलता आपण प्रथम नष्ट केली पाहिजे हा यावरून निघणारा एक निष्कर्ष अगदी उघड आहे. ही दुर्बलता नष्ट करण्यासाठी आपल्या राज्यकर्त्यांकडून जे घेण्यासारखे असेल ते घेण्याइतपत आपण मनाचा मोकळेपणा दाखवावयास हवा होता. राजकीय पारतंत्र्य आणि आर्थिक शोषण याला विरोध करीत असतांनाच आधुनिक ज्ञानविज्ञान आणि विचार यांना विरोध करण्याचे कारण नाही हा विवेक आपण बाळगावयास हवा होता. कारण कोणतीहि घटना मिश्र स्वरूपाची असते. ती सर्वस्वी वाईट नसते अथवा सर्वस्वी चांगली नसते. इंग्रजी राज्य हे परमेश्वरी वरदान होय ही भूमिका जितकी अतिरेकी, तितकीच हे सैतानाचे राज्य ही भूमिका अतिरेकी होय. या राज्याचे राजकीय स्वरूप आणि त्या राज्याने नकळत आणलेली विचारधारा यांची गहकत करणे हे कांही बुद्धिवादाचे लक्षण नाही. परंतु परकीय सत्ता वाईट म्हणजे तिचे सारे कांही वाईट या अतिरेकाने आम्हांस पछाडले आणि महाराष्ट्रांत साक्षेपी बुद्धिवादाची पीछेहाट होत गेली.

यानंतर महाराष्ट्रांत 'समर्थनवादा'चे युग सुरु झाले. जे जे आपले ते ते चांगले अशा बुद्धीची धारणा या समर्थनवादांत होती. याला आंधळा बुद्धिवाद असेहि म्हणता येईल. या समर्थनवादांत अनेक विचारप्रवाहांचे मिश्रण झाल्याचे आढळून येईल. प्राचीन इतिहासाच्या संशोधनवादाची जागा त्या इतिहासाच्या उदात्तीकरणाने घेतली. आपली प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था पाश्चात्यांच्या समाजव्यवस्थेपेक्षा श्रेष्ठ आहे, आपला अध्यात्मवाद पाश्चात्यांपेक्षा फारच उच्च प्रतीचा आहे, आपण पूर्वी वैभवसंपन्न होतो आणि आपणांस कोणाकडून कांही शिकण्यासारखे नाही, ही इतिहासाच्या उदात्तीकरणामागील भूमिका. मि. गोळे यांचे 'ब्राह्मण आणि विद्या' हे या भूमिकेचे अतिरेकी टोक म्हणून त्या काळी या समर्थनवाद्यांनीहि

त्यावर टीका केली असली तरी समर्थनवादाच्या भूमिकेतूनच ही अतिरेकी भूमिका तार्किक दृष्ट्या निघत होती. पाश्चात्य तत्त्वज्ञान जेथे संपते तेथे गीतेच्या तत्त्वज्ञानास सुरुवात होते असे आपण एकदा मानले की 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' हे देखील मानावे लागते. त्या चातुर्वर्ण्याचा पुढचा भाग म्हणजे ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या हा होय.

दोन विरोधी निष्कर्ष

या समर्थनपर बुद्धिवादांत कार्यकारणभावाचा विपर्यासहि झाला होता. सामाजिक अवनतीचे राजकीय अवनति हे कार्य. राजकीय अवनति एकदा सुरु झाल्यानंतर सामाजिक अवनतीला आणखी वेग चढतो हे परस्पर-वालंबित्व मान्य करुनहि, सामाजिक व राजकीय अवनतीमधील हे कार्यकारणभावाचे नाते विसरतां कामा नये. पण पूर्वी आम्ही व आमचा समाज पूर्णावस्थेत होता येथून विचारास सुरुवात झाली की राजकीय अवनतीमुळेच ही सारी दुरवस्था प्राप्त झाली आहे असे मानणे भाग पडते. 'घोडा चित्रढतो कशाने, भाकरी करपते कशाने आणि पान नासते कशाने ? तर न फिरवल्याने' हे दृष्टांत याच विपर्यासाचे सूचक होत. या विपर्यासामुळे लोकमानसांत भ्रम आणि खोटेव्या आशा निर्माण होतात. जर राजकीय पारतंत्र्य हेच आमच्या सर्व दुःखांचे मूळ तर ते पारतंत्र्य नष्ट होतांक्षणी सर्व दुःखांचा नाश होऊन-सुखाचे साम्राज्य सर्वत्र नांदेल ही भ्रमजन्य आशा मनांत स्वामाविक निर्माण होते. वस्तुस्थितीने त्या भ्रमाचा निरास झाल्यावर, त्यापासून निर्माण होणारे वैफल्य व निराशा समाजावर वाईट परिणाम घडवीत असतात. सध्या आपल्या सार्वजनिक जीवनांत आंदोलने आणि उठाव, संप आणि सत्याग्रह यांची जी वावटळ निर्माण झाली आहे तिचे मूळ या भ्रमनिरासांत सांपडेल. क्लायमॅक्स आणि अँटीक्लायमॅक्स यांचे परिणाम नाटकांत ठीक वाटले तरी जीवनांत ते भयंकर उलथापालथ करू शकतात. इंग्रजी राज्य परवडले पण हा भ्रष्टाकार नको, आता एक पोलादी पुरुष हवा, अशा अनेक वैचारिक विकृति या भ्रमनिरासांतून निर्माण होतात. त्याचे पडसाद आपल्या कानांवर पडत आहेत.

याच कार्यकारणभावाच्या विपर्यासामुळे आपला आत्मविश्वास नष्ट झाला आहे. या समर्थनपर बुद्धिवादाने आपल्या विचाराला सरकारवर विसंबून राहण्याचे बळण लावले. राजकीय सत्तेमुळे आपली सामाजिक अवनति झाली असे मानल्यानंतर, सामाजिक उन्नतीची राजकीय सत्ता ही कारक शक्ति आहे असे मानले जाते. आपले काम फक्त सरकारवर टीका करण्याचे. समाजांत कांही बिघडले तर त्याला सरकार जबाबदार आहे या टीकेतील गृहीतकृत्यच मुळांत सरकारने सामाजिक उन्नतीसाठी सारी खटपट केली पाहिजे असे आहे. आपले विचार सरकारप्रस्त झालेले आहेत. त्याचबरोबर सरकारचे समर्थन करणेहि आपणांस पसंत नाही. कारण सरकारकडून कांही लभ्यांश असल्याखेरीज कोणी सरकारच्या बाजूला जाणार नाही ही आपल्या विचाराची स्वातंत्र्यपूर्व काळांतील बैठक. अद्यापि ती कायमच आहे. सरकारविरोध हा निस्पृहता, सचोटी, विचारस्वातंत्र्य या सद्गुणांचे प्रतीक झालेला आहे. सरकारविरोधकांना सरकारकडून लभ्यांश नको असतो असे नाही. किंबहुना लांचलुचपत, वशिलेबाजी, भ्रष्टाकार इत्यादि दुर्गुणांविरुद्ध मोठा आवाज काढणारापैकी

बरेचसे मागील दारानें याच वाममार्गाचा अवलंब करीत असतात. पण मुखंबटा सरकारविरोधाचा असला पाहिजे. सरकार काहीं चांगल्या गोष्टी करूं शकतें असें सिद्ध होणें मोठी आपत्तीच होय. अशा प्रकारें सरकारप्रस्त आणि सरकारविरोध या दोन परस्परविरोधी प्रवाहांनीं आपल्या विचारावर आक्रमण केलें आहे. वास्तविक राज्यसत्तेच्या कक्षेहून सामाजिक जीवन आणि व्यक्तिजीवन किती तरी मोठें आहे. परंतु स्वातंत्र्यपूर्वकालांत राजकारणाला जें अवास्तव महत्त्व आलें, त्याचे अवशेष अद्यापि कायम आहेत.

समुदायवादाचें युग

सुमारे १९३५ पासून देशांत समुदायवादाच्या युगाला प्रारंभ झाला. तेव्हातांबोळ्यांचें राजकारण जाऊन त्याच्या जागीं बहुजनसमाजाचें राजकारण आलें. याच महाराष्ट्रांत मार्क्सवादी विचारसरणीची छाप त्या वेळेच्या तरुण पिढीवर बसली. मार्क्सवादी स्वतःला बुद्धिवादी म्हणवीत असत. गेल्या तीस वर्षांच्या इतिहासानें त्यांचा हा दावा खोटा पाडला. याच सुमारास श्री. मानचेंद्रनाथ राय यांचें या विषयावर जेथे मॅन्चानमध्ये झालेलें एक व्याख्यान मला पकें आठवतें. या देशांतील मार्क्सवाद्यांनीं श्रद्धेची खांदेपालट केली असून त्यांची मनुष्येवर्गीं मार्क्सवर श्रद्धा बसली आहे, अशी त्यांनीं त्या वेळीं टीका केली होती. पुढील इतिहासानें ही टीका किती योग्य होती, हें सिद्ध केलें आहे. परंतु या तीस-पस्तीस वर्षांत आपल्या विचारावर या समुदायवादी विचारसरणीचा बराच प्रभाव पडला आहे हें नाकारतां येणार नाही. समुदायशक्तीला आवाहन करतांना असें घडणें स्वाभाविक असेल. पण त्याचा परिणाम बुद्धिवादाची पीछेहाट होण्यांत झाला.

सार्वजनिक जीवनांत असाहिष्णुता फार वाढली. कॉंग्रेस, मार्क्सवादी, मुस्लिम लीग आणि हिंदुमहासभा हे राजकीय पक्ष अधिक आक्रमक बनले. राष्ट्रद्रोही, भांडवलदारांचे बगलबच्चे, काफर, धर्मद्रोही किंवा मुसलमानधार्जिणे अशा एकमेक एकमेकांची संभावना करूं लागले. बुद्धिवादाच्या पीछेहाटीचेंच हें लक्षण नव्हे काय? 'द्रोह' या कल्पनेंत विश्वासघात येतो. द्रोह हें धार्मिक दृष्ट्या पाप आहे आणि सामाजिक दृष्ट्या तो गुन्हा आहे. प्रामाणिक मतभेदाला अशा रीतीनें पापाचें वा गुन्याचें स्वरूप प्राप्त झाल्यानंतर, विरोधक पापी अथवा गुन्हेगार बनला तर नवल कोणतें? अथात् गुन्हेगाराशीं विरोध करावयाचा नसतो, त्याला शिक्षा करावयाची असते. गुन्हा जेवढा मोठा तेवढी शिक्षा कडक. राष्ट्रद्रोह, धर्मद्रोह हे तर देहांत प्रायश्चित्ताचे गुन्हे. म्हणून सार्वजनिक जीवनांत विरोधकांची रेवडी उडविणें, त्यांना बदनाम करणें, त्यांच्या सभा उधळणें, दहशत बसविणें या प्रकारांना या काळांत ऊत आला. युक्तिवादाची जागा शक्तिवादानें घेतली. तात्त्विक टीकेला शिवराळ टीकेनें शह दिला. मतप्रदर्शन मार्गें पडून शक्तिनिदर्शन पुढें आलीं. मोर्चाचें, संपाचें युग सुरू झालें. जनतेचा आवाज उठूं लागला, गुणांच्या जागीं संख्या आली. समुदायानें व्यक्तीवर मात केली. या काळांत सभा किती उधळल्या गेल्या, निदर्शनें किती झालीं, मोर्चे किती निघाले, जनतेचे आवाज कसे उठविले गेले इत्यादींची आकडेवारी कोणी सादर केली तर ती फार उद्बोधक ठरेल.

गेल्या तीस-पस्तीस वर्षांतील महाराष्ट्राचें वैचारिक जीवन आश्चर्यदायक होतें असें दिसत नाहीं. समाजांतील शिक्षितांचा वर्ग बुद्धिवादाचा वारसदार असा युरोपाचा इतिहास. महाराष्ट्रांतहि पहिल्या पिढीनें हा वारसा स्वीकारला. बहुजनसमाजाच्या राजकारणांत त्याची हेटाळणी होत गेली. आणि राजकारणांत शिरलेल्या काहीं कल्पना त्याच्या बुद्धीला पटेनात. तेव्हां हा बुद्धिमंतांचा वर्ग सामाजिक जीवनापासून सर्वसाधारणपणें अलिप्त राहिला असें आढळून येतें. समुदायशक्तीच्या आक्रमणाला निघेनें तोंड देऊन बुद्धिवादाची पताका फडकत ठेवण्याचें कार्य या सुशिक्षितांना करतां आलें असतें. पाश्चात्य देशांतील अनेक शास्त्रज्ञांनीं आणि विचारवंतांनीं सामाजिक छळ, बहिष्कार आणि प्रसंगीं देहदंड देऊनहि ही कामगिरी बजावली होती. पण येथील सुशिक्षितांचा वर्ग तसा एखाद्या 'मिशन'नें भारलेला नव्हता. जात्या दुबळा असल्यानें त्यानें पलायनवादाचा सोयस्कर मार्ग स्वीकारला असें दिसतें. अर्थात्, राजकारणाच्या महारकींत कोण शिरतो, असें तो स्वतःचें सांत्वन करून घेत होता. पण आपल्याला जें जमत नाहीं त्याचा 'द्राक्षें आंबट' म्हणून अधिक्षेप करण्याची प्रवृत्ति जुनीच आहे.

दोन उल्लेखनीय घटना

स्वातंत्र्य मिळाल्यानंतर, म्हणजे गेल्या बारा-चौदा वर्षांत तरी, महाराष्ट्रांत बुद्धिवादाचें पुनरुज्जीवन झाल्याचें दिसून येतें काय? दुर्दैवी घटना म्हणजे महात्माजींचा वध. त्याचा महाराष्ट्राशीं संबंध आला. त्यानंतर वज्याचें तेल बांग्यावर काढण्यासारखे जे प्रकार झाले, ते म्हणजे समुदायशक्तीचा भयानक आविष्कार होत. हा आविष्कार निषेधाई होता. त्याचा सार्वत्रिक निषेध झालाहि. परंतु याविषयीं काहीं स्पष्ट बोललें पाहिजे. महाराष्ट्रांतील एका तरुणानें महात्माजींचा खून केला हा काहीं योगायोग नाहीं. माथेफिरू सर्वत्र असतात. त्यांतलाच हा एक अशी उडवाउडवी करून उडवून लावण्यासारखा हा प्रकार नाहीं. शैक्सपेअर म्हणतो त्याप्रमाणें या वेडांतहि एक पद्धती आहे. यापेक्षा याविषयीं अधिक न न बोलणें बरें. परंतु हें वेड आणि समुदायशक्तीचे वेडाचार यांचा क्रियाप्रतिक्रियारूप संबंध आहे ही गोष्ट नजरेआड करणें म्हणजे स्वतःची स्वतः फसवणूक करून घेण्यासारखें आहे. विचारशक्तीला, विवेकबुद्धीला कौल लावण्याची वृत्ति नष्ट झाल्याचें हें लक्षण आहे. जर सुशिक्षितांमध्ये हें लक्षण दिसत असेल तर अशिक्षित समाजाला तरी दोष कसा द्यावा. ?

संयुक्त महाराष्ट्राचें आंदोलन ही यानंतरची नमूद करण्यासारखी घटना. आतां महाराष्ट्र राज्य झाल्यानें आंदोलनाचा धुरळा खाली बसला आहे. किमान अल्पसंख्य विचारवंत तरी डोकें शांत ठेवून विचार करूं शकतील. या आंदोलनांत जें घडलें तें सारें महाराष्ट्र बुद्धिवादी असल्याचें लक्षण समजावें काय? मला तसें वाटत नाहीं. पाणीं ढवळल्यानंतर तळाचा गाळ वरती यावा तशा सर्व अपप्रवृत्ती वरती आल्या. असाहिष्णुतेनें परिसीमा गांठली होती. ज्या 'द्रोह'च्या कल्पनेचा मीं वर उल्लेख केला, त्याला आतां महाराष्ट्रद्रोहाचें स्वरूप आलें होतें. या प्रकारांत विवेकाला कुठें स्थान होतें? आणि हें सारें महाराष्ट्रनिघेनें चाललें होतें काय? नांव नको. प्रत्येक पक्षाला आपली पोळी माजून घेण्याची नामी संधि प्राप्त झाली होती. ज्यांना राष्ट्रनिघेनेंहि वाकडें ते क्षणांत महाराष्ट्रनिष्ठ बनले. कशा

साठी! तर मतासाठी! लोकांच्या प्रामाणिक श्रद्धेचा आणि भावनेचा दुरुपयोग करून घेण्याचा एवढा प्रयोग महाराष्ट्राच्या इतिहासांत यापूर्वी कधी झाला नसेल. महाराष्ट्र राज्य निर्माण झाल्यानंतर हे पितळ आतां उघडें पडलें आहे. लोकांना आतां स्पष्ट दिसलें कीं अखेर महाराष्ट्रनिष्ठा हें एक पांघरूण होतें. म्हणजे महाराष्ट्र बुद्धिवादी आहे या विधानाला अर्वाचीन इतिहासाचा पोषक आधार मिळत नाही. महाराष्ट्रातील दिग्गजांप्रमाणें होऊन गेलेल्या त्या पिढीचा काळ सोडला कीं महाराष्ट्रांत वैचारिक अराजक निर्माण झाल्याचाच विदारक प्रत्यय येतो.

ना. यशवंतरावांच्या यशाचें मर्म

या अराजकांतून सुराज्य निर्माण करणाऱ्या प्रयत्नांत ना. यशवंतराव चव्हाण यांना थोडेंचहुत यश लाभलें याबद्दल त्यांना धन्यवाद. आंदोलनांत त्यांची खरी कसोटी लागली. लोकमताच्या प्रवाहाविषयक जाण्याला विचाराचेंच बळ असावें लागतें. आपल्या वैचारिक भूमिकेवर ठाम श्रद्धा असल्याखेरीज हें बळ अंगी येत नाही. या दिव्यांतून पार पडल्यानंतर महाद्विभाषिकाचें सतीचें वाण पत्करणें ही दुसरी कसोटी होती. त्या कसोटीलाहि ना. यशवंतराव उतरले. कारण महाद्विभाषिक राबवीत असतांना त्यांनी दोन गोष्टी केल्या. त्यामध्ये त्यांच्या अंगी असलेले विचारप्राधान्य आणि मुत्सद्देगिरी हे दोन गुण प्रकर्षाने प्रकट झाले. एक, लोकमताचें वास्तव स्वरूप त्यांनी कधीहि दृष्टीआड केलें नाही. त्याला तुच्छ लेखलें नाही किंवा त्याचे फाजील लाड केले नाहीत. लोकमत विरोधी आहे हें सत्य ओळखणें ही बुद्धिवादाची पहिली पायरी. पण तें विरोधी आहे म्हणून बदलून घेण्याची खटपट करावयाची नाही असा याचा अर्थ नाही. द्विभाषिक राबवणें याचा अर्थ लोकमत बदलण्याचा प्रामाणिक प्रयत्न करणें असा होता. यापुढची पायरी म्हणजे असा प्रयत्न करूनहि लोकमत बदललें नाही तर आपला प्रयत्न अयशस्वी झाला अशी प्रांजल कबुली देणें, स्वपक्षांतील सर्वश्रेष्ठ नेत्यांना आपलें स्पष्ट मत सांगण्यालाहि तितकेंच श्रेय असावें लागतें.

ना. यशवंतरावांनी द्विभाषिकाचा कारभार पाहतांना दुसरी चांगली गोष्ट ही केली की, त्यांनी विरोधकांच्या विरोधाची नांगीच मोडून काढली. खरें सांगावयाचें तर लोकमत-लोकमत असा जो ओरडा केला जातो, तें वास्तविक असतें अल्पसंख्य ओरड्याचें मत (Noise-making

minority). या अल्पसंख्यांना आरडाओरड करण्यास संधि दिली नाही की 'लोकमता'चें वास्तव स्वरूप कळू लागतें. आणि या कार्योत्त ना. यशवंतरावांच्या अंगच्या गुणाचा खरा आविष्कार दिसून आला. आंदोलनानंतर झालेल्या निवडणुकींत मिळालेल्या भरघोस यशाने विरोधकांच्या डोळ्यांवरहि यशाचा कैफ चढल्यासारखा झाला होता. ना. यशवंतराव झाले तरी मागच्याचीच री ओढणार आणि मग आपलें चांगलेंच फावणार या अपेक्षेने विरोधक खुर्चांत होते. 'अक्रोधेन जयेत्क्रोधं' ह्या बुद्धिवादाच्या नव्या शाखाची त्यांना कल्पना नव्हती. त्यामुळे रान उठविण्यास संधि सापडना. दुसरें, द्विभाषिक राबवितांना महाराष्ट्रावर अन्याय होणार ही अपेक्षाहि त्यांनी सफल होऊ दिली नाही. कारण द्विभाषिक राबविण्याचें वचन दिलें याचा अर्थ त्या द्विभाषिकांतील कांही विशिष्ट गटांना राजी राखण्याचें वचन दिलें असा कधीच नव्हता. जे दोन समाज एकत्र आले त्यांना धारवाडी काठ्याने न्याय देणें हाच द्विभाषिक राबविण्याचा वास्तव अर्थ होता. विरोधक त्याविषयी अवास्तव अपेक्षा बाळगून त्या अर्थाचा अनर्थ करतां येईल की काय याची वाट पाहत होते. तशी संधि न देण्याच्या कार्मी ना. यशवंतरावांनी अभूतपूर्व यश मिळविलें.

"Those who came to scoff have stayed to pray" अशी आजची स्थिति आहे. ना. यशवंतरावांनी घेतलेल्या ठाम बुद्धिवादी भूमिकेचा हा महान् विजय आहे. पण त्याचत्रोवर तें एक सतीचें वाण आहे. महाराष्ट्र राज्य निर्माण करण्याचें कार्य तर मोठेंच. पण त्या महाराष्ट्राचा एकसंध विकास करून राष्ट्रीय कोंदणांत त्याला योग्य स्थान प्राप्त करून देण्याचें कार्य त्यादिपेक्षा मोठें आहे. पूर्वीचे विरोधक आताचे भक्त बनले. फार चांगली गोष्ट झाली. पण हें यश जसें चमकणारें तसेंच डोळ्यांपुढे अंधार निर्माण करणारें असें असतें. ज्या धिम्मेपणाने त्यांनी पूर्वी पावलें टाकलीं, ज्या सौजन्यानें त्यांनी विरोध शमविला आणि ज्या दृढबुद्धीने त्यांनी भावना विचाराच्या काबूत राखल्या, त्या सर्व सदगुणांची आता खरी कसोटी आहे. या सत्त्वा महाराष्ट्रांत भावनात्मक ऐक्य निर्माण करून आणि महाराष्ट्रांतील शुद्धिशक्ति विधायक कार्यास जुंपून, अखिल देशाच्या राजकीय जीवनांत महाराष्ट्र एक मान्यवर व मातबर घटक बनविण्याच्या कार्योत्त ना. यशवंतराव चव्हाण यांना यश लाभलें, अशी या प्रसंगी मी सदिच्छा व्यक्त करतो.



आफितगत शेतीबेंच उत्पादन वाढ होईल



उत्तमराव पाटील
खासदार, धुळे

‘यशवंतराव चव्हाण अभिनंदन ग्रंथ’ त्यांच्या वाढदिवसाच्या निमित्ताने प्रसिद्ध करण्याची कल्पना नामी आहे. गेल्या पांच वर्षांपासून यशवंतरावांनी जे कर्तृत्व गाजविले त्यामुळे ते खऱ्या अर्थी ‘नामवंत जयवंत यशवंत’ झाले. भारतीय राजकीय क्षितिजावर देदीप्यमान ताऱ्याप्रमाणे ते चमकत आहेत. केवळ महाराष्ट्रीयांचेच नव्हे तर भारतीय जनतेचे ते एक आशास्थान बनले आहेत. केन्द्रीय नि विविध राज्यमंत्रिमंडळांतील मंत्र्यांची नावे नजरेसमोर आणली तर भावी भारताच्या घडणीत यशवंतरावांचे स्थान केवळ विलोभनीयच नाही तर वांछनीय नि अटळ असेच आहे. त्यांच्या जीवनाच्या विविध पैलूंचे आम जनतेस दर्शन व्हावे नि ते सामान्य माणसालाहि स्फूर्तिप्रद ठरावे हाच अभिनंदन ग्रंथाचा उद्देश असू शकतो नि असावाहि. तेव्हा प्रथितयश अशा साहित्यिकांनी, राजकीय धुरंधरांनी, कळकळीच्या समाजसेवकांनी त्यांच्या जीवनाचे नि कामगिरीचे यथार्थ दर्शन आपापल्या दृष्टिकोनांतून घडविण्यास या ग्रंथाने उत्कृष्ट संधीहि दिल्यासारखे होईल. महाराष्ट्राच्या या नेत्यास महाराष्ट्रांतल्या एका कोपऱ्यांतून मीहि आपली भावपूर्ण अंजलि अर्पण करावी हे सयुक्तिकच होईल. या ‘अभिनंदन ग्रंथा’ निमित्ताने त्यांच्यावर होत असलेल्या स्तुतिसुमनांच्या वर्षावांत स्नेहाच्या मार्दवाने, सहवासाच्या तजेल्याने नि कीर्तीच्या सुगंधाने दरवळणारी सारीच बहारदार टपोरी, तजेलदार फुले उघळली जाणार आहेत. माझ्यासारख्याने पुढे केलेली अंजलि ही नित्याच्या व्यवहारांतील झेंडूच्या फुलांची असली तरी वास्तवतेची जाणीव करून देणारी होईल असे वाटते.

भारतांत शेतीचे महत्त्व अनन्यसाधारण असेच आहे. आपला देश कृषिप्रधान गणतात यांतच शेतीचे सारे महत्त्व साठविले आहे. पंचवार्षिक योजनांच्या गतिशील वाट्यालीत औद्योगिक प्रगतीचे घोडे भरधाव दौड करीत असले व शेतीचे उत्पादन जर तितकी गति धरणार नसले तर योजनांचा गाडा गडगडणार ही गोष्ट सूर्यप्रकाशाइतकी स्पष्ट आहे. प्रथम पंचवार्षिक योजनेच्या काळांत ‘शेतीची प्रगति झाली’ अशा भ्रामक समाधानांत नियोजन मंडळ व राज्य सरकारे राहिली. त्यामुळे द्वितीय पंचवार्षिक योजनेत शेतीकडे आवश्यक तेवढे अवधान दिले गेले नाही, व गंभीर परिस्थिति निर्माण झाली, अशी कबुली नियोजन मंडळाचे एक प्रमुख सभासद श्रीमन्नारायण यांनी स्पष्टतया दिली आहे.

आणि म्हणूनच तृतीय पंचवार्षिक योजनेत शेतीला अग्रता (Priority) देणे नियोजन मंडळासमवेत साऱ्याच विचारवंतांना नि पक्षोपपक्षांना भाग पडले.

शेतीला मिळणाऱ्या या अग्रतेच्या बाबतीत जरी एकवाक्यता आढळत असली तरी तीतून जास्तीत जास्त उत्पादन काढण्याचे जे मार्ग सुचविले जातात त्यांत एकसूत्रता आढळत नाही. सुधारलेली बीजे, नवीन उपकरणे वा औजारें, खतें, पाणीपुरवठा, कर्जपुरवठ्याच्या सवलती, नवनवीन शोधांची उत्पादनवाढीला दिली जाणारी जोड हीं सर्वमान्य व वादातीत आहेत. अडचण आणि मतभिन्नता येते ती शेतीधारणेच्या स्वरूपाबाबत नि मर्यादेबाबत. हीं मतांतरे विशिष्ट राजकीय सिद्धांतांवर अधिष्ठित झालेलीं आढळून येतात. वस्तुतः ज्याप्रमाणे विविध शास्त्रीय शोध हे राजकीय सिद्धांतांवर अवलंबून नाहीत, तद्वतच शेती व तीतून काढावयाचें उत्पादन ही नैसर्गिक पण जीवमान पद्धति असल्याने तींही राजकीय सिद्धांतांवर अवलंबून नाहीत व अर्ध शकत नाहीत.

चव्हाणांनी व्यवहार्य घोरण स्वीकारलें

मतभेदाच्या या दोन मुद्द्यांपैकी एकाच्या बाबतीत म्हणजे जमीन-धारणेच्या मर्यादेबाबत मला या लेखांत फारसा उद्देश्य करावयाचा नाही. कमाल जमीनधारणेचें विधेयक महाराष्ट्र राज्य विधिमंडळाच्या विचाराधीन आहे. सध्याच्या शेतजमिनीच्या धारणेतील विषमता नाहीशी करणें, सामाजिक न्याय घडविण्यासाठी अधिक ठरलेल्या जमिनीचें भूमिहीन शेतमजूर व अल्पभूमिधारक यांत वाटप करणें, अथवा अशा लोकांच्या सहकारी कृषि संस्थांना जमीन वाटण्याची तरतूद करणें, हीं या विधेयकाचीं प्रमुख उद्दिष्टे असून तीं साध्य करण्यासाठी कोरडवाहू ८४ एकरांपासून तो १५६ एकरांपर्यंत जिराईत जमिनीची कमाल धारणा निर्धारित करण्यांत आली असून, बारमाही पाणीपुरवठा मिळणाऱ्या बागाईत जमिनीची मर्यादा १६ एकरांवर निश्चित करण्यांत आली आहे. या विधेयकावर कांही काँग्रेस सभासद व इतर अनेकांनी सडकून टीकाहि केली. केवळ उद्दिष्टपूर्तीच्या दृष्टिकोनांतून बघितलें तर ही टीका योग्यहि आहे. असें असूनहि मी या विधेयकाचें वेगळ्याच दृष्टिकोनांतून समर्थन करतो. कारण ७० टक्के शेतीवर उपजीविका करणाऱ्या लोक-संख्येच्या या देशांत कमाल मर्यादा कितीहि खाली आणली तरी भूमिहीनांचा प्रश्न सुटणार नाही. सामाजिक न्याय साधणें हें केवळ भूमिवाटपानेच होऊ शकतें अशांतलाहि प्रकार नाही. भूमिवाटपाने तो साधण्याचा प्रयत्न केला तर तो इतक्या अल्प प्रमाणांत साध्य होईल की समाधानापेक्षा असतोषच सरकारच्या पदरी पडेल. दोन योजनांच्या वाटचालीत जमिनीवर अवलंबून असणारांची संख्या घटक जाण्या-ऐवजी सध्या वाढतच आहे. त्यामुळे भूमिवितरण करून अपुऱ्या क्षेत्रावर परत कांही कुटुंबे पूर्णोपाने वसविणें कष्टप्रदच ठरेल. त्याऐवजी खेड्यापाड्यांतून छोटोमोठे उद्योगधंदे काढून हमखास रोजगारीची हमी देणारी दालनें खोलणें हें विकासशील शेतीव्यवस्थेला अनुसरूनच होईल. पंचवार्षिक योजनांच्या जमान्यातील विकासशील अर्थव्यवस्थेचीं सामंजस्य ठेवणारी कमाल मर्यादा आणि दर एकरां जास्तीत जास्त उत्पादन काढण्याची क्षमता ठेवणारे क्षेत्र या दोन दृष्टिकोनांतून मी या विधेयकाचें स्वागत

करतो नि महाराष्ट्र सरकारने, विधेयकातील उद्दिष्टांची फारकत घेऊन का होईना, वस्तुस्थितीला धरून कमाल धारणाक्षेत्र निर्धारित केले याबद्दल सरकारचें अभिनंदन करतो. बागाईत क्षेत्राची मर्यादा मात्र माझ्या दृष्टीने आणखी वाढवून किमान पर्यंत २४ एकरांपर्यंत ती करावयास हवी.

जमीनधारणेचें स्वरूप कसें असावें ?

मतभेदाचा दुसरा मुद्दा जमीनधारणेच्या स्वरूपासंबंधीचा असून तो अत्यंत मूळगामी आणि परिणामांच्या दृष्टीने दूरगामी असा आहे. भारतांत शेकडो वर्षांपासून ठोकळ मानाने व्यक्तिगत, मालगुजारी, वतनी, खोती, इनामदारी, जहागिरी व जमीनदारी पद्धतीची भूमिधारणा चालत आली. शेती व ती प्रत्यक्ष कसणारा या दोहोंत विविध प्रकारचे मध्यस्थ या विविध जमीनधारणा पद्धतींत असावयाचे. व्यक्तिगत शेतीधारकांमध्येहि असा बराच मोठा वर्ग होता की जो प्रत्यक्ष शेती न करतां शेतीतून मालकी इकाने कुळांकडून उत्पादनाचा मोठा हिस्सा घ्यावयाचा. गेल्या दहाबारा वर्षांत या अनेकविध जमीनधारणापद्धती नष्ट करण्यांत आल्या असून, 'कसेल त्याची जमीन' हें तत्त्व मान्य करण्यांत आलें आहे. या तत्त्वाची अर्थात कुणाचेंहि दुमत नाही. विशिष्ट परिस्थितीत कुळाकरवी जमीन काढण्याचा प्रसंग आलाच तर उत्पादनवाढीवर अनिष्ट परिणाम होऊ नये म्हणून न्याय्य भूमिकेंतून कुळांना संरक्षण देण्यांत आलेंहि आहे. खंडाचें प्रमाणहि निर्धारित करण्यांत आलें असून याबद्दलहि साऱ्यांचें एकमतच आहे.

वरीलप्रमाणे विविध जमीनधारणा पद्धती नष्ट केल्यानंतर सध्या भारतांत मोठ्या प्रमाणावर व्यक्तिगत शेती मालकी इकाने वा कुळवहि-वाटीने कसणें हा प्रकार सर्वदूर आढळतो. पण अलिकडे हें शेती कसण्याचें व्यक्तिगत स्वरूप जाऊन त्याऐवजी शेत कसण्याचा प्रकार संस्थानिष्ठ करण्याचें वारें सोसाट्याने वाहू लागलें आहे. संयुक्त सहकारी शेती संस्था (Joint Farming Society), सामुदायिक शेती संस्था (Collective Farming Society), सहकारी सुधारलेली शेती संस्था (Better Farming Society), खंडकारी शेती संस्था (Tenant Farming Society), सहकारी ग्राम स्वराज्य संस्था, अशा तऱ्हेच्या संस्थांच्या वतीने शेती कसणें अधिक भ्रैयस्कर असा आभास निर्माण करून शेती व्यक्तिनिष्ठ ठेवण्याऐवजी (Individual Cultivation), ती संस्थानिष्ठ (Institutional Cultivation) करण्याचा जोरकस प्रयत्न चालू आहे. विशेषतः सन १९५९ च्या नागपूर येथे भरलेल्या काँग्रेसच्या अधिवेशनांत सहकारी शेतीचा ठराव पास झाल्यानंतर देशभर शेती कसण्याच्या स्वरूपांत बदल करण्याचा संकल्प सत्कारुद पक्षाने हातीं घेतला आहे. प्रजासमाजवादी पक्ष व साम्यवादी पक्ष या अखिल भारतीय पक्षांनीहि त्यास साथ दिल्याने केवळ जनसंघ हा एकच पक्ष विरोधांत उभा आहे.

वस्तुतः सहकारी शेतीचा पुरस्कार हा प्रथम पंचवार्षिक योजनेपासून असून दि. पं. वा. योजना व तृ. पं. वा. योजना यांतूनहि त्याची स्पष्टोक्ति आहे. पण सहकारी शेतीच्या अनुकूलतेला वा प्रतिकूलतेला गति आली ती नागपूर ठरावाने ! त्यामुळे आपल्या देशांत व्यक्तिगत शेती राहणार की संस्थानिष्ठ

शेती राहणार? वाढत्या लोकसंख्येच्या पण निसर्गदत्त मर्यादित शेती-क्षेत्राच्या या विस्तृत देशात 'खाजगी शेती' फायद्याची की संस्थानिष्ठ शेती फायद्याची हा यक्षप्रश्न सर्वासमोर उभा ठाकतो. आणि त्यांतल्या त्यांत धान्य-आयातीवर कोट्यवधि रुपये खर्च करून थंदाहि सुमारे २१२ कोटी रुपयांचे धान्य आयात कराव्या लागणाऱ्या या देशास शेतीच्या बाबतीत नेमके काय करावयास हवे? सध्याची लोकसंख्या ४० कोटी मानली तर सन १९६६ सालापावेतो ती ४३॥ कोटी होईल नि सन १९७१ च्या अखेरीपावेतो ती ४६॥ कोटीला मिडेल, असा कयास वृ. पं. वा. योजनेच्या प्रारूपांत केला आहे. एवढ्या वाढत्या लोकसंख्येला वाढत्या प्रमाणांत धान्य लागणार हे उघडच आहे. अन्नोक्त मेहता कमिटीच्या अंदाजाप्रमाणे चालू वर्षी म्हणजे सन १९६०-६१ या साली ७९ दशलक्ष टन धान्याची आगणांस गरज आहे. या परिस्थितीचा दूरदृष्टीने नि गंभीरपणे विचार केला तर आम्हांस एकच वस्तुनिष्ठ घोरण अवलंबावे लागेल आणि ते म्हणजे जेणे करून दर एकरी जास्तीत जास्त उत्पादन-क्षमता वाढेल अशाच शेती-पद्धतीचा आम्ही स्वीकार केला पाहिजे. हे दर एकरी अधिक उत्पादन व्यक्तिगत शेतीत साधणार की संस्थानिष्ठ शेतीत ?

सहकारी शेतीतून जादा उत्पन्न तर निघेलच, पण खेड्यापाड्यांतील बेकारी घालविण्यास ती उपयुक्त ठरेल, असा सत्कारूट पक्षाचा दावा आहे. आणि म्हणूनच सहकारी शेतीशिवाय तरणोपाय नाही, तिला पर्याय नाही, अशी पंतप्रधान नेहरूंची निर्वाणोची भाषा आहे. बेकारी निवारणाचा प्रश्न या ठिकाणी अप्रस्तुत असला तरी एवढे हमखास म्हणता येईल की, जमिनीच्या एकत्रीकरणामुळे तिच्यावर राबणारे मनुष्यबळ कमीच लागणार ही गोष्ट अगदी स्पष्ट असल्याने, सहकारी शेतीमुळे बेकारी नष्ट करता येईल, हे शीर्षारानी वा उफारटें विधान होईल! ग्रामीण कुटीर-उद्योगांची खेड्यांतून विस्तृत पसरण केल्याखेरीज सहकारी शेतीने बेकारी हटणार नाही, उलट अर्धबेकारीहि उघडी पडेल, असे श्री. धनंजयराव गाडगीळ यांनी औरंगाबादच्या सहकारी परिषदेत स्पष्ट बजावले. ज्या देशांत सहकारी वा सामुदायिक शेती केली गेली त्यांना बेकारीच्या प्रश्नाने मंडावून सोडले आणि युगोस्लावियासारख्या देशाला त्यामुळे सहकारी वा सामुदायिक शेतीचा नादच सोडावा लागला. आज ग्रामीण भागांत उद्योगधंद्यांची उभारणी फार करून नाहीच. पण त्याअगोदर सहकारी शेतीचे तडू नेटाने दामटविण्याचा दमछाकी प्रयोग जोराने चालू आहे.

चीनची आत्मबंधन

बेकारीचा प्रश्न बाजूस ठेवला तरी सहकारी वा सामुदायिक शेती-संस्थानी एकरी उत्पादन वाढत असल्याचा अनुभव विरळाच आढळून येतो. देशनिहाय परिस्थितीत पालट असल्याने इतर देशांतील या बाबतीतील अनुभव विस्ताराने येथे देणे युक्त नाही. पण ठोकळ मानाने असे सांगता येईल की, सामुदायिक वा सहकारी शेती पद्धतीमुळे दर एकरी जादा उत्पादन सातत्याने निघाल्याचे कुठेहि निष्पन्न झाले नाही. चीनमध्ये सहकारी शेतीचा प्रयोग फारच यशस्वी झाल्याची ग्वाही श्री. रा. कृ. पाटील देते झाले! पण चीनची त्यांची वारी संपून दोनतीन वर्षे लोटत नाहीत तोच चीनने सहकारी शेतीचा

पसारा गुंडाळला नि समूह पद्धतीने (Communes) एकत्रित शेती कसण्याचा अभिनव प्रयोग सुरू केला. उत्पादनवाढीची चीनने दाखवलेली आकडेवारी ही प्रचारी व फसवी होती असे तेथील आकडे खात्याचे प्रमुख श्री. चिया ची व्ही ऊन यांनी गतवर्षीच जाहीर केले. धान्य-टंचाईची चीनची समस्याहि राक्षसी रूप धारण करित आहे. सामुदायिक शेती रशियांत पूर्णतया स्थिरावली असे म्हणावयास हरकत नाही. पण तेथे देखील शेतकऱ्यास व्यक्तिगत रूपाने कसावयास दिलेल्या लहान क्षेत्रांतून दर एकरी उत्पन्न हे सामुदायिक शेतीपेक्षा जास्त असल्याचा उघड निर्वाळा दिला जात आहे. अगदी अलीकडील आणखी एक उदाहरण द्यावयाचे झाल्यास इस्पाएल या नवीन राष्ट्राचे देतां येईल. या देशाच्या जन्मापासून संस्थानिष्ठ शेती होती, पण या तीनचार वर्षोत 'मोशाविम' पद्धतीची म्हणजे व्यक्तिगत मालकीच्या शेतीची तेथे ष्पा-य्याने वाढ होत असून त्यांतूनच एकरी जादा उत्पन्न निघते असा अनुभव आहे.

आपल्याकडे सहकारी वा सामुदायिक शेती नवी नाही. भारताच्या सर्व राज्यांतून या संस्थानिष्ठ शेतीचे प्रयोग करण्यांत आले आहेत. पण उत्पादनवाढ तर राहोच बाजूला, परंतु संस्थासंचलन या दृष्टीनेहि बहुतेक संस्था नालायक ठरल्या. आपल्या राज्यांत १९२२ पासून सहकारी शेती रोपण्याचे प्रयोग सुरू आहेत. पण कुठेहि उभारी आढळून आली नाही. ३८ वर्षांच्या या दीर्घ वाटचालीत पंधरावीस वर्षे 'उमर' असलेली एकहि शेतीसंस्था टिकू नये हे कशाचे प्रतीक? निव्वळ उत्पादनवाढीच्या दृष्टीने विचार केला तरी देखील या संस्थांना अपेक्षेप्रमाणे देखील मजल मारतां आली नाही. यांतून अर्थात एकच निष्कर्ष निघतो की, उत्पादनवाढीच्या दृष्टीने खाजगी शेती ही सरकारी वा सामुदायिक शेतीपेक्षा सरस आहे. आपल्या देशांत किफायतशीर जमीनधारणेपेक्षा (Economic Holding) कमी जमीन कसणाऱ्या शेतकऱ्यांचे प्रमाण अधिक आहे. त्यांना अर्धत अडचणी आहेत. आजवर या अडचणीचे निरसन करण्याचे पद्धतशीर प्रयोग कधीच झाले नाहीत. त्यामुळे त्यांची शेती घाट्याची शेती ठरली. त्यावर उपाय वस्तुतः कमाल जमीनधारणा-क्षेत्र निर्धारित झाल्यावर उपलब्ध होणाऱ्या क्षेत्रांतून त्यांना अधिक क्षेत्र प्राप्त करून देणे हा होय. परंतु संस्थानिष्ठ शेती, सामाजिक न्याय आणि राजकीय स्वार्थ यांचा हव्यास धरून त्या शेतकऱ्यांना जमीन नाकारली जात आहे. केंद्रीय कृषिमंत्री डॉ. पंजाब-राव देशमुख यांनी स्पष्टतया हीच गोष्ट "मागासलेल्या राष्ट्रांच्या शेती-समस्या परिषदे"च्या अधिवेशनांत खुल्या दिलाने मांडली आणि नियोजन मंडळ ऐकण्याच्या मनस्थितीत नाही, अशा आशयाची कुरकुर केली. छोट्या शेतकऱ्यांना लागणारी मदत 'सहकारी सुधारलेली शेती संस्था' (Better Farming Society) अशा संस्थांमार्फत पुरवली गेली तरी उत्पादनवाढीवर अवश्यमेव इष्ट परिणाम होऊ शकतो. पण अशा संस्था प्रगत करण्याऐवजी अगर त्या अधिक निर्माण करण्याऐवजी पहिल्या दोन संस्थांचे कार्य (Better Farming व Tenant Farming) खेडोपाडी स्थापन करण्यांत येत असलेल्या सेवा सहकारी संस्थांमार्फत करून घेतां येत असल्यामुळे अशा प्रकारच्या संस्था संघटित करण्यास प्रोत्साहन न देण्याचे सध्याचे धोरण आहे. या सरकारी धोर-

पाने त्याचें अस्तित्त्व गुंडाळलें आहे. पण सेवा सहकारी शेती संस्था छोट्या शेतकऱ्यांच्या अडचणी सोडवण्याच्या मनःस्थितीत नाहीत. साखर, कापड, धान्य-दुकान यांचा पसारा वाढविण्यास त्या एका पायावर उद्युक्त होतात. पण बैल, नांगर, वखर, गाड्या वगैरे औजारें खरेदी करून त्यांचा फायदा छोट्या शेतकऱ्यांना देण्याबाबत या संस्था बेफिकीर आहेत, असा जवळून पाहणाराचा अनुभव आहे. तेव्हा लहान शेतकऱ्याला व्यक्तिगत शेती कसण्याच्या कामी आवश्यक ती मदत पोचवून उत्पादनवाढीचा हमखास यशदायी प्रयोग करण्याऐवजी स्थानिय शेतकीच्या प्रयोगावरच भर कां? नि किमानपक्षी नागपूर ठरावानंतरच्या या दोन वर्षांच्या काळांत महाराष्ट्रातील ३५५२६ खेड्यांपैकी किती खेड्यांतून छोट्या शेतकऱ्यांच्या सहकारी शेती संस्था खुषीने स्थापन झाल्या? हा आकडा ५० तरी दाखवतां येईल का? वस्तुतः सहकारी शेतीची कुणकुण प्रत्येकाच्या कानांनी आहे. पण सहकारी शेतीचा अवलंब करण्यास कोणीहि उत्सुक नाही. इतकेंच नव्हे, तर 'मालकी'चा प्रश्न त्याशीं निगडित असल्याने जो तो बिचकतो नि सहकारी शेतीपासून दोन पावलें लांब कसें राहतां येईल, याचाच विचार करतो.

भूदानाने काय साधलें?

व्यक्तिगत मालकीच्या प्रभावी या ठिकाणीं संक्षेपांत चर्चा केली तर ती अप्रस्तुत खासच होणार नाही. विशेषतः सामुदायिक संस्था नि सहकारी ग्राम स्वराज्य संस्था यांचा विस्तार नि विकास करण्याचें सरकारी धोरण असल्यामुळे मालकीसंबंधी दोन शब्द लिहिणें उचितच होईल. सध्या आदर्श ग्रामव्यवस्थेंत मालकीचें उच्च मानवी मूल्यांच्या आधारावर सर्वतया समर्पण करण्याचें आवाहन केलें जात आहे. 'सब भूमि गोपालकी' यांत व्यक्तिगत मालकीला स्थान नाही. स्पष्ट शब्दांत घोषणा नसली तरी आदर्श समाजव्यवस्थेंत वा ग्रामव्यवस्थेंत मालकीची भावना ही पापमूलक आहे, किमानपक्षी ती अनर्थकारक आहे, असें सुचविण्यांत येतें. पण खरोखरीच मालकीची भावना पापमूलक वा लोकशाही समाजव्यवस्थेचीं विसंगत आहे का? केवळ मानवी प्रेरणांतून विचार केला तर 'मालकी' पापमूलक नाही. उलट मानवी विकासांत ती एक प्रेरक शक्तीच असल्याचें आढळून येईल. समाजातील विषमता नष्ट करण्यासाठी मालकीवर नियंत्रण असावें. मालकींतून दुसऱ्या माणसाची पिळवणूक होऊं नये येथपावेतों कुणाचाहि विरोध नाही! आणि म्हणूनच जमीनधारणेबाबत दरएकरी उत्पादनवाढीसमवेत मालकीवरील नियंत्रण सामाजिक विषमतेसाठी स्वीकारलें जातें. साम्यवादांत तर मालकीला स्थानच नाही. उलट मालकी ही साम्यवादाशीं द्रोह करणारी आहे! साम्यवादाचा प्रचार व प्रसार हा एखाद्या धर्माप्रमाणे भुलावण, मनगटाचा जोर नि दडपशाही यांवर झाला नि होत आहे. त्यांत व्यक्तिस्वातंत्र्याची प्रत्यक्ष आहुति द्यावी लागते हें स्पष्टच झालें. पण असें असूनहि मानवी प्रेरणांची दखल घेऊन प्रत्यक्ष उत्पादन-क्षेत्रांतहि माफक प्रमाणावर 'मालकी' रशियांतहि मान्य करावी लागली. इतकेंच नव्हे, तर सामुदायिक शेतीच्या देशव्यापी पसऱ्यां छोट्या छोट्या जमिनी शेतीवर राबणारांना बहाल करायला लागल्या नि दरएकरी उत्पादनक्षमतेचें उत्तम क्षेत्र म्हणून त्याचा गौरवाने उल्लेख करावा लागला. आपल्याकडे उदात्त तत्त्वांवर भूदान आंदोलनाची उभारणी

करण्यांत आली. लाखों एकर जमीन भूदानांत समर्पित झाली. पण ग्रामस्वराज्यव्यवस्था नि दरएकरी उत्पादनवाढ ह्या दोन्ही दृष्टींनी भूदान चळवळ अपयशी ठरली, माझ्या जिल्ह्यांत १५६ खेड्यांचें भूदान झाल्याचें सर्वांच्या वाचनांत असेल! पण हें भूदान उदात्त भावनांनी प्रेरित होऊन झालेलें नाही. अडाणी, अज्ञानी ग्रामवासी-आदिवासींना पू. विनोबाजींच्या जयघोषांत मदतीच्या आमिषांनी 'आंगठे' देण्यांतून झालें, असें 'सुदर्शन' या जिल्हा-साप्ताहिकाच्या प्रतिनिधीचें म्हणणें असून त्याशीं भूदान चळवळीचे एक नेते डॉ. रा. ना. दातार बव्हंशीं सहमत आहेत! या १५६ ग्रामदांनी खेड्यांतून उत्पादनवाढहि साधली नाही आणि आदर्श ग्राम-स्वराज्यव्यवस्थेचें अस्तित्त्व देखील केवळ तेथील भूदान कार्यकर्त्यांच्या वास्तव्याने भासतें. 'एका तपानंतरहि मी एकटाच' अशा आशयाचे निर्वाणीचे नि निराशेचे पू. विनोबाजींचे उद्गार हें कशाचें द्योतक आहे? तेव्हा मालकी संपूर्णतया डावलून स्वेच्छेने, खुषीने वा हृदयपालटाने स्थानिय शेतकीव्यवस्था आजवर निर्माण होऊं शकली नाही. एखाददुसऱ्या ठिकाणीं कांहीसा यशस्वी प्रयोग झाला असल्यास तो अपवाद म्हणून समजला जावा, अशी सध्यांहि समाजाची धारणा आहे. सहकारी शेतींत मालकी कायम राहणार अशी वारंवार ग्वाही दिली जाते. पण या मालकीचें स्वरूप काय राहील? जमिनीची किंमत केली जाऊन सभासदाचें तेवढें भांडवल म्हणून गणलें जाऊन त्या प्रमाणांत डिव्हिडंड मिळण्याच्या हक्कापुरतीच ही मालकी मर्यादित राहणार का? आणि खुषीने तो बाहेर पडावयाच्या वेळीं त्याच्या जमिनीचा यथायोग्य मोबदला मिळणार का हें 'भांडवल' त्याला परत मिळण्याचाच त्याचा हक्क राहील? का त्याचेंच शेत त्याला मिळणार? शिवाय सहकारी शेतीतील 'कागदी' मालकीमुळे प्रत्यक्ष शेतीव्यवस्थेसाठी जरी संस्थे-मार्फत सारी सोय होणार असली तरी संसारांतील अन्य गरजा— शिक्षण, आजार, लग्नकार्ये, प्रवास इत्यादि भागविण्यासाठी सभासदाची व्यवस्था होऊं शकणार नाही! शेती सहकारी व्यवस्थेंत असल्याने तिच्या प्रत्यक्ष कच्चाअभावी सभासदाच्या कर्ज-उभारणीच्या पतीलाहि धक्का पोचतो! व्यवहारांतील या अडचणी असल्याने व मालकीची भावना ही मानवी मनांतच प्रभावी असल्याने खुषीने सहकारी शेती ही मोठ्या प्रमाणावर भारतांत फोफावणार नाही! अर्थात् सहकारी शेतीचें व्यक्तिगत शेतीला केवढेंहि भावनापूर्ण आव्हान दिलें गेलें तरी खाजगी शेती वा व्यक्तिगत शेती हीच टिकाव धरून राहील हेंच मानवी स्वभावास धरून आहे. "अनेक पिढ्यांपासून जगांतील निरनिराळ्या राष्ट्रांत संयुक्त किंवा सामुदायिक शेतीचे बुद्धिपुरस्सर प्रयत्न जरी सुरू केले गेले असले आणि या प्रयत्नांना आधुनिक यंत्रसामुग्री आणि उच्च प्रतीच्या तांत्रिक ज्ञानाची जोड जरी दिली गेली असली तरी मोकळेपणाने हाच निष्कर्ष काढावा लागतो की, सामुदायिक किंवा सहकारी पद्धतीचा शेतकऱ्यांवर तौलनिक दृष्ट्या फारच थोडा प्रभाव पडला." हे संयुक्त राष्ट्रसंघाच्या शेतीविषयक अभ्यास मंडळाचे बोलहि व्यक्तिगत शेतीच्या सरसपणाचीच ग्वाही देतात.

खरी समस्या वेगळीच आहे

अन्नधान्य आणि इतर शेतीमालाचें उत्पादन या दृष्टींनी आजचा काळ नाजुक असाच आहे. वाढती महागाई नि वाढती लोकसंख्या यामुळे

चित्तेंत भरच पडत आहे. अशा स्थितींत जमीनधारणेचें स्वरूप हें व्यक्तिगत असावें की तें संस्थानिष्ठ असावें यावर निर्णय घेण्याऐवजी अथवा सहकारी शेतीच्या आध्यानापुढे खाजगी शेती टिकेल की नाही याचा तर्कशुद्ध निर्णय घेण्याऐवजी दर एकरां उत्पादनवाढ कशी होईल याचा व्यवहारी मार्ग सोडवाळलेला अधिक बरा. सैद्धांतिक बाबींवर भर देण्याऐवजी व्यवहारी मार्गांनी विकास हा सुलभतेने नि झपाट्याने साधला जातो. म्हणून सरकारने छोट्या शेतकऱ्यांच्या अडचणींची सोडवणूक करण्याऐवजी सहकारी शेतीच्या मावी विकासाच्या भरीस पडून त्यांना कार्नीत धरून, वस्तुतः जवरीनेच, पण वर वर दिसायला खुषीचा, असा सहकारी शेतीचा अवलंब करण्यास त्यांना भाग पाडूं नये. सहकाराच्या साहाय्याने शेतकऱ्यांना साधनांनी सुसज्ज केलें तर उत्पादन हें व्यक्तिगत शेतींतून हमखास वाढू शकतें. पण शेताचा बांध ही व्यवहार दृष्टीने सहकाराची 'लक्ष्मणरेषा' समजण्यांत यावी. बांध फोडून, सहकाराची लक्ष्मणरेषा ओलांडून, जर सहकाराला जबरदस्तीने सरकारने आंत घुसविलेंच तर शेतकऱ्यांचा असहकार सुरू होतो, असा सार्वत्रिक व सार्वजनिक अनुभव आहे. जगप्रसिद्ध शेतीशास्त्रज्ञ डॉ. ऑटो शिलर हे भारतांत

आले. शेती व शेतीसंस्था यांची त्यांनी पाहणी केली. सुमारे दोन वर्षांपूर्वी भारत सरकारला त्यांनी अहवाल सादर केला. त्या अहवालाचा निष्कर्ष हाच आहे की, 'भारताने सहकारी शेतीवर अवास्तव जोर देण्यापेक्षा सहकाराने परिपुष्ट झालेली व्यक्तिगत शेतीच भारताचा अभ्युदय गाठू शकते.' भारत सरकारच्या घोरणामुळे नि पक्षोपपक्षांच्या प्रचारांमुळे जरी सहकारी शेतीचें पारडें प्रचारी थाटाने जड झालेलें दिसत असलें तरी काळाच्या ओघांत नि उपयुक्ततेच्या निकषावर तें पारडें हलकेंच होणार आणि व्यक्तिगत शेतीचा माथा उजळ होणार, यांत जराहि संदेह नाही. सुबत्तेच्या काळांत प्रयोग, प्रतियोगिता वा स्पर्धा यांचा अवलंब समाजाला नेहमीच पोषक असतो. पण बिकट काळांत, आहे त्या स्थितींतून प्रयत्नांची पराकाष्ठा करून, 'एकीच्या बळा'चा वापर करून आत्मनिर्भरता गाठावी लागते. म्हणूनच सहकारी शेती की खाजगी शेती हा यक्षप्रश्न आमच्या समोर आज तरी नसावा. शेती ही नैसर्गिक जीवमान पद्धति असून सिद्धांतांतून तिचा विकास गाठण्याचे प्रयोग आम्हांस परवडायचे नाहीत. आणि म्हणून व्यक्तिगत मालकीची शेती ही सहकाराने 'सुफलाम्' करणें हाच आम्हांस पर्याय राहिला आहे.



“मला कळत नाही की 'मराठा' या शब्दाला जातीयवाचक अर्थ अजून आपण कां चिटकवितों. मी या राजकीय प्रांगणांत गेल्या तीस-चाळीस वर्षांतले शेकडों मराठा तरुण दाखवून देईन की ज्यांना मराठा या शब्दाचें जातीयवादी आकर्षण नाही. महाराष्ट्रांतला तो मराठा अशी त्याची सुबोध साधी व्याख्या आहे. माझ्या भोवतीं असलेल्या शेकडो कार्यकर्त्यांच्या जीवनांत तो जातीयतेचा धागा विलकुल नाही, असा माझा विश्वास आहे.”

—श्री. चव्हाण

सहकारी शेतीचा का?



त्र्यं. शि. भारदे

दूये कान्ताकरं वीक्ष्य मणि-कंकण-वर्जितम् ।

अतः परं परं दूये मणिकं कणवर्जितम् ॥

(कवि म्हणतो—रत्न आणि कंकण नसलेला असा माझ्या बायकोचा हात पाहून मला वाईट वाटते. परंतु त्याहिपेक्षा धान्याचा कण नसलेला रांजण (मणिकं) पाहून तर मला जास्त दुःख होते.)

आज सर्वत्र सहकारी शेतीची चर्चा चालू आहे. एवढा कुतूहलजनक आणि चर्चेचा विषय बऱ्याच वर्षांत दुसरा कोणताहि झालेला नसेल. कांही लोकांना सहकारी शेतीशिवाय तरणोपाय नाही असे वाटते, तर कांही लोकांना सहकारी शेती म्हणजे प्रलयकाल असे वाटते. आस्था आणि अपेक्षा, अनास्था आणि उपेक्षा, जिशासा आणि आशंका इत्यादि अनेक भावनांचे काहूर सहकारी शेती या शब्दाने निर्माण केले आहे. प्रस्तुत लेखांत सहकारी शेतीशिवाय गत्यंतर नसून सहकारी शेतीबद्दल वेतले जाणारे आक्षेप किती फोल आहेत, हे थोडक्यांत सादर करण्याचा नम्र प्रयत्न करण्यांत येत आहे.

भारतातील शेती कशी आहे याबद्दल अनेकवार आकडेवारी प्रसिद्ध झाली आहे. ही आकडेवारी येथे मी विस्तारभयास्तव देऊं इच्छित नाही. कारण या आकडेवारीवरून शाबीत होणारा टोबळ मुद्दा सर्वमान्य आहे आणि तो म्हणजे आपली शेती बहुतांशाने लहानलहान खात्यांची (Holdings) म्हणजे लहानलहान तुकड्यांची शेती आहे. शेतकरी जी जमीन धारण करतो त्याला त्याचे खाते असे म्हणतात. अशीं निम्म्याहून अधिक खातीं पांच एकरांच्या आंत असून जवळ जवळ ऐशी टक्क्यावर अशीं खातीं वीस एकरांच्या आंत आहेत. शिवाय सर्वांना हे विदित आहे की बहुतेक सर्व जमिनी या कोरडवाहू जिरायती जमिनी असून केवळ पावसाच्या पाण्यावर अवलंबून आहेत. महाराष्ट्रांत तर बागायती जमिनी अवघ्या पांच टक्के आहेत. सारांश, एक एकर, दोन एकर, पांच एकर अशाच बहुसंख्य जमिनी आहेत आणि त्याहि बहुतेक सर्व कोरडवाहू आहेत ही वस्तुस्थिति आहे. या वस्तुस्थितीकडे कोणालाहि डोळेझाक करतां येणार नाही. ही वस्तुस्थिति लक्षांत घेऊनच सहकारी शेतीचा विचार केला पाहिजे हे सांगणे नकोच.

सहकारी शेतीबाबत आज कांही लोकांचा मतभेद असला तरी गेल्या कित्येक वर्षांपासून इकॉनॉमिक होर्डिंगची कल्पना सर्वमान्य झालेली आहे. जमिनीची शेती किफायतशीर व्हावयाची असेल तर अमुक अमुक जातीची जमीन कमीत कमी अमुक एकरांची अगलीच पाहिजे हा विचार म्हणजे अर्थक्षम क्षेत्रविचार होय. अनेक ठिकाणी कोरडवाहू जमिनीच्या



बाबतीत पंचरावीस एकर हें किमान धारणक्षेत्र असल्याशिवाय ती शेती किफायतशीर होऊ शकत नाही, असे निष्कर्ष शेतीतज्ञांनी काढले आहेत. सहकारी शेतीबद्दल आक्षेप घेणारांचाहि या अर्थक्षम क्षेत्रसिद्धांताला विरोध नाही हें लक्षांत घेण्यासारखें आहे.

अगदी लहानसाच तुकडा (fragment) जर अल्प असेल तर त्याची उत्पादनक्षमता रहात नाही, म्हणून शेजारच्या सलग जमिनीत तो विलीन करून टाकावा हें एकत्रीकरणानें तत्त्व आहे. त्यालाच तुकडेजोड असें म्हणतात. ही कल्पनाहि सर्वमान्य आहे. तुकडेजोड कायदेहि झाले आहेत. त्याला आज सहकारी शेतीवर आक्षेप घेणारांनीहि विरोध केल्याचें ऐकिताने नाही. छोट्या तुकड्यामुळे जर उत्पादनक्षमताच रहात नसेल तर तो शेजारच्या जमिनीत विलीन करावा हा मुद्दा सर्वमान्य आहे. या पार्श्वभूमीवर सहकारी शेती विशेष नजरेत भरू शकेल. लहान तुकडा (fragment) जरूर तर सक्तीने जोडावा याला मान्यता देणारे लोक असे तुकडे लोकांनी सहकाराने एकत्र आणण्यास मात्र विरोध करतील तर तें हास्यास्पदच ठरणार आहे.

कमी एकरांची, छोट्या क्षेत्राची बहुसंख्य जमीन किफायतशीर व्हावयाची असेल तर किमान धारणक्षेत्राची आवश्यकता, उत्पादनास अक्षम अशा तुकड्यांच्या एकत्रीकरणाची आवश्यकता, आणि छोट्या जमिनींचें एकत्रीकरण झाल्याशिवाय उत्पादनक्षम व अर्थक्षम शेती होऊ शकत नाही ही वस्तुस्थिति, या सर्व पार्श्वभूमीच्या आधारावर सहकारी शेतीचा विचार करावा लागेल. सहकारी शेती भेयस्कर आहे की नाही हा विचार बाजूला ठेवला तरी शेती अधिक उत्पादनक्षम, 'अर्थक्षम आणि कार्यक्षम झाली पाहिजे याबद्दल तर वाद नाही. ही गोष्ट एकेकट्याच्या मशागतीने सुलभ व सुकर होईल की सहकारी शेतीने सुलभ व सुकर होईल याचा शास्त्रोक्त विचार म्हणजेच सहकारी शेतीचा विचार आहे. बाकीचे अनेक अवांतर मुद्दे उपस्थित करून सहकारी शेतीवर आक्षेप घेण्याने या मूलभूत प्रश्नाचा उलगडा होणार नाही.

या प्रश्नाचा विचार धरण्यासाठी दोन परिसंवाद झाले अशी कल्पना करून त्यांत काय निष्कर्ष निघाले हें पहाणें मोठें उद्बोधक ठरेल. एक परिसंवाद झाला अज्ञ शेतकऱ्यांचा व तो पाच मिनिटांत संपला. दुसरा परिसंवाद तज्ज्ञांचा झाला तो पांच दिवस चालला. दोन्ही बैठकांत काय घडलें ? अज्ञ शेतकऱ्यांच्या बैठकीत चर्चा सुरू होताच या बाबतीत आपलें डोकें कांही चालत नाही अशी पटकन् प्रांजल कबुली त्यांनी दिली व ईश्वरावर विश्वास ठेवून इमानें इतबारें मेहनत करावी, बाकी डोकें खाजवूं नये, जसें चालेल तसें चालेल; हा निर्णय त्यांनी पांच मिनिटांत घेतला व हा परिसंवाद संपला. तज्ज्ञांचा जो परिसंवाद झाला त्यांत अनेक तज्ज्ञ उपस्थित होते. अंकशास्त्रज्ञ (statisticians,) शेतीशास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्रज्ञ, मानसशास्त्रज्ञ, राज्यशास्त्रज्ञ इत्यादि तज्ञांनी त्यांत भाग घेतला. प्रथम शेतीसंबंधीची आकडेवारी परिसंवादांत सादर करण्यांत आली. निम्म्याहून अधिक जमिनी पांच एकरांच्या आंत आहेत व त्या किफायतशीर नाहीत ही वस्तुस्थिति सर्वोना विदित करण्यांत आली. तेव्हा शेती-शास्त्रज्ञ व अर्थशास्त्रज्ञ यांनी सांगितले, या दहावीस एकरांच्या आंत असलेल्या जमिनी अर्थक्षम क्षेत्र (economic holdings) च्या

सदरांत पडत नाहीत. त्या किफायतशीर होणार नाहीत, म्हणून या अर्थक्षम नसलेल्या (uneconomic holdings) छोट्या आकाराच्या जमिनीचें अर्थक्षम क्षेत्रांत रूपांतर झाल्याशिवाय कार्यभाग होणार नाही. सारांश, अशी छोट्या तुकडेवजा पांचसात एकरांच्या आंत असलेल्या जमिनीची शेती किफायतशीर होणार नाही हा मुद्दा या परिसंवादांत सर्वमान्य झाला. तेव्हां अशा छोट्या जमिनींचें एकत्रीकरण हा मुद्दा चर्चेला घेण्यांत आला. दोनचार एकरवाल्या दहावीस लोकांना एकत्र आणून हें एकत्रीकरण करतां येईल की नाही याचा उहापोह करण्यांत आला. लोकांना एकत्र न आणतां जमीन एकत्रित करावयाची तर कांही लोकांना तेथून हाकून लावून कांहींच्या ताब्यांत ती जमीन घावी हा मुद्दा तर कोणालाच पसंत नाही. तेव्हा शेतकऱ्यांनी एकत्र येऊन एकत्रित शेती करावी या सहकारी शेतीच्या मुद्द्याचा परिसंवादांत विचार सुरू झाला. तेव्हा राज्यशास्त्रज्ञ व मानसशास्त्रज्ञ यांनी कांही मूलभूत आक्षेप उपस्थित केले. मानसशास्त्रज्ञांच्या विचारांत मानसिक प्रक्रियांचें चांगलें विश्लेषण होतें. ते म्हणाले, "अहो, लोक एकत्र येऊन आपली शेती एकत्रित करतील ही गोष्ट मानसशास्त्र पहातां अशक्यप्राय आहे. आज प्रेमाने लग्न झालेल्या अनेक कुटुंबांतून काडीमोडीचें वादतें प्रमाण आहे; जे प्रत्यक्ष पाठीवर पाय देऊन आले आहेत असे सख्खे भाऊ सुद्धा एकत्र कुटुंबपद्धतीला फाटा देऊन विभक्त होत आहेत. हें आपण पाहत असतांना ज्यांचे कांही संबंध नाहीत असे शेतकरी एकत्र येऊन आपल्या सर्व जमिनी एकत्रित करतील व एकत्र कसतील हें अगदी असंभवनीय आहे." हा मुद्दा परिसंवादांतील तज्ज्ञांनाहि पटला व त्यांत तथ्य आहे हें कोणीहि मान्य करील. असें हें विचारमंथन पांच दिवस चालून या प्रश्नाचा सखोल व शास्त्रोक्त उहापोह झाला. पण निष्कर्ष काय हा खरा मुद्दा आहे. छोट्या शेतीक्षेत्राची शेती फायदेशीर नाही हा मुद्दा सर्वोना मान्य झाला आहे. आणि एकत्र शेती होणेहि कठीण आहे, हाहि मुद्दा या सर्वोना मान्य झाला आहे. तुकड्यांची शेती चालत नाही आणि सहकारी शेती होत नाही असा या परिसंवादाचा निष्कर्ष आहे. हेंहि होत नाही आणि तेंहि होत नाही तेव्हा होईल तें होईल हाच तज्ज्ञांचा निष्कर्ष झाला. म्हणजे अडाणी शेतकऱ्यांनी जो निर्णय पांच मिनिटांत प्रांजळपणें घेतला तोच निर्णय या अधिकारी तज्ज्ञमंडळींनी पांच दिवसांनी घेतला ही मौज नव्हे काय ? तुकड्याची शेती फायदेशीर नाही हें विचारी लोकांना माहीत आहे व सहकारी शेती अवघड आहे हेंहि विचारी लोकांना माहीत आहे. तेव्हा केवळ उणीवा सांगून वा रोगनिदान करून चालत नाही ! तर कांही पर्याय वा उपचार सुचवावा लागतो. तर त्याला विचार म्हणतां येईल. नाही तर तो वावदूकपणा ठरेल. सहकारी शेतीबद्दल जे विचारवंत आज टीका करीत आहेत त्यांनी लहानलहान जमिनींना उत्पादनक्षम, अर्थक्षम व कार्यक्षम बनविण्यासाठी कोणत्या रीतीचा अवलंब केला पाहिजे याचे शास्त्रोक्त पर्याय व समर्पक उत्तर दिल्याशिवाय, केवळ सहकारी शेतीतील अडचणींचा बाऊ करून, तिला विरोध करण्याने कार्यभाग होणार नाही.

वरील विवेचनावरून शेतीची समस्या अगदी स्पष्ट होईल. जमिनीची

प्रकृति पहातां अलग्ग तुकळ्याची शेती जमत नाही आणि माणसांची प्रकृति पहातां सहकारी शेती जमत नाही ही ती समस्या होय. धनाचा विचार केला तर जमिनी एकत्र केल्या पाहिजेत आणि मनाचा विचार केला तर त्या अलग्ग असल्या पाहिजेत असा हा पेच आहे. अलग शेती बढत नाही आणि सहकारी शेती पटत नाही असा हा भारी सवाल आहे. यापैकी श्रेयस्कर काय याचा निर्णय केल्याशिवाय केवळ शंका-कुशंकांनी हा गंभीर प्रश्न अधिक गुंतागुंतीचा करण्यापलीकडे कांही साधणार नाही. जो आपली बुद्धि योडीसुद्धा वापरील त्याला याचें स्पष्ट उत्तर दिसेल. जमिनी छोट्या आहेत त्या मोठ्या कराय्यात हें तर निसर्गातःच शक्य नाही आणि लोकांना एकत्रित आणणेहि अशक्यप्राय आहे, हे दोन्ही मुद्दे मान्य केले तरी एकच उत्तर निघते आणि तें हें की जमिनीचा आकार आम्ही बदलूं शकत नाही, पण माणसांचा विकार आम्ही बदलूं शकतो. छोट्या जमिनी आम्ही मोठ्या करूं शकत नाही, पण छोटें मन आम्ही मोठें करूं शकतो. म्हणजेच सहकारी शेतीशिवाय तरणोपाय नाही. सारांश, सहकारी शेती अवघड असली तरी शेतीची परिस्थिति जर आम्हांला बदलतां येत नाही तर माणसाची मनस्थिति बदलून ती परिस्थिति काबूत आणून शेती आणि शेतकरी यांना संपन्न करणें हाच एकमेव पर्याय उरतो व हाच सहकारी शेतीचा अर्थ आहे.

चारदोन एकरांचे जमीनमालक एकेकटे शेती करित आले आहेत. पण त्यांना बैलजोडीहि ठेवतां येत नाही, अवजार ठेवतां येत नाही, अशा अनेक उणीवा आहेत. छोट्या जमिनीच्या गरीब जमीनमालकाला पतहि नाही व ऐपतहि नाही. बरें, चारदोन एकरांसाठी बैलजोडी परवडत नाही. कारण, कमी क्षेत्रामुळे बैलजोडीला पुरेसे काम नाही. मध्ये बांध असल्याने या जमिनीची चांगली मशागत करता येत नाही. बांध काढून टाकले आणि बांधाखालची सर्व जमीन लागवडीखाली आली तर उत्पादन वाढेल हा मुद्दा तर लहान पोराला समजण्यासारखा आहे. आज तुकळ्यांतील पिकावर मागत नाही, पण पीकाचें राखण सोडून दुसरीकडे जावत नाही अशी अनेक ठिकाणीं अडचण आहे. त्या पीकाचें आळीपाळीने राखण झालें व सर्वांनी मिळून श्रमविभाग केला तर सर्वांचा फायदा होईल. सारांश, ज्याला साधें गणित व अर्थशास्त्र माहीत आहे त्याला शेती एकत्र केल्याने अधिक फायदे होतात हें सहज कळण्यासारखें आहे. अर्थात् त्यासाठी लोकांना तयार करणें अवघड आहे, एकत्र व्यवहारांत कांहीं गुंतागुंतीहि आहेत हें आम्ही मान्य करतो. वादाचा मुद्दा एवढाच आहे की, लोक तयार नाहीत म्हणून आपण लोकांना तयार करण्याची भूमिका ध्यावयाची की लोकांच्या माननांशी खेळ खेळून या एकमेव अपरिहार्य शेतीहिताच्या कार्यक्रमांत अडथळे आणावयाचे. अडाणी माणसाला शहाणपणाचा मार्ग दाखविण्यांत शहाणपणा आहे की, आपल्या दीडशहाण्या युक्तिवादने त्याला शहाणपणाच्या मार्गापासून खेचण्यांत शहाणपणा आहे याचा गंभीर विचार सहकारी शेतीच्या टीकाकारांनी करावयास हवा. या टीकाकारांचे आक्षेप किती फोल आहेत हें आम्ही थोडक्यांत दाखवूं इच्छितों.

कांही टीकाकार म्हणतात की, सहकारी शेती आली की शेतकऱ्याची

जमीन जाणार. शेतकरी सुखासुखी आपला जमिनीवरील ताबा सोडीत नाही हें सर्वमान्य आहे. मग पूर्वी व आजहि अनेक गरीब शेतकऱ्यांच्या जमिनी त्यांना विकण्या लागल्या आहेत हें आपण पहातो. कांही ठिकाणी आपली जमीन सोडून रोजगारासाठी शेतकरी कारखानदारीच्या गावी पोटासाठी येतो हेहि आपण पहातो. या गोष्टीचा तर सहकारी शेतीशी कांही संबंध नाही. ज्यांचे जमिनींत मागत नाही व गुजारा होत नाही. त्याला नाइलाजाने जमीन सोडावी लागते व म्हणूनच कर्जबाजारीपणामुळे अनेकांच्या जमिनी गेल्या व ते भूहीन झाले. शेतकरी भूहीन होऊं नये व त्याची जमीन त्याला रहावी ही सर्वांची उत्कट इच्छा आहे. ही जमीन त्याच्याकडे रहावयाची असेल तर ती फायदेशीर झाली पाहिजे. आणि ती फायदेशीर बनविण्यासाठी सहकारी शेती आहे. चारदोन एकरवाला सहकारी शेतींत आला नाही आणि त्याचें त्या जमिनीत भागलें नाही तरी त्याची जमीन जाणार आहे. त्याची जमीन त्याच्याकडे रहावी व त्यांत त्याचा गुजारा व्हावा यासाठी या जमिनीचें सहकारी पद्धतीच्या आचारें नवसंस्करण झालें पाहिजे हा सहकारी शेतीचा अर्थ आहे. तेव्हा जमीन जाणार हा प्रचार केवळ लोकांना बहकवण्यासाठी आहे हें उघड आहे. शिवाय सहकारी शेतीमध्ये येणाऱ्यावर सक्ति नाही. आपल्या नफ्यातोठ्याचा विचार करून तो येणार. आणि सर्वांत महत्त्वाची गोष्ट ही की, निजळ्यापणा कमेटीच्या शिफारशीप्रमाणें पांच वर्षांनी आपली जमीन परत घेऊन संस्थेच्या बाहेर पडण्याचा हक्कहि शेतकऱ्याला दिला आहे. ही गोष्ट सरकारने मान्य केली आहे. त्यामुळे तर या आक्षेपाला काडीचाही आधार उरलेला नाही.

कांही लोक म्हणतात, अहो, हा नांवाचा सहकार आहे, सक्ति होणार. हा आक्षेप तर केवळ वावदूकपणाचा आहे. सहकारी शेतींत यावयाचें की नाही हा सर्वस्वी खुपीचा मामला आहे. शेतकऱ्याच्या इच्छेविरुद्ध त्याला सहकारी शेतींत आणलें जाणार नाही हें उघड आहे. पं. नेहरू व सर्व राष्ट्रेते या बाबतींत सक्ति होणार नाही, हा पूर्ण शेतकऱ्यांच्या मर्जीचा प्रश्न आहे असा सारखा निर्वाळा देत आहेत. अशा स्थितीत नेहरू म्हणू द्या हो, पण सक्ति होणार—अशी कोल्हेकुई माजविणें म्हणजे शुद्ध दामिक वावदूकपणाच होय. सहकारी शेतींतून सामुदायिक शेती (collective farms) व त्यांतून हुकुमशाही येणार असाहि आक्षेप घेतला जातो. शेतीवर सामुदायिक मालकी प्रस्थापित करणें हें काम हुकुमशाही सरकारंनाहि किती कठीण झालें हें सर्वांना विदित आहे. आधी हुकुमशाही प्रस्थापित झाल्याशिवाय शेतीचें सामूहीकरण शक्य नाही हें उघड आहे. म्हणून सहकारी शेतींतून सामूहीकरण व त्यांतून हुकुमशाही हा क्रम अशक्य असून हुकुमशाहींतून सामूहीकरण हा क्रमच शक्य आहे. हुकुमशाही व सामूहीकरण एक लाल पक्ष सोडला तर कोणाहि भारतीयाला मंजूर नाही. म्हणून तर लोकशाही पद्धतीच्या सहकारी शेतीचा पुरस्कार करण्यांत येत आहे. शेतीच्या क्षेत्रांत लोकशाही पद्धतीने स्थैर्य निर्माण करण्याचा हा महाप्रयत्न आहे. चीनसारख्या देशांत कम्यून पद्धती-प्रमाणें शेतकऱ्यावर सक्ति केली जाते. सक्तीमुळे कामांत कदाचित् उठाव येईल पण माणसाचा प्रभाव कमी होईल. शेवटीं पिकें माणसासाठी आहेत. पिकें फुळलीं आणि माणसें कोमेजलीं तर तें इष्ट नव्हे. म्हणूनच

फुलोरा फुलावा आणि भागसांचाहि चेहोरा फुलावा यासाठी सहकारी शेती आहे. हुकूमशाहील ग्रामीण क्षेत्रांत प्रभावी पर्याय देणाऱ्या सहकारी शेतीबद्दल लोकशाहीची आस्था बाळगणाऱ्या विचारवंतांनीच विपयांस करून तिचा हुकूमशाहीशी बादरायण संबंध जोडावा, हा दैवदुर्विलास होय.

कांही लोक म्हणतात की, अहो, आपल्या मालकीच्या जमिनीत मालक काटाकाळजीने काम करतो; त्याची आत्मीयता आहे, नफ्याचा तोच पूर्ण वाटेकरी असल्यामुळे तो मोठ्या उत्पादाने व जिद्दीने शेती चांगली करील पण सहकारी शेती—म्हणजे बारमाई खेती. मालकीशिवाय व विलोभनाशिवाय कोण काम करणार ? या मुद्यांत तथ्य नाही असें नाही. पण एकदा मालक अत्मीयतेने पहात असून व त्याला विलोभन असूनहि जमिनीचें क्षेत्रच जेथे अपुरें आहे तेथे हा युक्तिवाद टिकत नाही. शिवाय केवळ मालकी किंवा आपला ताबा हें विलोभन होऊं शकत नाही. सहकारी शेतीच्या अनेक टीकाकारांकडे मोठी शेती आहे. त्या शेतींत मजूरहि काम करतात. मालकी आणि हुकमी ताबा हेंच जर विलोभन असेल तर मजुरांना तें नाहीच, मग त्यांनी काम कां करावें याचें उत्तर देतां येत नाही. शिवाय स्वतःच्या मालकीचे जमिनीचे तुकडे सोडून कांही लोक दुसऱ्याच्या गिरणीत कामाला कां आले याचाहि उलगडा या युक्तिवादने होत नाही. उत्पन्न हें विलोभनाचें मुख्य आकर्षण आहे. जेणेकरून आपलें उत्पन्न वाढेल अशा गोष्टीमध्ये माणसाला विलोभन वाटतें. सहकारी शेती त्यासाठीच असल्याने वैयक्तिक विलोभनाबरोबरच सामुदायिक विलोभनालाहि त्यांत स्थान आहे. कारण आपल्या अमाचा व नफ्याचा पूर्ण मोबदला आपल्यांतच वाटला जाईल ही हमी त्यांत आहे.

कांही लोक एका गावांतील चांगल्या शेतकऱ्याची चांगली शेती पहातात आणि तिची तुलना सहकारी शेतीशी करतात. समजा, रामराव पाटलाची जमीन सरासरी जास्त उत्पादन करते तेवढें सहकारी शेतींत होत नाही. याचा निष्कर्ष हा निघेल की सहकारी सोसायटीपेक्षा रामरावाची

शेती चांगली आहे, पण त्यावरून वैयक्तिक शेती चांगली आहे असें शाबीत होणार नाही. कारण गावांत अनेक व्यक्ति शेती करतात. त्या वैयक्तिक शेतीची सरासरी काढून मग सहकारी शेतीशी तुलना केली पाहिजे. शिवाय सहकारी शेतीचें मूल्यमापन करतांना जी शेती सहकारी क्षेत्रांत आणण्यांत आली आहे ती आली नसती तर ती किती उत्पादनक्षम झाली असती याच्या तुलनेने पहावयास हवें. मोठ्या खातेदारांची जी शेती आहे व साधनांच्या अनुकूलतेमुळे जे ती चांगली करतात त्यांचा प्रश्न अलाहिदा आहे. परंतु जमीन तोकडी आहे, पत कमी आहे, साधनसामुग्री अपुरी आहे, क्षेत्र अपुरें आहे अशा जमिनींची व्यवस्था शेतकऱ्यांना आपल्या तुटपुंज्या बळावर स्वतःच्या जबाबदारीवर करता येणार नाही. त्यासाठी जमिनीची व शेतकऱ्यांची शक्ति एकत्रित करूनच शेतीचें उत्पादन व शेतकऱ्यांचें उत्पन्न वाढवावें लागेल हाच सहकारी शेतीचा मूळ हेतु आहे.

सहकारी शेती फायदेशीर असूनहि शेतकऱ्यांना त्याचें आकलन होऊन सहकारी शेतीचा वेग वाढण्यास अवधि लागेल हें सर्व विचारी लोक जाणतात. पण विचार अंमलांत येण्यास वेळ लागेल म्हणून अविचाराला विचार मानतां येणार नाही. एकदा तोकड्या साधनांच्या तुकडे-जमिनींचा विकास सहकारी शेतीनेच होणार हें स्पष्ट झाल्यावर त्याचे फायदे लोकांना पटवून लवकरांत लवकर सहकारी शेतीचा वेग वाढविणें हाच विवेकी मार्ग असून तसें न करतां लोकांच्या पारंपरिक समजुतीचा गैरफायदा घेऊन त्यांत अडथळे आणणें ही अविवेकाची कमाल होय. आत्मिक एकतेच्या व भारतीय एकत्मकतेच्या भारतीय संस्कृतीचें नांव घेणारे शेतकऱ्यांच्या सहभावनेने निर्माण झालेल्या जमिनीच्या व हृदयाच्या एकत्मतेस विरोध करतांना पाहिले म्हणजे संस्कृतीच्या नांवावर विकृति कशी व्यक्त होते याची साक्ष पटते. एकत्मता ही संस्कृति तर अलगा तुकडे ही विकृति होय. सहकारी शेती म्हणजे प्रगत शेती आणि प्रगत नीति यांचा समन्वय होय !



यशवंतरावांचें वर्धिष्णु चरित्र



य. कृ. खाडिलकर
संपादक : नवाकाळ

१९५५ चा दहा ऑक्टोबर, १९५६ चा एक नोव्हेंबर आणि १९६० चा एक मे। संयुक्त महाराष्ट्राच्या दृष्टीने या तीनही तारखा अविस्मरणीय आहेत. पहिल्या निर्दिष्ट तारखेस रा. पु. कमिशनने मुंबई-सह संयुक्त महाराष्ट्राच्या सुखस्वप्नांची राखरांगोळी केली, आणि त्यांतून महाराष्ट्राला पेटविणाऱ्या आगीच्या ज्वाळा उसळल्या. दुसऱ्या निर्दिष्ट तारखेस गुजराथशी विदर्भ-मराठवाड्यासह महाराष्ट्राचा राक्षसविवाह झाला व समिती-कांडांत तो अविचल राहिला. तिसऱ्या निर्दिष्ट तारखेस पं. नेहरूंच्या आशीर्वादाने व ना. यशवंतराव चव्हाण यांच्या नेतृत्वाखाली लोकांच्या अतीव उत्साह-आनंदांत मुंबईसह महाराष्ट्र साकार झाला. जे होतें तें चांगल्या साठीच असें जसा काळ जातो तसें कळून चुकतें. संयुक्त महाराष्ट्राच्या दोन तारखा बांधोटी गेल्या, आणि विशिष्ट परिस्थितीत मुंबई-सह महाराष्ट्र तिसऱ्या तारखेस अस्तित्वांत आला, ही घटनाहि सूक्ष्म दृष्टीने विचार केला तर लोकशाही महाराष्ट्राला उपकारक व धार्जिणी अशीच वाटते.

मागणी केल्यावर ती आयती मिळाली आणि समाजाच्या सर्व थरांचें एकात्म्य त्या मागणीशी झालेलें नसलें तर मागणी पुरी झाल्यावर त्याबद्दलची अपूर्वाई व जिवंत जपणूक पुढें टिकतेच अशांतला भाग नाही, आणि विशिष्ट लोकांची मत्केदारी प्रस्थापित होण्याचाहि धोका असतो. रा. पु. कमिशनच्या अहवालांतच महाराष्ट्राची मागणी पुरी झाली असती तर काय झालें असतें? याचें चित्र जरासे डोळ्यांसमोर आणून पाहण्यासारखें आहे. संयुक्त महाराष्ट्र परिषद आणि तिचे जवळजवळ सर्वाधिकारी अभ्यक्ष श्री. शंकरराव देव यांच्याकडे संयुक्त महाराष्ट्र चळवळीचें नेतृत्व होतें. त्यांच्याशिवाय सं. म. परिषदेचें पान हलत नव्हतें. आणि इतर पक्ष जवळजवळ निर्माल्यासारखे या परिषदेत होते. दोनचार लाखांच्या सभा श्री. शंकरराव देव यांच्या शब्दावर रा. पु. कमिशनच्या अहवालापूर्वी आणि नंतरचे कांही महिने छल्लत होत्या. श्री. शंकरराव देव म्हणतील तें धोरण, तोरण व ऐरण अशी यावेळची स्थिति होती. सऱ्या महाराष्ट्राचीं सूत्रें आपल्या मुठीत असलीं पाहिजेत, आणि कोणाचाहि भलाबुरा ललाटलेख लिहिण्याचें सटवाईचें सामर्थ्य आपल्या फटकाऱ्यांत असलें पाहिजे, अशी श्री. देव यांची महत्त्वाकांक्षा कळसाला पोहोचण्याचा तो एक त्यांच्या दृष्टीचा सुवर्णक्षण होता. 'ना. चव्हाण उतले मातलेले दिसतात, त्यांना फेकून दिलें

पाहिजे' अशा प्रकारची भाषा याच ऐन सद्दीच्या काळांत श्री. शंकरराव देव यांनी काढली, आणि 'बंधू कोण कोणाला फेकून देतो तें' असें प्रत्युत्तर त्यांना मिळालें अशी वदंता आहे. श्री. शंकरराव देव यांची कृपा महाराष्ट्रांत ज्याच्यावर होईल त्याचें भाग्य फळफळतें, व ज्याच्यावर वक्रदृष्टि होईल त्याचा एकाकी अवस्थेंत निर्मात्य होतो, असा वचक व दरारा निर्माण करण्याची जिद्द १९५५ साल मावळतांनाच संपली. 'मुंबईत ना. चव्हाणाकडे व दिल्लीत पं. नेहरूंकडे मला कोणी विचारीत नाही. काशीवास मी पत्करला यांतच काय तें समजा.' अशा प्रकारचे उद्गार श्री शंकररावांना १९६१ सालीं काढावे लागले आहेत आणि महाराष्ट्राचे मुख्य मंत्री ना. चव्हाण झाले आहेत. काळ कोणाचा नक्षा केव्हा व कसा उतरवील याचा नेम नसतो. एका पक्षाच्या किंवा व्यक्तीच्या आहारीं राज्याचें एकूण कर्तृत्व असण्यासारखी दुसरी कोणतीहि लोकशाहीला घातुक अशी श्रुतना असू शकत नाही. १९५५ सालीं महाराष्ट्र राज्य रा. पु. कमिशनने पाळण्यांत घातलें नाही, आणि जणू कांही महाराष्ट्रीय लोकशाहीवरचा फार मोठा धोकाच टाळला.

रा. पु. कमिशनच्या अहवालांत मुंबई भाषिकांचें राज्य नाकारण्यांत येतांच महाराष्ट्रांत उत्स्फूर्त चळवळीचा आगडोव उसळला आणि त्यांत नेतृत्वाची प्रस्थापित मिरासदारी जळून खाक झाली. या चळवळीनेच समितीचें नवें नेतृत्व उदयास आणलें. लोकांची चळवळ, तळमळ, त्याग, हौतास्य यांनी समिती स्थापित होण्यापूर्वीच कळस गांठला होता. त्या सर्वांचा बारसा, तेज, प्रतिष्ठा, दबदबा व दरारा समितीकडे चालत जाऊन संक्रमण काळांतील महाराष्ट्रीय जीवनांत समिती सर्वश्रेष्ठ, सर्वबलिष्ठ व कर्तृमकर्तुम् ठरली. सार्वत्रिक निवडणुकी समितीने जिंकल्या आणि विदर्भाने काँग्रेसची पाठराखण न करितां समितीला थोडीफार साथ दिली असती तर मराठी भाषिक राज्यांत राजदंडाचा अधिकार समितीच्या मुठींत गेला असता. समिती महाराष्ट्राची चळवळ यशस्वी करणार अशी निष्ठा तर लोकांत होतीच, आणि त्याचबरोबर समितीबद्दल अनेक अपेक्षा लोकांच्या होत्या. समिती निष्ठेच्या महापुरांत महाराष्ट्रातील पक्षीयतेचे व जातीयतेचे ताबूत थंडे झाले, आणि चळवळीची व विधायक कर्तृत्वाची शींग गाठली जाऊन महाराष्ट्रांत पक्षातीत लोकशाहीचा नवा मनु प्रस्थापित होणार, अशा प्रकारचें महाकाव्य समितीचे महर्षि श्री. एस्. एम्. जोशी यांना सार्वत्रिक निवडणुकीनंतर स्फुरलें होतें. पण महापूर कायमचा टिकत नाही व तो ओसरतांच चिखल व त्यांत नत्वनारे बेडूक तेवढे शिल्लक राहतात. समितीच्या बाबतींत असाच अनुभव हळू हळू येत चालला. पक्षीयता व जातीयता यांचे बांध विरबळून न जातां वज्रलेप झाले आहेत, आणि समितीमध्ये पक्षीयतेचा कहर झाल्याने या यादवीत विधायक कर्तृत्व अशक्य बनलें आहे, धाकदपटशाचें भस्मासुरी राजकारण हेंच समितीचें भांडवल होऊं पहात आहे, असें तीनचार वर्षांतच दिसून येऊन श्री. एस्. एम्. जोशी यांना कपाळावर हात मारून ध्यावा लागला. जनतेची पतितगवन शिवशक्ति समितीमध्ये समाविष्ट झाली, पण पक्षीयतेचीं चिरगुटें व खरकटीं उपसण्याच्या कामी तिचा कट्टा मोकळा होऊं लागला. समितीतील फाटाफूट विक्रोपाला पोहोचली आणि संयुक्त महाराष्ट्राच्या कर्तबगारीयेवजी आपापसांत एकमेकांना

खच्ची करणारा करंटेपणा समितीमध्ये इतका बोकाळला की अखेर समिती दुभंगली. दिल्लीला हेलपाटे घालणारें महाराष्ट्राचें जुनें नेतृत्व, त्याचप्रमाणें होरपळून काढून कार्यभाग साधूं इच्छिणारें समितीचें नेतृत्व महाराष्ट्राच्या प्रतिष्ठापनेच्या बाबतींत अशा रीतीने कालपुरुषाच्या कसोटीला उतरलें नाही. संयुक्त महाराष्ट्राच्या प्रतिष्ठापनेच्या बाबतींत लोकशक्तीचा प्रभाव दाखविण्याची समितीची कामगिरी महाराष्ट्राच्या अलिकडच्या इतिहासांत अभूतपूर्व आहे, आणि नवी चळवळ सुरू करण्याचा समितीचा निर्धार संयुक्त महाराष्ट्र आणण्याच्या कामी शंभरावा हुकुमी खडा ठरला यांत वाद नाही. ना. चव्हाण हे प्रांजलपणानें हें ऋण अगत्यपूर्वक उल्लेखीत असतात. पण त्याचबरोबर हें नेतृत्व महाराष्ट्रयुगाच्या धारणा-पोषणाच्या कामी थिटें पडलें. १९५६ सालीं महाराष्ट्र झाला असता तर त्याची समिति-कांडांत काय वाट लागली असती कोण जाणे !

महाराष्ट्राचें प्रतिष्ठापित मिरासदार नेतृत्व विलयास जात असतांना आणि समितीचें नवें नेतृत्व लंगडू लागलेलें दिसत असतांनाच नवें कसदार नेतृत्व उदयाचलावर येऊन सर्वांचें लक्ष वेधून घेत चाललें होतें. 'शेतकऱ्यांचा पोर' द्विभाषिकाचा मुख्य मंत्री होण्यापूर्वीच पुरवठा-मंत्री या नात्याने त्याने आपली रंग व चाणाक्षपणा लोकांच्या नजरेस आणून अन्नधान्याच्या त्या वेळच्या आणीबाणीच्या परिस्थितीत पुरवठा खात्याची जडजोखीम शहाजोगपणाने संभाळली होती. त्याकाळीं आरे दूधवाड्याच्या म्हशी व रेडेहि त्यांच्याकडे विश्वासपूर्वक सोपविण्यांत आले नव्हते. याच ना. चव्हाणांना द्विभाषिकाचा राजदंड सुपूर्त करण्यांत आला. द्विभाषिकाच्या मुख्यमंत्रिपदावर ना. यशवंतराव चव्हाण योगायोगानेच लेटले हें खरें आहे. श्री. भाऊसाहेब हिरे हे श्री. मुरारजींना आडवे गेले नसते तर श्री. मुरारजींमाई बाजूला झाले नसते व ना. चव्हाण द्विभाषिकाचे पहिले मुख्य मंत्री झालेहि नसते, आणि महाराष्ट्रांत नंतर काय घडलें असतें व नसतें कोणास ठाऊक ? ना. चव्हाण लहान ठरतील आणि कोयनाकाठचा चुल्हा चिमट्यांत धरून फेकून देतां येईल अशी आशा द्विभाषिकाच्या गुर्जरभक्तांना तेव्हा वाटत होती. पण बघतां बघतां लहान चव्हाण इतके महान् ठरले की त्यांना उपटून काढतांना द्विभाषिकहि मुळासह उपटलें जाईल असा अनुभव द्विभाषिकाच्या गुर्जरभक्तांना आला. ना. चव्हाणांचा 'लोहपुरुष' त्यांनीं मुख्य मंत्री म्हणून पत्करला होता आणि त्याचा रागरंग व टंग अनोखा असल्याचें कळून येण्यास वेळ लागला नाही. मुसद्दानीहि तोंडांत बोटें घालावीत अशी राजनीति त्यांनी अंगिकारिली. अंगावर कोसळून पडत असलेला 'प्रतापगड' त्यांनी सावरला, आणि त्यांत कोणी जाया जखमीहि झाले नाहीत. अंगावर आलेले मोर्चे त्यांनी पेलले व हसतमुखाने परतवले. समितीच्या बैठकीला स्वतः इजर राहून आपलें म्हणणें सांगण्याचा जगावेगळा पायंडा त्यांनीच पाडला व त्यांना म्हणूनच तो तोलतां आला. त्यांच्या राजनीतीने दिल्ली तर दिपलीच; पण काँ. डांगेहि आपसांत बोळतांना त्यांच्या कर्तबगारीची, मुसद्देगिरीची, सचोटीची, घडाडीची व संस्कारी राजकारणाची प्रशंसा करूं लागले. लोकांची नाडी सापडलेली नाही, एवढाच ना. चव्हाणांचा एक दोष काँ. डांगे यांना दिसत होता.

आणि तेंहि सिद्ध होण्याचा क्षण झपाट्याने येत होता. द्विभाषिकाचे मुख्य मंत्री या नात्याने अत्यंत प्रामाणिकपणाने कारभार पहात असतांना 'द्विभाषिक राज्यांत एकाल्प्य साधलें गेलेलें नाही, व दडपशाहीशिवाय द्विभाषिकाचा कारभार चालण्यासारखा नसून त्यांतून काय निर्माण होईल हें सांगता येत नाही' ही मनाला पटलेली बस्तुस्थिति पं. नेहरूंच्या विचारणेवरून त्यांच्या कानांनी घालण्याचा तो क्षण होता. तें एक फार मोठें कर्तव्य होतें आणि तितक्याच घोकेबाज जुगार होता. हात जरा दळला हलला, आणि जीभ जडावत्याप्रमाणें ती जरा अंधुक बोलली तरी दान भलतेंच पडून काय होईल त्याचा नेम नव्हता. दान अचूक पडलें तर शिखर, आणि जरा घसरलें तर सर्वनाश, असाच जिवावरचा तो प्रसंग होता. शुद्ध, निर्लोभ व दृढ बुद्धीलाच असा जुगार शीर सलामत ठेवून खेळतां येतो. जनतेची नाडी व भारतीय नेत्यांची नाडी या दोहोंवरहि हात ठेवून 'द्विभाषिक चालणें अशक्य' असा कौल ना. चव्हाण यांनी दिल्लीत दिला; आणि पत्यांचा बंगला कोसळून पडून त्या ठिकाणी महाराष्ट्र-गुजराथचीं दोन नवीं राज्यें सुमारे पांच वर्षांच्या घोळानंतर उभीं झालीं.

द्विभाषिकाच्या पाठीत ना. चव्हाणांनी सुरा खुपसला, सहकारी मंत्र्यांचा विश्वासघात केला, गनिमी कावा ते खेळले असा भडिमार ना. चव्हाणांवर नंतर झाला. गनिमी कावा खेळल्याचें किंवा द्विभाषिकाचा विश्वासघात केल्याचें ना. चव्हाण नाकारतात व तेंच बरोबर आहे. मुत्सद्यांचे डावपेंच व गनिमी कावा यापेक्षाहि सत्य हें जास्त उत्पातकारी, उलथापालथ करणारें व शत्रुमित्रांना अचंब्यांत टाकणारें असतें. मांधी-युगांत हा अनुभव अनेकांना आला. द्विभाषिकाबाबतच्या चव्हाणनीतीने त्याचाच जणू कांही प्रत्यय आला, असें म्हणतां येईल. परिणाम असा झाला की संयुक्त महाराष्ट्र जो १९५५ च्या आक्टोबरमध्ये शिफारसिला गेला नाही, १९५६ पासून सुरू झालेल्या समितिकांडामध्ये जो संयुक्त महाराष्ट्र होऊं शकला नाही, तो संयुक्त महाराष्ट्र १९६० सालीं मे

महिण्यांत ना. चव्हाणांच्या नेतृत्वाखाली व पं. नेहरूंच्या हस्ते सिद्धीस गेला. अनेक शक्ति महाराष्ट्र साध्य होण्यास कारणीभूत झाल्याच; श्रेया-बद्दलचा वाद अर्थातच नाही. पण या श्रेयांतील ना. चव्हाणांचा 'सिंहभाग' कोणासहि नाकारतां येणार नाही.

१९५६ सालीं द्विभाषिकाचे मुख्य मंत्री बनलेले ना. चव्हाण यांचें 'चरित्र' अद्याप उलगाडलें जात आहे आणि त्यांच्या सर्व घड्या माहीत असल्याचा दावा सहसा कोणी करणार नाही. खंबीरपणा न सोडतां सर्वांशीं गोडीगुलाबी, झुंज घेण्याची ताकद असतांना 'सर्वेषामविरोधेन' काम साधण्याची हातोटी, विशिष्ट ध्येयावर नजर खिळवून सर्वासह पुढे पाऊल टाकण्याची धडाडी, व लाचारी न पत्करतां सर्वांशीं सौजन्यपूर्वक वागण्याची समन्वयी प्रवृत्ति, वगैरे वैशिष्ट्यांच्या पाकळ्या आता उमलल्या आहेत. पण आणखी किती व कोणत्या पाकळ्या विकसायच्या आहेत व गाभा केव्हा दृष्टीस पडावयाचा आहे हें आज सांगतां येणार नाही. त्यामुळे त्यांचें चरित्र आज तरी रहस्यमय असेंच वाटल्याशिवाय रहात नाही. हीच गोष्ट त्यांच्या भाग्याची म्हणतां येईल! भाग्य त्यांच्या भोवती पिंगा घालत होतें आणि त्याच वेळीं झुकांड्याहि देत नव्हतें काय? त्यांना खो देण्यांत आले, पण खो घातला गेला तरी खंबीरपणांमुळे जागा सोडण्याचें कारण त्यांना कधी पडलें नाही, ललट खो मिळतांच ते अधिकच जडबुडाचे बनत चालले. आजचें त्यांचें भाग्य महाराष्ट्राचे पहिले मुख्य मंत्री होण्याचें आहे. उद्यांचें त्यांचें भाग्य कोणतें असेल तें कोणी सांगारें? आजचें त्यांचें वय, धडाडी व फसवीपणा पहातां पहिले महाराष्ट्रीय पंतप्रधान होण्याचें उद्यांचें त्यांचें भाग्य असेलहि! 'यशवंतस्य चरित्रं भाग्यं च' आज कोणास सांगतां येणार नाही. पण ते मुंबईत असोत की दिल्लीत असोत, महाराष्ट्राच्या सर्वांगीण कल्याणावर त्यांचें लक्ष सतत खिळलेलेंच राहिल आणि महाराष्ट्रहि त्याच भावनेनें त्यांच्याकडे पाहत राहिल यांत संशय नाही.



जगन्नाथ नरंग



निरीक्षक

महाराष्ट्र राज्याची स्थापना झाल्यापासून श्री. यशवंतराव चव्हाण यांची ओळख सांगणारांची संख्या चक्रवाढ गतीने वाढते आहे ! अर्थात् ओळख सांगणारांच्याहि वेगवेगळ्या तऱ्हा आहेत. कोणी सांगतो, “मी यशवंतरावांबरोबर कॉलेजांत होतो;” कोणी सांगतो, “आमचे यशवंतराव परवा असं म्हणत होते,” कोणी फुडारकी मारीत सांगतो, “मी हें जरूर यशवंतरावांना सांगेन;” तर कोणी निघडेपणाचा आव आणीत सांगतो, “मी त्या दिवशी यशवंतरावांना स्पष्ट सांगून टाकलें की !”...याहि पलीकडे जाऊन सलग्नीदर्शक उद्गारांची पेरणी सहज बोलतां बोलतां करणारेहि अधूनमधून भेटतात. ‘अहो, यशवंतराव आमचे गल्लीकर’ असें अभिमानाने सांगणारा ‘कऱ्हाडकर’ ज्या मुंबईत भेटतो, त्याच मुंबईत ‘या वर्षी मी यशवंतरावांना भाऊबीजेला खादी सिल्कची भेट दिली’ असें जवळिकेने सांगणारी नागपूरकर महिलाहि भेटते !

‘यशवंतरावांनी काय करावें’ याविषयी अनाहूत सल्ला देणारेहि पुष्कळ भेटतात. प्रत्येक क्षेत्रातील लहानयोर माणसाची यशवंतरावांकडून कांहीं ना कांहीं अपेक्षा आहे; आणि ती बोलून दाखविण्याची संधि अनेकजण हुडकीत असतात. खरें म्हणजे, द्विमाषिक मुंबई राज्याच्या मुख्य मंत्रिपदावर आरूढ होऊन अखेरीस संयुक्त महाराष्ट्राचें ध्येय यशवंतरावांनी गाठल्याने यशवंतरावांच्या कर्तृत्वाविषयी मराठी माणसाचें मन निःशंक झालें आहे. साहजिकच ‘यशवंतरावांनी आता देशाचें नेतृत्व करावें’ अशी अपेक्षादेखील कोणीकोणी सहज बोलून जातात. मात्र एकंदरीत जनमनाचा कानोसा घेतला तर ‘यशवंतरावांनी आणखी किमान पांच वर्षे तरी महाराष्ट्रांत राहावें; आणि महाराष्ट्राचा जगन्नाथाचा रथ सुरळित चालू लागला की मगच दिल्लीला जावें’ अशीच भावना सध्या तरी मोठ्या प्रमाणावर आढळते.

यशवंतरावांचा विषय अलीकडे कोठेहि उपस्थित होतो आणि बहुधा ‘यशवंतराव फार चतुर मुत्सद्दी आहेत’ असेच उद्गार ऐकावयास मिळतात. ‘यशवंतराव फार चांगले गृहस्थ आहेत’ असे उद्गार तर सामान्य शेतकऱ्यापासून विरोधी पक्षाच्या नेत्यापर्यंत अनेकांच्या तोंडून ऐकू येतात. ‘पंतजींच्या गाव’ च्या मुंबईतील एका टॅक्सीवाल्याने याचें कारण एकदा अचूक रीतीने विशद करून सांगितलें. तो म्हणाला, “यशवंतराव चव्हाण हे रस्त्याच्या उजव्या बाजूने चालत असले तर त्यांना तुम्ही



चारपांच घेळां प्रयत्न करून रस्त्याच्या डाव्या बाजूकडे नेऊं शकतां. एखादी गोष्ट त्यांना पटवून दिली तर ते तुमचें ऐकतात, हेंच त्यांच्या चांगुलपणाचें रहस्य आहे.”

पण यशवंतरावांच्या चांगुलपणाविषयी शंका घेणारे महाभागहि कधी कधी भेटतात. विरोधी पक्षांतील एक कार्यकर्ता खाजगी बैठकींत एकदा म्हणाला, “आमच्या समिती पक्षांतील कांही पुढारी आणि प्रजासमाजवादी पक्षाचे पुढारी ‘यशवंतराव फार चांगले’ असें कशाच्या जोरावर म्हणतात? चव्हाण विरोधी पक्षाच्या तोंडाला पानें पुसतात आणि आपल्याच पक्षांतील विरोधकांपुढे नमते घेतात, हें आमच्या पुढार्यांना कसें कळत नाही?” मात्र खुद्द काँग्रेस पक्षांतहि असे कार्यकर्ते आढळतात की जे ‘चव्हाण विरोधी पक्षाच्या कार्यकर्त्यांना स्वपक्षीयांपेक्षा अधिक जवळ घेतात’ अशी तक्रार अनेकदा करतात! अर्थात् या दोनहि आरोपांत तथ्य नाही! नागपूर येथील दीक्षामैदानाचा वाद श्री. यशवंतराव चव्हाण यांनी केवळ विरोधी पक्षीयांच्या मतालाच मान देऊन मिटविला आहे. या संबंधांत एका सेवानिवृत्त वरिष्ठ अधिकाऱ्याने माझेजवळ असे उद्गार काढले की, “सरकारची परवानगी न घेतां ज्या मैदानावर दीक्षाविधि झाला तें मैदान सरकारने केवळ आपल्या प्रतिष्ठेसाठी नवबौद्धांना नाकारावयास हवें होतें. उलट, सरकारने नवबौद्धांची मागणी अंशतः मान्य करून त्यांना डोक्यावर चढविलें आहे.”

या संबंधांत खुद्द श्री. यशवंतराव चव्हाण यांची भूमिका मात्र अधिक सामाजिक स्वरूपाची आहे; आणि तिचें दर्शन झाल्यामुळे विदर्भातील नवबौद्धांनी त्यांचें दीक्षामैदानावरच उत्स्फूर्त स्वागत केलें. १६ डिसेंबर १९६० रोजी दीक्षामैदानावर मुख्यमंत्री श्री. यशवंतराव चव्हाण यांचा जो सत्कार नवबौद्धांच्या वतीने झाला तो नागपुरांतील एक अपूर्व समारंभ गणला जातो. या सत्काराला यशवंतरावांनी दिलेलें उत्तर ऐकून नागपुरांतील रात्रीच्या शाळेंत जाणारा एक नवबौद्ध युवक आपल्या शिक्षकाला तुसऱ्या दिवशीं म्हणाला, “सर, चव्हाणसाहेब फार चांगले आहेत. आमचे पुढारी उगाच त्यांच्याविषयी नाही नाही तें वाईट बोलतात.”

—आणि महाराष्ट्र शेत जमीन धारणा विधेयकांतील कमाल मर्यादा विदर्भातील काँग्रेस आमदारांच्या सल्ल्यानेच निश्चित झालेली आहे, ही गोष्ट कोणता काँग्रेस कार्यकर्ता नाकारू शकेल? किंबहुना, विरोधी पक्षाच्या मताचा आदर करीत असतानाहि पक्षसंघटनेला आणि पक्षांतील कार्यकर्त्यांना प्राधान्य द्यावयाचें, हें यशवंतरावांच्या राजकीय व्यवहाराचें महत्त्वाचें सूत्र आहे, असें म्हटलें तरी चालेल. ‘विदर्भातील विदर्भवादी काँग्रेस कार्यकर्त्यांना यशवंतरावांनी जवळ केलें आणि संयुक्त महाराष्ट्रवादी काँग्रेस कार्यकर्त्यांना बाजूला फेकलें,’ असा आरोप वारंवार केला जात असल्याने विदर्भातील एका ज्येष्ठ काँग्रेस कार्यकर्त्याने मला सांगितलें, “मी स्वतः संयुक्त महाराष्ट्रवादी होतो आणि आहे. यशवंतराव विदर्भवादी कार्यकर्त्यांना जवळ घेतात याचें मला वैषम्य वाटत नाही आणि त्यांत यशवंतरावांची चूक होते आहे, असेंहि वाटत नाही. आज विदर्भवादी कार्यकर्त्यांना दूर केलें तर पक्ष विस्कळित होईल, ही वस्तुस्थिति आहे. अशा स्थितींत यशवंतरावांनी जें धोरण स्वीकारलें आहे तेंच योग्य

आहे. पक्षसंघटना टिकली पाहिजे यासाठी ज्या माणसाने द्विभाषिक पत्करून स्वतःवर जनतेचा क्षोभ ओढवून घेतला, त्या माणसाने नागपूर प्रांतातील काँग्रेस संघटना जिवंत राहावी यासाठी विदर्भवादी काँग्रेस कार्यकर्त्यांना जवळ करावें, यांत नवल नाही. म्हणून याबाबत कोणी स्वतःचा गोंधळ करून घेऊं नये.”—या गोष्टीला आज वर्ष होऊन गेलें आहे; आणि दरम्यान ‘यशवंतरावांचेंच धोरण अचूक होतें’ असा निर्वाळा काळाने दिला आहे!

राजकीय क्षेत्राच्या बाहेर पडल्याबरोबर यशवंतरावांविषयी नेहमी ऐकूं येणारी तक्रार म्हणजे, ‘राजकारणामध्ये यशवंतरावांचा फार वेळ जातो आणि त्यामुळे शासनापुढील औद्योगिक, शैक्षणिक, सामाजिक समस्यांचा पूर्ण विचार करून योग्य निर्णय ते घेऊं शकत नाहीत.’ राजकीय समस्यांकडे यशवंतराव जितकें लक्ष पुरवितात तितकें लक्ष ते इतरहि क्षेत्रांतील समस्यांकडे पुरवूं शकले तर ‘महाराष्ट्राच्या जीवनाचा सर्वांगीण कायापालट झाल्याशिवाय राहणार नाही’ असा विश्वास अनेक क्षेत्रांतील जाणकार व्यक्तींनी खाजगी बैठकीमध्ये बोलून दाखविला आहे. असें विश्वासाचें वातावरण तयार झाल्यामुळे मजुरांना, शिक्षकांना, महापालिकेच्या कामगारांना, आयुर्वेद विद्यार्थ्यांना किंवा नागपूरच्या संतस विणकरांनादेखील ‘आमचें म्हणणें चव्हाणांनी एकाचें आणि त्यांनीच आमचा प्रश्न सोडवावा’ अशी मागणी करावीशी वाटते. २४ डिसेंबर १९६० रोजी नागपुरांत, मुख्य मंत्र्यांच्या कार्यालयांत, ३०० निमंत्रित विणकरांची अभूतपूर्व सभा झाली. या सभेंत संतस आवेशांतील माषणेंच विणकरांमधून अधिक झालीं. पण याहि सभेंत, गोळीबार चौरस्त्यावर राहणारा एक जुना काँग्रेस कार्यकर्ता असें बोलूनच गेला की, “मी विणकरांचे प्रश्न सोडवितों, असें म्हणणारा मुख्यमंत्री आम्हांला प्रथमच भेटतो आहे.”—आणि विणकरांच्यासाठी शैक्षणिकसंस्था उभारण्याचें कार्य जलदगतीने पूर्ण झालें तर ‘आमच्या विणकर उमाजांत मुळापासून बदल होईल आणि आमच्यांतील असंतोषाचा निचरा होईल’ असें अगदी अलीकडेच एका प्रमुख विणकर पुढार्याने माझेजवळ कळकळीने सांगितलें.

‘यशवंतराव हे महाराष्ट्राचे मारेकरी आहेत’ अशा शब्दांत यशवंतरावांची संभावना करणारे अवघ्या दोन वर्षांत ‘यशवंतराव हे अत्यंत दूरदृष्टीचे मुत्सद्दी आहेत,’ असा गौरव आता करूं लागले आहेत. ‘द्विभाषिक पत्करून चव्हाणांनी महाराष्ट्र काँग्रेस धुळीस मिळविली’ असा आरोप करणारे काँग्रेसजन आता ‘यशवंतरावांनी महाराष्ट्र काँग्रेसची रसातळाला गेलेली प्रतिष्ठा पुनश्च मिळविली’ असा निर्वाळा देऊं लागले आहेत. ‘यशवंतरावांना स्वतःचें वेगळें अस्तित्व नाही. कोणाचें तरी बोट धरून चालण्याशिवाय त्यांना गति नाही’ असा कयास बांधणारे आता ‘यशवंतरावांनी भारताच्या राजकारणांत स्वतःचें स्थान निर्माण केलें आहे’ अशी मान्यता देऊं लागले आहेत. इतकेंच नव्हे, तर पूर्वीच्या या सर्व टीकाकारांना आता अगदी मनापासून असें वाटतें की, ‘यशवंतरावांच्या हातीं महाराष्ट्राचें भवितव्य जेवढें सुरक्षित आहे तेवढें इतर कोणाच्या हातीं राहू शकेल की नाही हा एक प्रश्नच आहे.’

महाराष्ट्र राज्याची स्थापना झाल्यापासून शासनसुधारणेचा विषय

सर्वत्र अहमहमिकेने चर्चिला जात आहे. विचारवंतांच्या परिसंवादांमधून, निरनिराळ्या व्यासपीठांवरून, खाजगी बैठकींतून आणि राजकीय कार्यकर्त्यांच्या छोट्यामोठ्या मेळाव्यांतून शासनसुधारणेच्या विषयाला वारंवार हात घातला जातो आहे. 'आपलें राज्य आलें' या भावनेने शेतकरी वर्गातील लहानमोठे शहरके शासनसुधारणेविषयी कांहीसे इकाने कांही गोष्टी सुचवूं आणि सुनवूं लागले आहेत. लोकांना शासनयंत्रणेतील दोषांची जाणीव पूर्वापेक्षा अधिक प्रमाणांत होऊं लागली आहे. कारण, 'राजकीय विरोधाला वाव द्यावयाचा नाही, असा निश्चय चव्हाण मंत्रिमंडळाने केलेला आहे' असें विरोधी पक्षातील कार्यकर्तेच बोलून दाखवीत आहेत. कधी एखादा जुना पत्रकार रोखडोकपणे विचारतो, "पूर्वी आमच्या अर्जाला दहा महिन्यांत उत्तर मिळे. आता किती महिन्यांत मिळतें?" एखादा विरोधी पक्षाचा आमदार कधी 'बोलावयास नको तें बोलतों' अशी प्रस्तावना करित सांगतो, "पूर्वी दिभाषिकांत मंत्र्यांकडे तक्रार नेली तर दीड महिन्यांत त्या तक्रारीचा निकाल लागे; आता दीड महिना उलटला तरी आमच्या तक्रारी जिल्हा पातळीवर येत नाहीत!" त्याला प्रामाणिकपणे असें वाटतें की, विरोधी पक्षाचें बळ महाराष्ट्र राज्यांत कमी झाल्यामुळे आणि काँग्रेस पक्षातील अंतर्गत संधिसाधु वातावरणामुळे शासनाचा दर्जा खालवला आहे. अर्थात् हा आरोप निराधार आहे, असें सांगणारेहि भेटतात. ते म्हणतात, "शासनाचा दर्जा खालवत चालला आहे, ही फार जुनी ओरड आहे. महाराष्ट्र राज्य झाल्यानंतर शासकीय धोरणांत एकसूत्रता आणि एकवाक्यता निर्माण करण्याची संधि नव्याने मिळत आहे. आणि खरें म्हणजे, शासन लोकाभिमुख व्हावयास हवें, हाच संयुक्त महाराष्ट्राच्या मागणीमागील एक प्रमुख हेतु नव्हता काय?" सरकारी प्रवक्ते मात्र अशी तक्रार करतात की, "आम्ही शासनसुधारणेचे जे अबोल प्रयत्न करित आहोंत, त्यांच्याकडे कोणा लक्षच देत नाही. किंबहुना लोकांना त्या प्रयत्नांचें योग्य आकलनहि होत नसावें, अशी शंका येते."

शासनाच्या साहाय्याने ग्रामीण भागांत शेतकरीवर्गांत नवा उत्साह, नवी संघटना निर्माण करण्याचा उपक्रम मध्यंतरी हातीं घेण्यांत आला. 'त्याचें पुढे काय झालें?' असा प्रश्न शेतकरीच विचारूं लागले आहेत. 'तालीचें बांधकाम करून सरकारने चागलें काम केलें' असें सांगणारा शेतकरीच 'अधिकारी वर्गाकडून आमची दाद नीट लागत नाही' अशीहि तक्रार करतो आणि 'चव्हाणसाहेबांनी या अधिकाऱ्यांना चांगली शिस्त लावली पाहिजे' अशी सूचना करतो. यशवंतरावांना महाविद्यालयीन जीवनापासून ओळखणारे त्यांचे एक स्नेही म्हणतात, "यशवंतराव आपल्या अधिकाऱ्यांशी फार सौम्यपणें वागतात;" तर यशवंतरावांच्या हाताखाली काम केलेले आणि काम करणारे अधिकारी सांगतात, "यशवंतराव आमच्या अडचणी आणि आमचे प्रश्न समजावून घेतात. त्यामुळे कामाला अधिक दुरुप येतो." याचबरोबर शिक्षणखात्याच्या कारभाराचा अनुभव असलेले जाणकार विचारतात, "शाळांना फीवादीची परवानगी दिल्यानंतर केवळ राजकीय पक्ष त्याचें चळवळीसाठी भांडवल करतील म्हणून चव्हाण मंत्रिमंडळाने फीवाड रद्द करावी आणि तत्पूर्वी वाढवून देण्यांत आलेल्या शिक्षकांच्या

पगारांचा भरणा कसा करावा, या चिंतेच्या गर्तेत शाळाचालकांना टाकावें, हे कुठलें शैक्षणिक धोरण?" सारांश हा की, कुठल्याहि लहानमोठ्या शासकीय कृतीचा बारकाईने विचार सुरू झाला आहे आणि 'चव्हाणांच्या नबरेस हे दोष आणून दिल्याखेरीज शासनांत सुधारणा होणार नाही,' असें वाटूं लागल्याने त्याविषयीच्या चर्चाहि जोरजोराने होऊं लागल्या आहेत!

'चव्हाणगौरवा'च्या या काळांत कांही गैरसमज, कांही शंका आणि कांही आशंकाहि ऐकूं येतात. दिभाषिकाचा प्रथम स्वीकार करून नंतर संयुक्त महाराष्ट्राच्या पारख्यांत आपलें वजन टाकल्याबद्दल श्री. यशवंतराव चव्हाण यांना दोष देणारेहि पुष्कळ आहेत. 'यशवंतरावांनी मोरारजीभाईंचा विश्वासघात केला' असा आरोप अद्यापहि ऐकावयास मिळतो. पण खरोखरच असा 'विश्वासघात' झाला आहे काय? बराच काळ लोटला असल्याने कांही विश्वासाई माहिती बाहेर येते आहे आणि या आरोपाचें परस्पर खंडनहि होत आहे. काँग्रेसमधील एका थोर निर्भीड विचारवंताला मी यासंबंधांत एकदा स्पष्टच विचारलें की, "शिवाजीने अफझलखानाचा वध विश्वासघाताने केला आणि मराठी लोक विश्वासघातकी असा ग्रह कांही जण करून घेतात. यशवंतरावांनी मोरारजीभाईंचा विश्वासघात करून या आरोपाला पुष्टि दिली, असें कांही जण म्हणतात. तुम्हांला काय वाटतें?"

हे विचारवंत म्हणाले, "राजकारण ही कांही मोरारजीभाई आणि चव्हाण यांच्या घरची गोष्ट नाही. राजकीय व्यवहार हा राजकारणांतील शक्ति ओळखून आणि सार्वजनिक हित डोळ्यांसमोर ठेऊन करावा लागतो. हा व्यवहार करतांना व्यक्तिगत निष्ठापेक्षा राष्ट्रहिताला प्राधान्य द्यावें लागतें. आता चव्हाण-मोरारजीभाई यांच्या संबंधांत बोलावयाचें तर चव्हाण हेहि अत्यंत संवेदनशील गृहस्थ आहेत. आपण दिभाषिक राबवू शकत नाही, असें म्हटलें तर 'मोरारजीभाईंना काय वाटेले' असा प्रश्न त्यांच्याहि मनांत येऊन गेल्याचें मला माहीत आहे. खरें म्हणजे हा एक सनातन प्रश्न आहे. सीतेचा त्याग करावा की नाही, असा प्रश्न श्रीरामचंद्रालाहि पडलाच होता ना? त्यावेळीं रामाने पत्नीपालनापेक्षा प्रजारंजन श्रेष्ठ असाच कर्तव्यविवेक केला. चव्हाणांनी तत्त्वतः याहून कांही वेगळें केलें, असें म्हणतां येत नाही. राजकीय जीवनांतील मैत्रीलाहि कांही मर्यादा असतात आणि आता त्या दोघांनीहि ओळखल्या असाव्यात, असें वाटतें."

'मराठा राज्य की मराठी राज्य' हा विषयहि गेल्या वर्षापासून नेहमी निरनिराळ्या घरांवर आवेशाने चर्चिला जाणारा विषय होऊन बसला आहे. श्री. यशवंतराव चव्हाण यांनी या विषयाचा उल्लेख जाहीर रीतीने प्रथम सांगली येथील भाषणांत आणि नंतर वसंत व्याख्यानमालेच्या व्यासपीठावरून पुण्यांत केलेला आहे. 'महाराष्ट्राचें राज्य हें कोणाहि एका जातीचें राज्य नाही' असे त्यांनी स्पष्टपणे सांगून टाकलें आणि 'माझ्या या भाषणाच्या निकषावर आमचा व्यवहार घासून पाहवा' अशी अपेक्षाहि नंतर व्यक्त केली. सर्वसामान्य माणसापासून असामान्य विचारवंतापर्यंत अनेक जण सांगलीचें भाषण आणि राज्यकारभारांतील नित्य येणारा अनुभव यांचा मेळ कोठे बसतो का, याची

शाहानिशा अलीकडे करू लागले आहेत. कांही लोक म्हणतात, “असा मेळ अद्याप तरी कोठे दिसत नाही;” तर कांही लोक म्हणतात, “यशवंतरावांच्या मोवताळीं सर्वच माणसें यशवंतरावांइतकीं जाति-निरपेक्ष धृतीचीं आहेत, असें नाही. त्यामुळे तुमचा गैरसमज होण्या-सारखी स्थिति आहे, इतकेंच.” संपूर्ण देशाच्या समाजजीवनाचा विचार करणारे सांगतात, “यशवंतरावांचे नेतृत्व किती जातिनिरपेक्ष आहे, हे मद्रास प्रांतातील घडामोडींकडे पाहिले म्हणजे अधिक चांगले कळते. आपण छोट्या छोट्या घटनांवरून सामाजिक शक्तींचा प्रवाह मोजावयाचा प्रयत्न करित असतो. जवळून पाहात असल्यामुळे त्या छोट्या गोष्टीच मोठ्या वाटतात. पण अधिक खोल विचार केला तर जातिनिष्ठ वातावरण महाराष्ट्रांत प्रभावी नाही, असेंच दिसेल.” याहिपेक्षा अधिक उदारमतवादी दृष्टिकोनांतून या संपूर्ण प्रश्नाकडे बघणारेहि पुष्कळ आहेत. यशवंतराव चव्हाण यांच्या मर्जीत न बसलेला एक काँग्रेसकार्यकर्ता एकदा खाजगी बैठकींत म्हणाला, “महाराष्ट्रांत जातिनिष्ठ वातावरणाला अडविण्याचें सामर्थ्य यशवंतरावांपाशी आहे. आपल्या जातीमध्ये अभिमानाची आणि सत्तापिपासेची लट उसळली म्हणून त्या लोटेवर स्वार होण्याचें यशवंतरावांना कारण नाही आणि अशी लट एखाद्या जातींत उसळली म्हणून इतरांनी बिचकण्याचें कारण नाही. मराठा जातीचें राजकीय वर्चस्व कांही काळ नांदणें ही एक ऐतिहासिक गरजहि आहे. पण यापुढे यशवंतरावांनी आपल्या जातीला आपल्या उच्च आदर्शांकडे खेचून नेलें पाहिजे. जातीचें पाठबळ आणि आदर्शांकडे धाव या दोन्ही गोष्टी यशवंतरावांना जमतील असें वाटतें. माझा त्यांच्या नेतृत्वावर विश्वास आहे.”

‘गेटवे ऑफ इंडिया’ समोर छत्रपति शिवाजी महाराजांचा अश्वारूढ पुतळा उभारण्यांत आला, याविषयी अनेकजण श्री. यशवंतराव चव्हाण यांना धन्यवाद देत आहेत. २६ जानेवारी १९६१ रोजी अपोलो बंदरावर लोटलेला प्रचंड जनसमुदाय पाहून मुंबई शहरांतील एक राजकीय कार्यकर्ता म्हणाला, “मराठी लोकांच्या मनांत आता यशवंतरावांनी कायमचें समाधान निर्माण करून ठेवलें आहे. मुंबईत मराठीला मान नाही, असें आता कोणी म्हणू शकणार नाही.” मात्र गेल्या वर्षभरांत शिवाजी महाराजांच्या उत्सवांना जें स्वरूप प्राप्त झालें आहे तें पाहून मुंबईतील एक प्राध्यापक म्हणाले, “महाराष्ट्रांत गेल्या चारपांच वर्षांपासून शिवाजीमहाराजांच्या नांवावरच

राजकीय संघटनांचीं कामे करण्याचा प्रघात पडला आहे. संयुक्त महाराष्ट्राच्या चळवळींत आणि महाराष्ट्र राज्याची स्थापना झाल्यानंतरहि शिवाजीमहाराजांचेंच नांव घेऊन कार्य होतें आहे. शिवाजीमहाराज मोठे खरे; पण त्यांचा काळ आणि आजचा काळ यांत फरक आहे. अशा स्थितींत महाराष्ट्रांत गांधींचें नांव मागे पडून शिवाजी महाराजांचें नांव पुढे यावें, हें कितपत इष्ट होय, असा प्रश्न मनांत आल्यावाचून राहत नाही.”

पण श्री. यशवंतराव चव्हाण यांचा विषय सर्वसामान्य दैनंदिन जीवनांत किती सहज रीतीने चर्चित जातो, याची कल्पना सुमारे आठ महिन्यांपूर्वीचा एक प्रसंग सांगितल्याशिवाय येणार नाही. एके दिवशीं बोरीबंदरजवळ मी एका टॅक्सी ड्रायव्हरला खूण केली; व आंत बसतांच “फाउंटन” म्हणून सांगितलें. टॅक्सी ड्रायव्हरांनी आदल्या दिवशीं दरवादीसाठी केलेल्या संपामुळे माझेही हाल झालेले होते व त्यामुळे सर्वच टॅक्सीवाल्यांवर मी रुष्ट होतो.

टॅक्सी सुरू होतांच मी टॅक्सी ड्रायव्हरला विचारलें, “क्यों सरदारजी, आप लोगोंके कलके स्ट्राईकका क्या हुवा ?”

मागाहून अधिक वेगाने जाणाऱ्या गाडीला वाट देत तो म्हणाला, “साहब, कुछ न पूछिये, चव्हाणसाब बडा अच्छा और अकलमंद शक्स है।”

“मतलब ?” मी म्हणालो.

“मतलब यह है कि उन्होंने टॅक्सी ड्रायव्हरांकी जो आठ आना माहल की मांग थी वह पहिले माईल के ठिये मंजूर की लेकिन आगे समझोतेके तरीके ऐसा टेबल बनवाया की उसमें टॅक्सी वालोंको आठ आना माईल मिलता ही नहीं ! लेकिन यह सब बात उसने ऐसे अकलमंदीसे हम लोगोंके सामने रखी कि हम लोक उसको नामंजूर नहीं कर सके !”

“तो आपका यह स्ट्राईक चव्हाणसाहब के वज़ह से टॉय टॉय फिस हो गया—”

“साहब, हमारी क्या बात आप कहते हो ! उन्होंने तो उनको बिन दुगना और रात चौगुना गाली देनेवाले बडेबडे लीडरोंके टायरकी हवा निकाल ली है ! उन लीडरों के सामने हम किस पेड़की पत्ती ! हम तो आखिर ठहरे टॅक्सी ड्राइवर !”



राजकीय जीवनाचा चलच्चित्रपट



एक वार्ताहर

आजच्या महाराष्ट्राचे मुख्य मंत्री व कालच्या मुरारजीभाईंच्या मंत्रि-मंडळातील एक पार्लमेंटरी सेक्रेटरी श्री. यशवंतराव चव्हाण यांना मी प्रथम केव्हा व कशासाठी भेटलो तें आता मला निश्चित आठवत नाही. कदाचित् विधान सभेत त्यांना मी प्रथम पाहिलें असेल, कदाचित् मुरारजीभाईंबरोबर ते एकाचा प्रेस कॉन्फरन्सला हजर राहिले असतील ! त्या वेळीं लक्ष वेधून घेण्यासारखें त्यांच्यात कांही नसावें म्हणून त्या वेळची मला आठवण नसावी.

आजचे डेप्युटी मिनिस्टर व त्यावेळचे पार्लमेंटरी सेक्रेटरी यांत बराच फरक आहे. त्यावेळीं पार्लमेंटरी सेक्रेटरीला विरोध असे अधिकार नसत. श्री. चव्हाण यांच्याबरोबर श्री. नानासाहेब कुंटे व श्री. पी. के. सावंत हेहि पार्लमेंटरी सेक्रेटरी होते. त्यांनी आपापले खाते त्यावेळीं हि गाज-विल्याचें आठवतें. सिंध-पंजाबमधून येणाऱ्या निर्वासितांना मुंबई शहरांत स्थायिक होऊं यावयाचें नाही हें धोरण पुढे रेटतांना श्री. सावंत यांना निर्वासितांच्या निदर्शनांनाहि तोंड द्यावें लागलें होतें. श्री. नानासाहेब कुंटे यांच्याकडे अॅकॅमोडेशन कंट्रोल खातें होतें. त्यासंबंधी बोलावयासच नको. सारांश, शासनांत श्री. सावंत व श्री. कुंटे त्यावेळीं श्री. चव्हाण यांच्या वरेंच पुढे होते.

संघटना क्षेत्रांतहि असाच प्रकार होता. १९४६-५२ या काळांत महाराष्ट्रातील एकूण राजकीय जीवन अगदी घुसळून निघत होतें. समाजवादी काँग्रेसमधून बाहेर पडल्यामुळे काँग्रेस संघटनेला पडलेल्या खिडाराचें श्री. जेठे-मोरे यांच्या नेतृत्वाखाली बहुजनसमाजवादी गट बाहेर गेल्यामुळे अगदी भगदाडच झालें होतें. संयुक्त महाराष्ट्र परिषद स्थापन झाली होती व संयुक्त महाराष्ट्राचा प्रश्न डोकें वर काढीत होता. अशा वेळीं महाराष्ट्र काँग्रेसचें नेतृत्व कोणाकडे असावें हा ज्येष्ठ नेत्यांपुढे एक प्रश्न होता. यावेळीं संघटना क्षेत्रांत श्री. भाऊसाहेब हिरे हळूहळू पुढे येत होते व त्यांनी जनमनावर चांगलाच पगडा बसविला होता. याहि क्षेत्रांत चव्हाणांच्या पुढे हिरे होते. अशा रीतीने स्वातंत्र्योत्तर महाराष्ट्रांत या चौघांचें एक नवें नेतृत्व उदयास येत होतें. हे चौघेहि चाळिशीच्या आंत होते, कर्तबगार होते. मात्र या चौघांत सर्वांत जास्त मोठी संघि चव्हाणांसमोर उभी होती. गृहखात्याचे ते पार्लमेंटरी सेक्रेटरी होते व महाराष्ट्र काँग्रेसचें नेतृत्व त्यांच्याकडे चालून येत होतें.

श्री. चव्हाण यांनी अशा वेळीं महाराष्ट्र काँग्रेसचें पुढारीपण नाकारलें.



त्या वेळीं श्री. चव्हाण यांच्यावर याबद्दल टीका करणाऱ्या अनेकांत मीहि होतो. यापुढच्या काळांत तर त्यांच्यावर टीका करण्याचे अनेक प्रसंग माझ्यावर आले. माझ्याप्रमाणे अनेकांनी खासगी तशीच जाहीर टीका त्यांच्यावर केलीहि होती. श्री. चव्हाण यांनी कोणत्याहि टीकेस कधीहि उत्तर दिले नाही. पुढे संयुक्त महाराष्ट्राची चळवळ ऐन भरांत आली असतां महाराष्ट्र काँग्रेसमध्ये त्यांनी काढलेले उद्गार मनन करण्यासारखे आहेत. ते म्हणाले होते: "संयुक्त महाराष्ट्राच्या संबंधांत सर्वांत बंदनाम व सर्वांत जास्त गैरसमज झालेला मीच आहे." त्यावेळच्या घडामोडींकडे आता बारा वर्षांनी मागे वळून पाहतां चव्हाणांच्या प्रत्येक भूमिकेबद्दल असेच गैरसमज निर्माण झाले असावेत, असे वाटते.

त्याकाळीं लोकप्रियतेच्या लाटेवर आरूढ होण्याची सुवर्णसंधि त्यांनी कां घालविली ? त्यांना आत्मविश्वास नव्हता असें कांही म्हणतात. मला आता वाटते, एकदम उड्या मारून पायऱ्या चढणें त्यांच्या स्वभावांतच नाही. एकएक पायरी अगदी विचार करून वर चढावयाचा त्यांचा स्वभाव आहे. याचें प्रत्यंतर त्यानंतरच्या घडामोडींनीं आलें. त्या काळीं शासनावर व संघटनेवर पकड कशी बसवावी याची ते तयारी करीत असावेत. यानंतरच्या काळांत श्री. हिरे लोकप्रियतेच्या लाटेवर आरूढ झाले व तेथून पुढे दृष्टिआड झाले. पण श्री. चव्हाण यांनी परिस्थिति ओळखून, परिस्थितीशीं जुळतें घेऊन, मोठ्या मुत्सद्देगिरीने एकएक पायरी चढत ते आज संयुक्त महाराष्ट्राचे मुख्य मंत्री व एकमेवाद्वितीय नेते बनले आहेत.

★ ★ ★

१९५२ ते १९५७ हा महाराष्ट्राच्या इतिहासांतील सर्वांत कठीण कालखंड. याच काळांत संयुक्त महाराष्ट्राबाबत चव्हाणांनी तडजोड केली असा फारच मोठा गैरसमज महाराष्ट्रांत पसरला आहे. त्या वेळच्या दोन घटना मला अद्यापहि चांगल्या आठवतात. श्री. चव्हाण यांच्या धावपळीच्या जीवनांतील या दोन लहानशा घटना त्यांच्या कदाचित् स्मरणांतहि नसतील. पण या घटनांनी त्यांच्याबद्दलचे माझे गैरसमज दूर झाले म्हणून त्यांची मला चांगली आठवण आहे.

मला वाटते, १९५५ साल असावें. मुंबईसह संयुक्त महाराष्ट्र मिळण्याची शक्यता फारच कमी असल्याचें त्या वेळीं दिसत होतें, म्हणून मुंबईशिवाय महाराष्ट्राचा स्वीकार करावा असा एक निराश विचार अनेकांच्या मनांत येत होता. महाराष्ट्र काँग्रेसचा पाठपुरावा करणाऱ्या एका वृत्तपत्राने तर जाहीर रितीने तसें सुचविलें होतें. अशा वातावरणांत कांही कामासाठी मी कोरा प्रामोद्योग केंद्रांत गेलों होतो. तेथून परततांना श्री. चव्हाण यांनी मला फोर्टपर्यंत 'लिफ्ट' दिला. त्या एक तासांत मी त्यांच्याशीं अनेक विषयांवर बोललों. मध्येच मुंबईशिवाय महाराष्ट्र स्वीकारावा काय असें मी त्यांस विचारलें. ते म्हणाले: 'संयुक्त महाराष्ट्राचा मुख्य मंत्री होण्याची ज्यांना धाई झाली असेल अशांच्याच मनांत ही कल्पना येईल. थोडी वाट पाहिली तर मुंबईसह संयुक्त महाराष्ट्र मिळवितां येईल.' यानंतर दुसऱ्या अनेक विषयांवर आमचें बोलणें झालें. पण त्यांचीं हीं वाक्यें माझ्या स्मरणांत चांगलीच राहिलीं.

दुसरा प्रसंग १९५६ सालचा. फ्लूटण प्रकरण त्यावेळीं गाजत होतें.

श्री. चव्हाण फ्लूटणहून परतल्यावर मी त्यांची मुलाखत घ्यावयास गेलों होतो. त्यावेळीं छापून आलेल्या मुलाखतीपेक्षा बरीच अधिक माहिती त्यांनी मला सांगितली. दिल्ली येथे श्री. शंकरराव देव यांच्या काँग्रेस-नेत्यांशीं वाटाघाटी चालू असतां एकाएकीं त्यांनी विद्यालक्ष्मी त्रिभाषिकाची सूचना केली होती. श्री. चव्हाण म्हणाले, "ही सूचना मला मुळीच मान्य नव्हती, पण आपल्या नेत्याला खाळी पहावें लागूं नये म्हणून मी बोललों नाहीं. पण मन स्वस्थ नव्हतें म्हणून आम्ही पत्ते आणले आणि रमी खेळत बसून रमीत मन रमविलें." असा मुंबईशिवाय संयुक्त महाराष्ट्र घेणें त्यांना पसंत नव्हतें, तसेंच मोठें द्वैभाषिकादि त्यांना मान्य नव्हतें. त्या मुलाखतीनंतर माझी तशी खात्री पटली होती. पण यानंतरच्या घडामोडींच अशा वेगाने घडत गेल्या की कांही काळ चव्हाणांना मुंबई-शिवायच्या महाराष्ट्रास मान्यता द्यावी लागली व कांही काळ तर त्यांना मोठ्या द्वैभाषिकाचा कारभारहि करावा लागला !

मुंबईशिवाय संयुक्त महाराष्ट्राचा विधानसभेंत पुरस्कार झाल्यावर माझ्या कांही पत्रकार मित्रांसह मी श्री. चव्हाणांना त्यांच्या कार्यालयांत भेटलों होतो. मुंबई महाराष्ट्रांत यावी असें आपणांस वाटतें ना, असा प्रश्न विचारल्यावर ते उत्तरले: "अर्थात्. एक महाराष्ट्रीय म्हणून असें मला कसें वाटणार नाही ? मुंबईसह वैभवसंपन्न असा संयुक्त महाराष्ट्र स्थापन झालेला पाहण्याचें प्रत्येक महाराष्ट्रीयानें स्वप्नच आहे. पण आज परिस्थितीच अशी आली आहे की मिळतें तें घेतलें पाहिजे."

मुंबईसह संयुक्त महाराष्ट्राचा हा कट्टर पुरस्कर्ता मुंबईशिवाय महाराष्ट्राचा स्वीकार करावयास तयार होतो व नंतरच्या काळांत मोठें द्वैभाषिक राबवावयाचा प्रयत्न करतो अशी कोणती परिस्थिति निर्माण झाली होती ?

★ ★ ★

१९५२ ते ५६ या काळांत श्री. माऊसाहेब हिरे महाराष्ट्र काँग्रेसचे नेते होते, पण महाराष्ट्र काँग्रेसच्या संघटनेवर दुसऱ्या कांहींची जबरदस्त पकड होती. या मगरमिठींतून महाराष्ट्र काँग्रेसची सुटका झाल्याशिवाय नव्या महाराष्ट्रास उपकारी ठरेल अशी ती संघटना ठरणार नव्हती. अखिल भारतीय राजकारणांत महाराष्ट्राची सर्वत्र बंदनामी झालेली होती. इतर प्रांतांत महाराष्ट्राविषयी व महाराष्ट्रीयानांच्या कर्तबगारीविषयी मयंकर गैरसमज माजले होते. अशावेळीं प्रथम संघटनेवर पकड बसवून व नंतर महाराष्ट्राबद्दलचे गैरसमज दूर करूनच महाराष्ट्र मिळविला पाहिजे याची सर्वांत प्रथम जाणीव श्री. चव्हाण यांना झाली व त्यांनी त्या दिशेने कांही पावले टाकावयास सुरुवात केली. 'महाराष्ट्रापेक्षा मला नेहरू प्रिय' या त्यांच्या गाजलेल्या विधानाचा या संदर्भांत विचार करावयास हवा.

१९५२ ते १९५६ या काळांत त्यांनी शासनावर पकड बसविली. त्यांच्या खात्याचें काम नेहमी चोख असे. पुरवठा खातें गैरकारभाराबद्दल अगदी नांवाजलेलें असतां श्री. चव्हाण यांनी त्या खात्याला शिस्त लावली. पत्रकार म्हणून सर्व मंत्र्यांना भेटावयाची मला नेहमी संधि मिळे. या सर्व मंत्र्यांत चव्हाणांचें वैशिष्ट्य चटकन लक्षांत येत असे. तें म्हणजे त्यांच्या प्रशस्त टेबलावर फायलींचा गडा कधीहि नसे. याउलट इतर महाराष्ट्रीय नेत्यांचें बाहेर जास्त लक्ष लागल्यामुळे शासनाकडे योडेंफार

दुर्लक्ष झाले. या काळात एक कर्तबगार कारभारी म्हणून चव्हाणांनी नांव कमावले.

याच काळाच्या शेवटच्या कालखंडात त्यांनी काँग्रेस संघटनेवर पगडा बसावावयाचा प्रयत्न केला, व त्यात जबरदस्त यश मिळविले. प्रथम त्यांनी एका गटास हाताशी धरले व नंतर आस्ते आस्ते सर्व संघटनेवर पगडा बसविला. म्हणूनच १९५६ च्या मोठ्या द्वैभाषिकाच्या काँग्रेस पक्षाने त्यांची पक्षनेता म्हणून निवड केली. त्या वेळीं अनेकांना आता चव्हाण मोठे द्वैभाषिक रावणार असे वाटले. हे द्वैभाषिक अडीच वर्षे चालवून महाराष्ट्रातील जनता द्वैभाषिकाला कधीच तयार होणार नाही हे ओळखून त्यांनी काँग्रेस श्रेष्ठींना त्याची स्पष्ट जाणीव दिली. मध्यतरीच्या काळात महाराष्ट्राविषयीचे अनेक गैरसमज त्यांनी स्वतःच्या कर्तबगारीने दूर केले होते. महाराष्ट्रीयांच्या कर्तबगारीविषयी एक नवा दबदबा अखिल भारतात निर्माण झाला होता. अशा वेळीं महाराष्ट्राची मागणी नाकारणे काँग्रेसश्रेष्ठींनाहि अशक्य झाले. अशा सुयोग्य वेळेचीच ते वाट पाहत होते.

★ ★ ★

१९५२ ते ५७ या पांच वर्षांतील अनेक घटनांचा जसजसा मी विचार करतो तसतशी श्री. चव्हाण यांच्या मुत्सद्देगिरीविषयी व कर्तबगारी-विषयी खात्री पटत जाते. १९५२ मध्ये पहिला वाद निर्माण झाला मुरारजीभाईंच्या मंत्रिमंडळात कोणी जावे याचा. मुरारजीभाईंचे म्हणणे,

माझ्या मंत्रिमंडळातील सहकारी मी निवडणार. मी. चव्हाण यांनी त्या वेळी मुरारजीभाईंची ही भूमिका मान्य केली आणि १९५६ साली त्यांच्यावरच उलटविली. द्वैभाषिकाचे पहिले मुख्य मंत्री म्हणून नेमणूक झाल्यावर आपले सहकारी निवडण्याचा व खातेवाटणी करण्याच्या आपल्या हक्काचा त्यांनी आग्रह धरला व त्यांस मागची आठवण देऊन काँग्रेसश्रेष्ठींची संमति मिळविली. नव्या द्वैभाषिकाचे गृहमंत्रिपद गुजराती मंत्र्याकडे असावे असा काँग्रेसमधील एका गटाचा आग्रह त्यांनी हाणून पाडला व स्वतःकडे गृहमंत्रिपद ठेवले.

त्यावेळीं गृहमंत्रिपद अन्य मंत्र्याकडे गेले असते तर नंतरच्या दोन वर्षात काय झाले असते त्याची कल्पना करणेच बरे. गृहमंत्रिपद ही जागा अशी आहे की, तिचा हवा तसा उपयोग करून घेता येतो. यापुढच्या काळात याच गृहमंत्रिपदाचा कसा वापर झाला याचीहि सर्वोना चांगली आठवण आहे. याच काळात महाराष्ट्राने नांव कमावले व झालेली बदनामी पुसून टाकली.

★ ★ ★

पूर्वीच्या मोठ्या द्वैभाषिकांत व आताच्या संयुक्त महाराष्ट्रांत मी. चव्हाण यांचा कारभार कसा झाला व होत आहे याबद्दल मी काही सांगावयाची आवश्यकता नाही. पू. जयप्रकाशजींचे मत सांगूनच हा लेख मी संपवणार आहे. “नव्या भारतास नेहूनंतर कोण हा प्रश्न पडण्याचे कारण नाही. चव्हाणांसारखे कर्तबगार नेते निर्माण होत आहेत.”



उद्योगधंद्यांत जर सतत कलहाचे वातावरण राहिल तर उत्पादन चाळू ठेवणेच मुश्किल होईल, मग वादविषयाची गोष्ट तर सोडाच. तेव्हां मालक व कामगार या दोघांनाहि न्याय्य असेल व संबंध समाजाचेहि ज्याने हित होईल असा औद्योगिक समेट निदान पांच ते दहा वर्षे राहणे आर्थिक प्रगतीच्या दृष्टीने अत्यावश्यक आहे. कारण अशा परिस्थितीतच उत्पादनाची वाढ निर्विघ्नपणे होत राहिल.

—यशवंतराव चव्हाण

श्री यशवंतरावांच्या सहपाशांत आल्थावंतर



मा. सां. कन्नमवार

२६ फेब्रुवारी १९६१—रविवारचा दिवस ! यशवंतराव भ्रमदा-
बादच्या दौऱ्यावर जावयाला निघतांना तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री
जोशी त्यांना विचारुं लागले, “काय यशवंतराव, मी परवा दिलेली दोन
इंग्रजी पुस्तके आपण वाचलीत ना ?” “नाही हो” यशवंतराव म्हणाले,
“मला वेळ मुळी मिळालाच नाही. अलीकडे कामाचा एवढा व्याप वाढला
आहे की, पुस्तके वाचायला वेळ निघतच नाही. अशीच परिस्थिति
राहिल्यास मला वाटते की, सहा वर्षांनंतर मी अज्ञानी होऊन जाईन.”
(I may become ignorant in six years)

यशवंतरावांची परिस्थिति आज ही आहे की, लोक झोपू देतील तेव्हां
त्यांनी झोपावे, लोक जेवू देतील तेव्हां त्यांनी जेवावे. थोड्या दिवसांपूर्वी
त्यांची धर्मपत्नी सौ. वेणूताई यांची प्रकृति विशेष बिघडली होती. घरीच
उपचार चालू होता. रात्री ९ चा सुमार होता. ९॥ वाजतां असेंब्ली-
तील काँग्रेस आमदारांची पक्षसभा व्हावयाची होती. शिवाय कांही माणसें
भेटावयाचीं राहून गेलीं होती. त्यावेळीं त्यांना आठवण झाली आपल्या
रुग्ण पत्नीची ! ते लगेच मला म्हणाले, “कन्नमवारजी, तुम्ही आजची ही
पक्षसभा सांभाळा. मी आत्ताच घरी जातो. कारण, आज दिवसभरांत पांच
मिनिटेंदेखील माझ्या पत्नीचा-कुशल समाचार घ्यावयाला वेळ मिळाला
नाही. ती आतां झोपेल. नऊ वाजल्यानंतर ती जागत नाही. मला गेलें
पाहिजे.”

मी चटकन् म्हणालो, “आपण आतां सारीं कामे बाजूला सारून ताबड-
तोब अवश्य घरी जा.” ते लगेच गेले. पण कामाबद्दल आस्था व चिंता
दाखविणारे, कर्तव्य व अंतःकरणाची ओढ या कात्रीत सापडलेले आणि
‘मी काम सांभाळतो, तुम्ही जा,’ असें म्हणतांच समाधान व विश्वास
दर्शविणारे सर्व भाव त्या क्षणमात्रांत त्यांच्या मुद्रेवर मला दिसून आले.
ती त्या दिवशीची त्यांची मुद्रा माझ्या मनावर कायमचा ठसा उमटवून
गेली.

नागपूरचे असेंब्ली अधिवेशन संपत येऊं लागले होतें. सर्व महिला
आमदारांनी आपल्या निवासस्थानी यशवंतरावांना जेवावयाला
बोलाविलें होतें. हे जेवण दुपारी १२ वाजतां ठेवलें होतें. यशवंतरावांचें
काम त्या दिवशी १२॥ वाजेपर्यंत उरकूं शकलें नाहीं. त्यांना कांही
महत्वाच्या प्रश्नांची उत्तरे व एक महत्वाचें निवेदन विधान समेत
घावयाचें होतें. मी म्हणालों, “आपण जेवण आटोपून १ वाजेपर्यंत



असेंल्लीत येऊं कसे शकाल ? जेवायच्या कार्यक्रमाला न गेल्यास काय हरकत आहे ? ” “ नाही, नाही, हा महिलांचा कार्यक्रम आहे. मला त्यांचा मान राखलाच पाहिजे. मी जातो आणि लोच येतो वेळेवर. ” यशवंतराव म्हणाले. त्याप्रमाणे ते १ वाजावयाला ३ मिनिटे कमी असतांना विधान सभेत येऊन पोचले. तेव्हा मी त्यांना विचारले, “ आपले जेवण एवढ्या लवकर आटोपले कसे ? ” ते म्हणाले, “ मी महिलांच्या बरोबर पाटावर बसलों. घाईघाईने बरबर थोडा भात घेतला आणि त्यांची क्षमा मागून लोच येथे आलो. ” जेवणाच्या बाबतीत त्यांचे नेहमी असेच घडत असते. समाधानाने जेवण करणे, वेळेवर जेवणे हे त्यांना कामाच्या गर्दीमुळे जमतच नाही. अलीकडे तर ते सचिवाल्यांत व विधान सभा अधिवेशनाच्या वेळी विधान सभा भवनांतील आपल्या कार्यालयांत जेव्हा वेळ मिळेल तेव्हा जेवण करीत असतात.

सान्या कर्तव्यशील मंत्र्यांची सुखदुःखे त्यांची त्यांनाच माहीत ! भारताचे माजी अर्थमंत्री डॉ. मथाई यांच्या सुंबई नभोवाणीवर झालेल्या एका भाषणांत त्यांनी आपल्या मंत्रिपदाच्या वेळच्या अनुभवाचा उल्लेख केला होता. तो या प्रसंगी येथे देणे उचितच होईल. ते आपल्या भाषणांत म्हणाले होते, “ स्वतंत्र भारताच्या पहिल्या मंत्रिमंडळांत मंत्री म्हणून मी चार वर्षे काढली. काम फार महत्वाचे आणि जबाबदारीचे होते आणि मला सांगायला खेद वाटतो की, त्या काळांत फारच थोड्या प्रसंगांत मी आनंदी राहू शकलो असेन. मंत्रिमंडळांतील मंत्र्यांच्या वाट्याला येणारे वैभव मोठे असले तरी त्यांना स्वतःचे असे जीवन जगणे अशक्य होते. निवांत असा वेळ त्यांना मुळी मिळतच नाही. माझ्या आयुष्यांतला असा कोणताहि अन्य काळ मला आठवत नाही की, ज्या काळांत मी मंत्री असतांनाच्या काळाइतके कमी वाचन केले असेल आणि ते वाचनहि माझ्याच भाषणांची कात्रणे वाचण्यापुरतेच मर्यादित असे. यापेक्षा आणखी कंटाळवाणे जीवन असे कोणते असेल ? ”

ज्यांच्यावर काँग्रेस संघटन व सार्वजनिक कार्यकर्ते सांभाळण्याची जबाबदारी नव्हती, ज्यांना जनतासंपर्क साधावा लागत नसे, सार्वजनिक व विविध कार्यक्रमांचा आणि व्याख्यानांचा तगादा ज्यांच्यामागे राहत नसे, निरनिराळ्या प्रकारच्या जन आंदोलनांना तोंड देण्याचा ज्यांना प्रसंग पडत नसे, व ज्यांच्या कामाची मर्यादा प्रामुख्याने आपल्या मंत्रिपदाच्या कामापुरतीच मर्यादित होती, त्या डॉ. जॉन मथाईना असे म्हणण्याचा प्रसंग आला. त्या मानाने यशवंतरावजींच्या कामाचा व्याप फारच मोठा आहे. काँग्रेस पक्ष, संघटना, विधानसभा पक्ष, सरकारी कामे, सार्वजनिक आणि इतर विविध कार्यक्रम व व्याख्यानांचा तगादा यामुळे आतां त्यांना इंग्रजी व मराठी भाषेतील नवीन उत्तमोत्तम ग्रंथ घेऊन त्यांचे मनन व चिंतन करावयास वेळ काढतां येत नाही. म्हणूनच त्यांना स्वतःबाबत तशी शंका आली व ती त्यांनी शास्त्रीजींजवळ बोलून दाखविली की, ‘ अशा परिस्थितीत माझ्या बुद्धीवर पुढे गंज तर चढणार नाही ना ? ’

यशवंतरावजींना गेल्या ४-५ वर्षांत किती तरी तुफानी-संज्ञावाती राजकीय आवर्तांतून जावे लागले. केवढा मानसिक ताण त्यांना सहन करावा लागला असेल ! ही तारेवरची कसरत होती. आजहि नवमहाराष्ट्राची बांधणी करतांना त्यांनी स्वतःला सतत बाह्यता कामाच्या

प्रवाहांत ‘ रामभरोसे ’ शोकून दिले आहे. भेटी-गाठी, मुलाखती-चर्चा, सरकारी कामकाज, काँग्रेस संघटना, भाषणे, असा मोठा कार्याचा डोंगर असतांना त्यांना कंटाळलेले किंवा वैतागलेले मी पाहिले नाही. सदां इंसतमुख राहतात. मनस्तापाचे कांही प्रसंग येतात जरूर ! परंतु प्रसंग तो ओळखावा । राग निपटोनी काढावा ॥ या समर्थोक्तिनुसार ते अशा प्रसंगी संयम ठेवून मनाचा तोल जाऊ देत नाहीत. यशवंतरावांना ज्या परिस्थितींतून जावे लागले व आज जावे लागत आहे त्या परिस्थितींतून इतर दुसऱ्या कोणाहि मंत्रिमहाशयांना जावे लागले असते तर त्यांना वेड लागल्यावाचून राहिले नसते, असे मला वाटते.

कविले तें मिळाले—

१९४८ मध्ये मी नागपूर प्रदेश काँग्रेस कमिटीचा अध्यक्ष असतांना ता. २ ऑक्टोबर १९४८ ला गांधी जयंतीच्या निमित्ताने, दोनहि हात जोडून नमस्कार करीत असलेले गांधीजींचे मोठे फोटो मी छापवून खेडोपाडी पोचविले होते. त्या फोटोखाली गांधीजींना प्रार्थून आश्वासन देणारी खालील वाक्ये लिहिली होती :-

“ बापू, किसानालाहि राजसिंहासनावर चढविण्याची तुम्ही महत्वाकांक्षा आम्ही आपल्या रक्ताचे पाणी आणि हाडांची काडे करूनहि पूर्ण करूंच. हाच तुला आमचा प्रतिप्रणाम. सामाजिक, आर्थिक व सांप्रदायिक विषमतेच्या प्रतिकारार्थ तू स्वतःचे केलेले बलिदान आम्हांला नेहमीच मार्गदर्शक राहील. ”

प्रस्तुत लेख लिहितांना वरील वाक्यांचे मला स्मरण झाले. यशवंतराजींचे चित्र समोर आले व माझे मत झाले की, गांधीजींची महत्वाकांक्षा महाराष्ट्रपुरती तरी खरी ठरली. कारण, एका गरीब शेतकऱ्याच्या पोटी जन्माला आलेला एक सुजाण मुलगा आज महाराष्ट्र राज्याच्या मुख्य मंत्रिपदावर आरूढ झाला आहे.

विद्यार्थी दशेत असतांना ज्याला शाळेची फी भरतां येत नव्हती, अंगांत कोट व पायांत चप्पल घालतां येणे शक्य नव्हते, ज्याच्या प्रिय मातेला कष्ट-मोळमजुरी करणे भाग पडले—अशा हलाखीच्या परिस्थितीत दिवस काढलेला हा ‘ यशवंत ’ पुढे महाराष्ट्र राज्याचा मुख्य मंत्री होईल असे कोणाच्या स्वप्नांत देखील आले नव्हते. घरची एवढी वाईट परिस्थिति असतांना देखील भविष्याची पर्वा न करतां यशवंतरावांनी १९३० सालच्या गांधीप्रणीत असहकारितेच्या चळवळीत भाग घेतला. गांधीजींच्या राजकीय चळवळीत सामील होणे म्हणजे सर्व प्रकारच्या संकटांना कवटाळणे होते, फकिरीशीं दोस्ताना करणे होते.

कबीरा खबा बाजार में ले लुकाटी हाथ ।

जो घर फुंके आपनो वे चले हमारे साथ ॥

असा गांधीजींचा उपदेश होता. सावरमती आश्रमाच्या एका बाजूला स्मशान होते व दुसऱ्या बाजूला तुंग होता. गांधीजी आश्रमीय मंडळींना सांगत—स्वराज्य हवे असल्यास या दोन गोष्टींची मीति तुम्हांला सोडावी लागेल.

गांधीजींना अधिकाधिक त्याग हवा होता. १९३३ मध्ये हरिजन दौऱ्याच्या वेळी गांधीजी नागपूरला आले. त्यांना थैली अर्पण करण्यांत आली. त्या वेळेचे नागपूर प्रदेश काँग्रेस कमिटीचे अध्यक्ष कै. नरकेशरी

अभ्यंकर यांच्या पत्नीने अंगावरचे दागिने गांधीजींना अर्पण केले. “बापू, हे शेवटचे दागिने माझ्या पत्नीजवळ होते. आता दागिना राहिला नाही.”—अभ्यंकर म्हणाले. “ठीक, परंतु तुम्हांला अजून जेवण मिळण्याची तर चिंता नाही ना ? अभ्यंकरांना जेवणहि मिळणं कठीण झालं आहे असं ऐकेन त्या दिवशी मी आनंदाने नाचेन”— गांधीजी म्हणाले. गांधीजी एवढे कठीण परीक्षक होते.

गांधीजींच्या हाकेला ओ देणाऱ्या यशवंतरावांनी मागेपुढे पाहिलं नाही. घरादाराची, जीविताची पर्वा केली नाही. एकामागून एक आलेल्या संकटांना तोंड दिलं. १९३२ मध्ये १८ महिन्यांचा तुरुंगवास भोगला. १९४१ मध्ये वकिली सुरू केली. १९४२ जूनमध्ये विवाह झाला. १९४२ च्या ‘करूं या मरूं’ या स्वातंत्र्यलढ्यांत उडी घेतली. पुढे ते भूमिगत झाले. थोरल्या बंधूंचा मृत्यू झाला. नवविवाहित पत्नीला अटक झाली व ती पुढे अतिशय आजारी पडली. परंतु यशवंतराव या कठीण दिवसांत डगमगले नाहीत; ध्येयापासून त्यांचं मन विचलित झालं नाही.

अशा वेळीं त्यांच्या वीर मातेने वं सहनशील पत्नीने केवढं धारिष्ट दाखविलं ! यशवंतरावांच्या मोठेपणाचं श्रेय ह्या उभयतांनाच आहे.

“मी महात्मा झालो, याला कारण माझी कस्तुरबा !” हे उद्गार काढून गांधीजींनी स्त्री जातीचा मोठा गौरव केला. तसाच प्रभाव वेणू-ताईंच्या त्यागाचा यशवंतरावांच्या मनावर आहे. वेणूताईंच्या अशक्त प्रकृतीबद्दल कोणी प्रश्न काढला की यशवंतराव म्हणतात, “तिची प्रकृति खराब न्हायला मी कारणीभूत आहे.” स्त्रियांच्या बाबतीत त्यांची दृष्टि नेहमी अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण असते. त्यांची हेटाळणी अथवा गैर-सोय होत आहे असें दिसून आल्यास त्यांना तें खपत नाही. एकदा असा एक प्रसंग घडला. अर्सेली हॉलमधील कामकाज आटोपून बाहेर जावयास उठतांना सहज त्यांना दिसलं की, विधानसभा भवनांतील प्रेक्षकांच्या गॅलरीत कांही महिला जागेच्या अभावीं सारख्या उभ्या आहेत. असें पाहतांच ते बेचैन झाले. त्यांनी ताबडतोब त्यांच्या बसण्याची व्यवस्था करविली. जेव्हा त्या बसल्या तेव्हा ते मजजवळ म्हणाले, “झालं माझें काम, मी चाललो आता. याकरिताच एवढा वेळ थांबलो होतो.”

जवाहरलालजी म्हणतात, गांधीजी म्हणजे शेतकरी ! त्यांचा दृष्टिकोण संपूर्ण शेतकऱ्यांचा होता. हिंदुस्थानच्या शेतकऱ्यांच्या म्हणजे बहुजन समाजाच्या जीवनाशी ते तादात्म्य पावले होते. बहुजन समाजाविषयीचं त्यांचं प्रेम इतकं अगाध होतं की, “हे लोक आहेत म्हणून माझं अस्तित्व आहे” असें गांधीजी म्हणत. आज यशवंतरावजींचा विचारपिंड तंतोतंत असाच आहे.

“मुख्य मंत्रिपदाची जिम्मेदारी मी शेतकरी, कष्टकरी जनतेसाठी घेतलेली आहे. तेव्हा मी जर माझ्या जिम्मेदारीच्या कामांत फसलो, चुकलो तर शेतकरी फसला आणि कामकरी फसला असें होईल,” असे त्यांचे विचार आहेत. राष्ट्रपिता महात्मा गांधी आज जर ह्यात असते तर त्यांना यशवंतरावांकडे पाहून त्यांचे किती कौतुक वाटलं असतं. त्यांना धन्यता वाटली असती की, माझ्या स्वातंत्र्यलढ्यांतील एक तरुण शेतकरी सैनिक महाराष्ट्र राज्याचें मुख्य मंत्रिपद भूषवीत आहे व शेतकऱ्यांचा कैवार घेऊन त्यांच्या कल्याणाची प्रतिज्ञा करीत आहे !

सर्व प्रकारचें शोषण—मग तें आर्थिक असो, बौद्धिक असो, धार्मिक असो अथवा राजकीय असो—गांधीजींना नाहीसें करावयाचें होतं. यशवंतरावजींचीं पावलं आज याच दिशेने पडत आहेत.

गांधीजींची ईश्वरनिष्ठा अगाध होती. यशवंतरावहि शेवटीं ईश्वरी इच्छे-वर अवलंबून राहून निश्चित होतात. मी कितीदा तरी पाहिलं आहे की, जेव्हा केव्हा एखादा गुंतागुंतीचा, अत्यंत पेचाचा प्रसंग उद्भवतो, काय करावें आणि काय करूं नये असें जेव्हा त्यांना होऊन जातं, तेव्हा ते म्हणूं लागतात, “ठीक आहे, आता मला ईश्वर जें सुचवील अथवा जी प्रेरणा देईल तसा मी निर्णय घेईन.”

“हातीचें सुकाणू सोडितां मी जाणें ।

होतोसी स्वरेनं तूं कर्णधार ।

व्हावयाचें कार्य सहज होईल ।

व्यर्थ ती जाईल धडपड ॥”

या गुरुवर्ष रवींद्रनाथ टागोर यांच्या वचनानुसार अडचणीच्या वेळीं, गोंधळलेल्या मनःस्थितीत, यशवंतराव आपल्या विचारांच्या नावेचें सुकाणू ईश्वराच्या स्वाधीन करतात आणि त्यांतून ते सुखरूपपणें पार पडतात.

विदर्भवासीयांचें यशवंतरावांवर एवढें प्रेम कां ?

विदर्भवासीयांचें यशवंतरावांवर प्रेम असावयाला अनेक कारणें आहेत. एक तर वर्षां सेवामामांत महात्मा गांधींचें अनेक वर्षे वास्तव्य होतं. सेवामाम ही त्या काळांत भारताची राजकीय राजधानी बनलेली होती. विदर्भातील, विशेषतः नागपूर विभागांतील चार जिल्ह्यांतील जनता गांधीजींच्या वास्तव्याने, त्यांच्या विचारप्रणालीने, विशेष प्रभावित झाली होती. यशवंतराव हे आज मुख्य मंत्री आहेत म्हणून त्यांच्यावर विदर्भवासीयांचें प्रेम जडलं आहे असें नव्हे, तर ते गांधीयुगांतील असून, गांधीजींच्या हाकेला ओ देऊन स्वातंत्र्याच्या यज्ञकुंडांत उडी घेणारे आपल्यामधीलच एक बहादूर सेनानी आहेत म्हणून ! राज्यपुनर्रचना झाली नसती तरी त्यांच्याविषयी अत्यादराचा, आपुलकीचा भाव, विदर्भातील जनतेंत सदांच राहिला असता.

पश्चिम महाराष्ट्र व विदर्भाचा भाग अलग अलग प्रांतांत कित्येक वर्षेपर्यंत राहत होता, तरी राष्ट्रीय चळवळीच्या दृष्टीने त्यांच्यांत नेहमीच एकात्मता होती. लोकमान्य टिळकांच्या मृत्यूनंतर महाराष्ट्रांतील टिळक अनुयायांमध्ये दोन तट पडले. एक गांधीचें नेतृत्व हृदयापासून मानणारा व दुसरा त्यांचें नेतृत्व सुळीच न मानणारा ! विदर्भ विभागांतहि गांधीजींचें नेतृत्व मानणारा गट मोठ्या प्रमाणांत निर्माण झाला. बहुसंख्य जनता गांधीजींच्या नेतृत्वाकडे वळली. महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय विचारकामध्ये झालेली ही पहिली विचारक्रांति होय ! या क्रांतीमुळे पश्चिम महाराष्ट्रांतील व विदर्भांतील गांधीप्रेमी जनता एका विचारसूत्रांत आली व एकमेकांची अभिमानी बनली. दुसरी विचारक्रांति राज्यपुनर्रचना काळांत झाली. या विचारक्रांतीचें निशाण यशवंतरावांच्या हातीं आलें. या क्रांतीची घोषणा ता. १ डिसेंबर १९५५ रोजी फलटण मुक्कामी झाली. राज्यपुनर्रचनेच्या चळवळीच्या काळांतील हा ऐतिहासिक महत्त्वाचा क्षण होय. काँग्रेसची नाव तुफानांत सापडली होती. महाराष्ट्रांतील काँग्रेस नेस्तना-

बूट होण्याच्या मार्गाला लागली होती. व्यक्तिनिष्ठा श्रेष्ठ की संस्थाभिष्ठा श्रेष्ठ हा प्रश्न सोडवावयाचा होता. यशवंतराव या वेळी निषङ्ग्या छातीनें समोर आले. ता. १ डिसेंबर १९५५ रोजी त्यांनीं फलटणला घोषणा केली की, “मुंबई राज्य-रचनेबाबत काँग्रेस कार्यकारिणी जो अंतिम निर्णय घेईल तो मी शिरोधार्य मानीन. संयुक्त महाराष्ट्र व पंडित नेहरू असा पेंच माझ्यापुढें आला तर मी नेहंरूनाच कौल देईन.” यांत काँग्रेस सुरक्षित राहावी हाच हेतु होता. यशवंतरावांनीं मर्दपणे काँग्रेसजनांना प्रसंगोचित मार्गदर्शन केलें व महाराष्ट्राचें ‘पानिपत’ होऊं दिलें नाही.

या निर्णयामुळे त्यांचेवर जनतेचा भयंकर क्षोभ झाला. शिब्याशापांचा बर्षाव झाला. त्यांची जागोजागी हेटाळणी, मानखंडणा होऊं लागली. त्यांना राजकीय जीवनांतून हद्दपार करण्याचे प्रयत्न सर्व बाजूंनीं सुरू झाले. ‘बॉर वाईट सोसावें समुदायाचें’ या समर्थवचनानुसार हें सारें त्यांनीं घातपणे व धोराने सहन केलें. शेवटीं ते या अभिदिव्यांतून पार पडले व महाराष्ट्रांत काँग्रेसला त्यांनीं संजीवन दिलें. मी व माझे साथी जरी त्यावेळीं स्वतंत्र विदर्भाचे पुरस्कर्ते होतो तरी यशवंतरावांच्या या पुरुषार्थाने व बहादुरीनें आम्हीहि प्रभावित झालों व त्यांच्या नेतृत्वाकडे आकर्षित झालों. कारण, आम्ही देखील स्वतंत्र विदर्भापेक्षा काँग्रेसनिष्ठा व भारतनिष्ठेला प्रथम स्थान देणारे होतो आणि आजहि आहोंत. एकूण फलटणच्या या घटनेने यशवंतरावांच्या चाहात्यांची व काँग्रेस निष्ठावंतांची जणुं पलटणच इकडे पश्चिम महाराष्ट्रांत व तिकडे विदर्भांत उभी झाली.

तुफा म्हणे कळवळ्याची जाति । करी लाभावीण प्रीति ॥

यानंतर थोड्या दिवसांनीं ता. १६ जानेवारी १९५६ रोजी पंडित जवाहरलाल नेहरू यांनीं रेडिओवर भाषण करून मुंबई केंद्रशासित केल्याचें जाहीर केलें. हा निर्णय जाहीर होताच लगेच दुसरे दिवशीं ता. ७ जानेवारीला मी व माझे एक विदर्भावासी साथी अशा दोघांनी, स्वतंत्र विदर्भाची चळवळ मागे घेण्यांत आली आहे, असें जाहीर केलें.

जवाहरलालजींच्या वरील घोषणेनंतर महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेस कमिटीची सर्वसाधारण सभा पुण्याला झाली. निमंत्रणावरून मी व माझे एक साथी तेथें हजर झालों. मुंबई वगळून महाराष्ट्र राज्याच्या स्थापनेच्या कामाला सुरुवात झाली. मुंबई, मध्यप्रदेश, हैद्राबाद राज्यांतील महाराष्ट्रीय मंत्र्यांच्या मुंबई सचिवाल्यांत दोन बैठकीहि झाल्या. या संधीचा फायदा घेऊन मी सातारा, कोल्हापूर, सांगली वगैरे भागांत दौरा केला व काँग्रेस कार्यकर्त्यांच्या समेत भाषणेंहि केलीं. मला कित्येक जण त्यावेळीं म्हणूं लागले की, “आपण नवखे आहांत. यशवंतरावांच्या मागे राहिल्याने आपण आपलें व विदर्भाचें भलें करूं शकणार नाही!” सातारान्याच्या मुक्कामीं राजेसाहेब निंबाळकर यांनीं मला प्रश्न घातला की, माझे व माझ्या सहकाऱ्यांचें धोरण कसे राहिले ? मी लगेच त्यांना उत्तर दिलें की, “जिकडे यशवंतराव तिकडे मी व माझे साथी राहतील. मग यशवंतराव अल्पमतांत राहोत की बहुमतांत ! कारण, आपली व आमची जात एक आहे. ती म्हणजे काँग्रेस व भारत निष्ठावंतांची. हें नातें आपणा सर्वांना सदा जखडून ठेवणारें राहिल.”

ते आले, त्यांनी पाहिलें व त्यांनी जिकलें

कोणाच्या ध्यानींमनीं नव्हतें. एकाएकी १० ऑगस्ट १९५६ रोजी

विशाल द्विभाषिक मुंबई राज्याचें विल लोकसभेंत पास झालें. इच्छा असा वा नसो, लोकसभेचा निर्णय आम्हां सर्वांना मान्य करावा लागला. राज्यपुनर्रचनेच्या काळांत ज्या पुरुषसिंहाच्या पुरुषार्थाने नागपूर विभागांतील लोक आकर्षित, व प्रभावित झाले होते त्या यशवंतरावांना पाहण्याची त्यांना फार जिज्ञासा होती. हें जाणून मी त्यांना नागपूर येथील सरकारी आयुर्वेदिक दवाखान्याच्या इमारतीचा कोनशिला बसविण्याकरिता निमंत्रित केलें. ते आले. माझ्याकडेच त्यांचा मुक्काम होता. त्यांच्या भेटीकरिता कार्यकर्त्यांची रीष लागली होती. त्यांच्या सौजन्यपूर्ण, प्रेमळ वागणुकीने व रोखठोक भाषणाने सर्वांना आपलेसे करून घेतलें. सर्वांना आपल्या व्यक्तिमत्वाने त्यांनी आकर्षित केलें. थोडक्यांत, ते आले, त्यांनी पाहिलें व त्यांनी जिकलें.

पुढे ता. १ नोव्हेंबर १९५६ रोजी विशाल मुंबई राज्य स्थापित झालें. यशवंतरावांकडे मुख्य मंत्रिपद आलें.

एकजिनसी, एकविचारी मंत्रिमंडळ

महाराष्ट्र राज्याचें मंत्रिमंडळ बनवितांना यशवंतरावांचा हाच दृष्टिकोण राहिला आहे की, मंत्रिमंडळांतील सर्व प्रमुख व्यक्ति, मंत्री व उपमंत्री खेळीमेळीने, एकजुटीने कारभार करणारे असावेत. तरच राज्य यशस्वी रीत्या चालू शकतें व लोकांचे प्रश्न सुटू शकतात. ‘अपनी अपनी हफ्ती, अपना अपना राग।’ अशी ‘मनःपूर्त समाचरेत्’ परिस्थिति राहिल्यास मंत्रिमंडळाची प्रतिष्ठा खिळखिळी होऊन जाते. आज इतर कांही प्रांतांत एकभाषी राज्य असतांना देखील आपापसांतील खिचाताणीमुळे व मतभिन्नतेच्या तीव्रतेमुळे मंत्रिमंडळाला चिरा गेल्या आहेत. कै. पंडित रविशंकर शुक्ल यांच्यासारख्या ८० वर्षांच्या वृद्ध मुख्य मंत्र्यांच्या हाताखाली, तसेंच माझ्यापेक्षा वयाने लहान अशा तरुण मुख्य मंत्र्यांच्या—यशवंतरावांच्या हाताखालीहि काम करण्याचा मला योग आला आहे. मला यशवंतरावांच्या आखीव व रेखीव धोरणाबद्दल फार समाधान वाटतें. ते सर्वांना सांभाळून घेणारे आहेत—निभावून नेणारे आहेत. ते सर्वांना आपापलें काम स्वतंत्रपणें, मोकळ्या मनानें करावयाला भरपूर वाव देतात. काम नीट चालतांना कधीहि कोणाच्या कामांत ते हस्तक्षेप करीत नाही. मंत्रिमंडळाच्या बैठकींत प्रत्येकाला आपापले विचार निर्भयपणे खुल्या दिलाने मांडण्याची मोकळीक असते. आपसांतील चर्चेनंतर जो निर्णय लागतो तो सर्वांनी प्रामाणिकपणे अमलांत आणावा; मग मात्र ‘पण’-‘परंतु’ कोणी करावयाला नको, असा त्यांचा कटाक्ष असतो. कोणत्याहि प्रश्नाचे बाबतींत त्यांची एककल्ली वृत्ति नसते. तत्वाला व धोरणाला बाध येऊं न देतां सर्वांशीं जुळवून मिळवून घेण्यांत ते सदा तत्पर असतात. प्रत्येकाच्या चांगल्या कामाला त्यांचें प्रोत्साहन असतें. त्यांच्या अशा स्थिर, गंभीर विचारप्रवण कार्यप्रणालीने सर्वांचें एक हृदय, एक चित्त झालें असून मंत्रिमंडळाचें रूपांतर जणुं मित्रमंडळांत झालें आहे !

द्विभाषिक राज्य हें भारतांतील पहिल्या प्रतीचें राज्य होय, अशी जी ख्याति झाली त्याला कारण यशवंतराव होत. हें राज्य चालविण्याचें कार्य अति कठीण व किचकट होतें. ही तारेवरची कसरत होती. या द्विभाषिकाच्या मंत्रिमंडळांत एकमेकांचें जमूं शकलें नाही, आपापसांतील भांडणामुळे हें राज्य अखेरीस मोडायें लागलें, असा कोणाचाहि

ठपका यशवंतरावांनी येऊं दिला नाही. पण स्वच्छ व स्थिर पाण्यांत नदीच्या तळाचा भाग जसा स्पष्ट रीतीने दिसतो तद्वत् साडेतीन वर्षांच्या द्विभाषिकाच्या समाधानकारक राज्यकारभारामुळे महाराष्ट्रांतील जनतेच्या अंतरंगांतील खऱ्या भावनेचा तळ काँग्रेसभेदींना दिसला ! तो म्हणजे भावनात्मक ऐक्याचा अभाव !! द्विभाषिकाचा राज्यकारभार व्यवस्थित चालू असला तरी लोकांचे भावनात्मक ऐक्य साधण्यांत यश मिळू शकले नाही, हे काँग्रेसभेदींच्या कानावर यशवंतरावांनी उचित प्रसंगी घातले. काँग्रेस भेदींना ते पटले आणि द्विभाषिकविसर्जनाच्या विचाराला चालना मिळाली.

विदर्भाबाबत भूमिका

नागपूरच्या काँग्रेस अधिवेशनाच्या समयाला याची गुणगुण चालू होती. लोकनायक अणे यांना लोकसभेचे तिकीट देतांना यशवंतरावांनी सांगितले होते की, द्विभाषिकाच्या प्रभावाचा फेरविचार झाल्यास आपल्या मंडळींना स्वतंत्र विदर्भाकरिता प्रयत्न करण्याची मोकळीक राहिल. द्विभाषिक-विसर्जन प्रभावाचा बरोबर स्वतंत्र विदर्भाचा प्रश्न पुनः जोराने समोर आला. मला त्याला साथ देणे क्रमप्राप्त झाले. परंतु चळवळीच्या ऐवजी वाटाघाटीचा मार्ग मी व माझ्या सहकाऱ्यांनी अवलंबिला.

द्विभाषिक राज्याचे विसर्जन होणार म्हणून गुजराथी मंडळी यशवंतरावांवर भयंकर रागावली, त्यांना अवदातदाहि बोळू लागली.

माझी पत्नी नागपूर विभाग काँग्रेस कमिटीची अध्यक्ष व तिच्याकडे विदर्भाच्या प्रभावेने नेतृत्व आणि मी मंत्रिमंडळांत ! महाराष्ट्रांतील बऱ्याचशा मंडळींनी आमच्याबाबत साशंक होणे स्वाभाविक होते. हा केवळ दुटप्पीपणा आहे, असेही कांही म्हणू लागले. मी माझी भूमिका स्पष्ट करण्याच्या दृष्टीने यशवंतरावांना एक सविस्तर पत्र लिहून कळविले होते की, 'माझ्या भूमिकेमुळे आपल्या अंगीकृत कार्यांत अडथळा येत आहे असे आपणाला वाटताक्षणी मला मंत्रिपदाच्या कामांतून मुक्त करावे. मंत्रिपद सोडल्यावरही मी विदर्भाच्या प्रभावाबत अखेरपर्यंत प्रयत्न करीन व काँग्रेसभेदी जो अखेरचा निर्णय देतील तो मी प्रामाणिकपणे पाळीन व त्याचा प्रचार करीन !' यशवंतरावांनी मला यानंतर घरी बोलावून घेतले आणि म्हटले, "माझे मन आपल्याविषयी मुळीच साशंकित नाही. कोणी काहिही म्हणोत, माझा आपल्या कार्यपद्धतीवर विश्वास आहे." चंदीगढ येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या अधिवेशनाच्या वेळी महाराष्ट्रांतील कांही मंडळींनी मजविषयी शंका प्रदर्शित करतांच यशवंतरावांनी, "कलमवारांविषयी असा गैरसमज करून घेऊं नका" असे स्पष्ट सांगितले. नऊ सदस्य कमिटींत मी एकटा आपला दृष्टिकोण स्पष्टपणे मांडीत होतो. तरी या बाबतींत यशवंतरावांनी मनाला कधी लावून घेतले नाही. पंडित गोविंद वल्लभ पंतांच्या निवासस्थानी ही चर्चा परस्परांच्या भावनांचा आदर ठेवून उच्च पातळीवरून व्हावयाची. नऊ जणांत मी एकटाच काय तो अल्या विचाराचा होतो. तरी आमच्या परस्परांच्या प्रेमांत मुळीच अंतर आले नाही व फसल्याहि प्रकारची कटुता आली नाही. याला कारण यशवंतरावांचा दिलदर्थाव स्वभाव व विशाल अन्तःकरण !

केवढा मानसिक ताण यशवंतरावांना या वेळी सहन करावा लागला.

महाराष्ट्र राज्य निर्मितीच्या या वेदना प्राणवेऊं होत्या. आपल्या मनासारखे होत नाही म्हणून दुसऱ्याशी भांडण करून चटविशी "एक घाब दोन तुकडे" करणे फार सोपे असते. पण भीमे भीमे, वाटाघाटीने, प्रेमाच्या संबंधांत विघाड न येऊं देतां एखादा वादग्रस्त प्रश्न सोडविणे हे महाकठीण कार्य असते. यशवंतरावांनी ही कामगिरी फार कुशलतेने, आणि अपार मनोधैर्याने पार पाडली. इतक्या अल्पत रीतीने त्यांनी हे ऑपरेशन केले की, मूल आणि आई दोन्ही सुरक्षित राहिली.

एकीकडे विदर्भाचा प्रश्न तर दुसरीकडे दोन्ही राज्यांचा बटवारा करण्याच्या प्रसंगी गुजराती बांधवांची अनुमति प्राप्त करून घेण्याचा प्रश्न ! यासंबंधी विचारविनिमय चालू असतांना मधूनमधून मतभेदांच्या ठिणग्या उडत नव्हत्या असे नाही. पण यशवंतरावांनी संताप येऊं दिला नाही, तीव्रता वाढू दिली नाही. 'मेरी सुर्गी की एक ही टंग' असा अव्यवहारी हटवादीपणा त्यांनी स्वीकारला नाही. आपसांत न सुटण्या-जोगा एखादा मुद्दा उपस्थित झाला की, त्याचा निर्णय गोविंद वल्लभ पंत व मोरारजीभाई यांच्या मध्यस्थीने घ्यावयाचा ! या नीतीने यश हासिल केले.

द्विभाषिक मुंबई राज्याच्या विसर्जनाच्या प्रभाला तोंड फुटल्याच्या वेळेपासून तर हा प्रश्न पूर्णपणे सुटण्याच्या अखेरपर्यंत यशवंतरावांनी मोरारजीभाईचे संबंध नीट सांभाळून ठेवले. मोरारजीभाईच्याच निवासस्थानी उतरून त्यांनी त्यांना म्हणावे की, "आता आम्ही मराठी-गुजराथी भाऊ भाऊ वेगळे होत आहोत, आम्हांला आशीर्वाद द्या ! वडील या नात्याने आमच्या मालमत्तेची उचित ती विभागणी करायला आपण साहाय्यभूत व्हा."

पोटांत शिरून, विश्वास संपादन करून, दुसऱ्यांकडून काम करवून घेण्याची कला फार कठीण असते. हे यशवंतरावांनाच साधले आहे. हे इतके नाजुक काम होते की, असल्या प्रसंगी There is many a slip between the cup and the lip या नुसार हातातोंडाशी आलेला घांस निसटून जात असतो. बाहेरची कांही विघ्नसंतोषी मंडळीहि कोणत्या तरी प्रभावाबत मतभेदाच्या खडकावर हे आघातांतील वाटाघाटीचे तारुं फुटावे आणि हा विभाजनाचा प्रश्न १९६२ च्या आम निवडणुकींनंतर विचारांत घेण्यांत यावा, असेच इच्छिणारी होती. पण यशवंतरावांनी असा मोकळा येऊं दिला नाही. साऱ्या वाटाघाटी यशस्वी केल्याच.

महाराष्ट्र राज्य निर्मितीबाबत अनेक पक्षांचे प्रयत्न झाले आहेत हे जरूर ! यांत जनतेकडेच विशेष श्रेय असले तरी यशवंतरावांसारखा कुशल, प्रसंगावधानी विचारवंत नेता नसता तर आजचे हे महाराष्ट्र राज्य एवढ्या लवकर पाहतां आले असते किंवा नाही याची मला शंका आहे.

दोन महान सेतू बांधणारा महान इंजीनिअर

फेब्रुवारी महिन्यांत मालवण येथील कोळंबच्या पुलच्या शिलान्यासाच्या कार्यक्रमाच्या निमित्ताने झालेल्या जाहीर सभेत लोकांनी महाराष्ट्र सरकारचा हृदयपूर्वक गौरव केला आणि आमची बऱ्याच वर्षांनी आकांक्षा आज पुरी होत आहे, असे सांगितले. मी उत्तर देतांना म्हणाले, "असे दगडा-मातीचे पूल व रस्ते या नवमहाराष्ट्रांत किती तरी होतील. आमचे इंजीनिअर

कठीणांतले कठीण पूल बांधतील. पण शेकडो वर्षांपासून विदर्भ व मराठ-वाड्यांचे पश्चिम महाराष्ट्राशी दळणवळण नव्हते. निरनिराळ्या राज्यांच्या खाड्यांमुळे परस्पर राजकीय संबंध तुटले होते. या दोन महान खाड्या व नद्यांमुळे विदर्भातील १० लक्ष व मराठवाड्यांतील ५० लक्ष महाराष्ट्रीय जनता अल्पा पडली होती. अत्यंत प्रयासाने व परिश्रमाने महाराष्ट्राच्या महान तत्र इंजीनियराने—यशवंतरावांनी—नुकतेच दोन मोठे सेतू बांधून महाराष्ट्राची ३॥ कोटी जनता एकत्र आणली आहे. सर्व दृष्टीने परस्परांच्या दळवळणालायक व्यवस्था केली आहे. म्हणून नागपूरचा मी, आज आपल्या कोळंब पुलाकरिता येथे येऊ शकलो. महाराष्ट्र राज्य स्थिर, मजबूत करण्याकरिता आपणा सर्वांनी प्रयत्नांची पराकाष्ठा केली तर असे किती तरी दगडा-मातीचे पूल आणि रस्ते जागोजाग तयार होतील व ते जनतेच्या सुखांत भर घालतील. आता तुमची अडचण ती माझी अडचण ही एकात्मतेची भावना आपणांत निर्माण झाली पाहिजे. नागपूरकडल्या लोकांनी रत्नागिरी जिल्ह्याच्या प्रभांचा प्रामुख्याने विचार करावा, तर आपण रत्नागिरीकरांनी नागपूरकडल्या प्रभांच्या सोडवणुकीसाठी झटावे. असे परस्पर जिद्दाळ्याचे संबंध प्रस्थापित झाले पाहिजेत.”

रत्नागिरी जिल्हा महाराष्ट्राच्या जसा एका टोकावर आहे तसा चांदा जिल्हा देखील एका टोकाला आहे. जेव्हा मी रत्नागिरी जिल्ह्यांत येत असतो तेव्हा मी आपल्या स्वतःच्या चांदा जिल्ह्यांतच आहे असे मला वाटावयाला लागते. या दोन्ही जिल्ह्यांत बऱ्याचशा बाबतीत साम्य दिसून येते. दोन्ही जिल्ह्यांत भातशेती असून रत्नागिरी जिल्ह्याइतके पावसाचे प्रमाण चांदा जिल्ह्याचे नसले तरी अर्धे तरी येईल. रत्नागिरी जिल्हा समुद्र खाड्यांनी वेष्टिलेला आहे तर चांदा जिल्हा वर्षा, वैनगंगा, गोदावरी, दीना, प्रणहीता, इंद्रावती वगैरे मोठ्या व लहान नद्या-नाल्यांनी व तलावांनी वेष्टिलेला आहे. रत्नागिरी जिल्ह्यांत समुद्राचा जलप्रवास आहे तर चांदा जिल्ह्यांत गोदावरी नदीतून आंध्र प्रांतातील राजमहेंद्रीपर्यंत सागाच्या लाकडांची वाहतूक आहे. मागे वैनगंगा धरण योजना अमलांत आली असती तर राजमहेंद्री ते नागपूरजवळील कन्हान नदीपर्यंत सर्व प्रकारचा जलप्रवास होऊ शकला असता. रत्नागिरीत जंगल तेवढे मोठे नाही परंतु चांदा जिल्ह्यांत मैलौगणती घनदाट जंगल असून ते महाराष्ट्रांत पहिल्या दर्जाचे जंगल मानले जाते. रत्नागिरीच्या सडका लाल तर चांदा जिल्ह्याच्या सडका हि लाल आहेत. रत्नागिरी जिल्ह्यांत कांही प्रमाणांत खनिज द्रव्ये आढळतात तर चांदा जिल्ह्यांत ती भरपूर प्रमाणांत आहेत.

आ सर्व गोष्टीपेक्षां मला रत्नागिरी जिल्ह्याबद्दल जास्त आस्था वाटण्याचे कारण हे आहे की माझे राजकीय गुरु स्वर्गीय लोकमान्य टिळक हे रत्नागिरी जिल्ह्याचेच । असे आत्मीयतेचे संबंध कसे जोडता येतील याचा परस्परांकडून विचार घेत गेला पाहिजे.

एकसंध, एकजिनसी मराठी मन या नवमहाराष्ट्रांत तयार व्हावे म्हणून यशवंतरावांची तळमळ आहे. या दृष्टीने आपल्या प्रयत्नांची पराकाष्ठा ते करीत आहेत व हृदयातील स्नेहभावाचे भांडार खोलीत आहेत. गतवर्षी वधेला झालेल्या एका जाहीर समेत यशवंतरावांचे अत्यंत

हृदयस्पर्शी असे भाषण झाले, ते म्हणाले, “शेकडो वर्षांपासून विदर्भातील व पश्चिम महाराष्ट्रातील भावाभावांची ताटातूट झाली होती. आपण एकमेकांपासून अंतरलो होतो. आज आपली राम-भरत भेट झाली आहे. आता कोणा मंथरने आम्हा भावाभावांच्या संबंधांत विष कालखू नये, ही परमेश्वराला प्रार्थना आहे. देवाने मला विदर्भात जन्माला न घालता महाराष्ट्रांत देवराष्ट्र गांवी जन्माला घातले, हा माझा दोष नाही. पण ज्यांचा परप्रांतांत जन्म झाला असूनही केवळ व्यवसाय करण्याकरिता जे विदर्भात येऊन राहिले त्यांचा विदर्भावर जर हक्क पोचू शकतो तर मलाहि एखादी शोषडी अथवा घर करून नागपुरांत राहता येईल; व विदर्भाचा म्हणवितां येईल. आपले व आमचे संबंध आजचे नाहीत. अत्यंत पुरातन असे आत्मीय संबंध आहेत. अखिल महाराष्ट्रावर राज्य करणाऱ्या छत्रपति शिवाजी महाराजांना आपल्या विदर्भात महाराष्ट्रास दिले आहे. विदर्भ हे शिवाजी महाराजांचे आजोळ असून त्यांच्या प्रिय जिजामातेचे माहेर आपल्या विदर्भातील सिंदखेडराजा या गावी आहे.”

यशवंतरावांची कार्यपद्धति

एक गणित सुटले की लगेच दुसरे हाती घ्यावे, ही यशवंतरावांची काम करण्याची पद्धत आहे. एकाच वेळी अन्य साऱ्या गोष्टींच्या विचारांची ते गर्दी करीत नाहीत. एक समस्या व्यवस्थित सुटली की मग आपले डोके दुसऱ्या समस्येकडे लावावे, असा त्यांचा परिपाठ आहे. ‘एक पावलाचा मार्ग जरी पुढे विसला तरी मला पुरे आहे’ असे गांधीजी म्हणत. (One step is enough for me.) याप्रमाणे एकदा आपले पहिले पाऊल ठाम रोवल्यावरच दुसरे पाऊल यशवंतराव टाकीत असतात. समोर असलेल्या बहुविध समस्यांनी ते गोंधळून जात नाहीत. एखादा पूल ओलांडावयाचा असल्यास तो कसा ओलांडतां येईल याची आधीपासून चिंता न करतां प्रथम त्या पुलापर्यंत कसे पोचतां येईल याचा विचार ते सर्वप्रथम करतात. एकामागून दुसरा अशी क्रमवारी ते लावीत असतात व कोणता प्रश्न केव्हा हाती घ्यावा हे ठरवून ठेवतात.

दोन राज्ये अलग करण्याच्या निर्णयावर वकिंग कमिटीचे शिक्का-मार्तब करण्याची वेळ आली. पंडित गोविंद वल्लभ पंताना महाराष्ट्र राज्य झाल्यावरहि ते स्थिर व मजबूत राहिल किंवा नाही याची शंका आली. होऊं घातलेल्या महाराष्ट्र राज्यातील काँग्रेसचे पक्षबल एकाने त्यावेळी कमी दिसले. त्यांत विदर्भातील राजिनामे देणाऱ्या कांही आमदारांसंबंधीची साशंकता ! पंतानी यशवंतरावांना विचारले, “यशवंतराव, आगे क्या परिस्थिति रहेगी ? कितने लोग काँग्रेसपक्ष में आ रहे हैं ?” यशवंतरावांनी हलक्या आवाजांत उत्तर दिले होते की, “आज तर मजबूत सात जणांबद्दलचीच माहिती आहे.” यानंतर मोरारजीभाईंच्या घरी आम्ही व डॉ. खेडकर वगैरे बसलो असतांना यशवंतरावांनी उद्गार काढले होते की, “महाराष्ट्र राज्य स्थापनेनंतर दोन महिन्यांच्या अवधीत काँग्रेस पक्ष जास्त संघटित आणि बलशाली न होतां आज आहे तसाच राहिल, तर मी बाजूला होऊन जाईन, राज्याची सूत्रे सोडून देईन.” बारामती येथील लोकसभेच्या निवडणुकींत काँग्रेसला प्रचंड यश मिळाल्यामुळे विचारांचे व प्रचारांचे लोण घराघरांत जाऊन पोचले. जनतेचे मत बदलले व ते काँग्रेसच्या बाजूला झुकले. भावी महाराष्ट्राच्या कल्याणाच्या दृष्टीने विरोधी

पक्षातील बरेचसे आमदार एकामागून एक काँग्रेस पक्षात आले. यशवंतराव निर्घात झाले. यानंतर राज्याच्या नामाभिधानाचा प्रश्न समोर आला. राज्यविकासनाचा प्रश्न चर्चिला जाताना राज्याला कोणते नांव द्यावयाचें याला यशवंतरावांनी प्राधान्य दिलें नाहीं. मधून मधून त्यांना जे विचारांत त्यांना ते सांगत, “त्यांत काय आहे? आपण सारे बसून साऱ्यांच्या विचाराने नांव ठरवूं!” ते योग्य प्रसंगाची वाट पाहत होते. अमुकच नांव द्यावें म्हणून आमदारांत मतभेद होता जरूर! ‘मुंबई राज्य’, ‘महाराष्ट्र राज्य’, ‘मुंबई-महाराष्ट्र राज्य’ अशीं तीन नांवें चर्चेत होती. काँग्रेस पक्षातील निरनिराळ्या मंडळींशीं, एवढेंच नव्हे, तर विरोधी पक्षांच्या मंडळींशींही अलग विचारविनिमय करून शेवटीं ‘महाराष्ट्र राज्य’ हेंच नांव यशवंतरावांनी पसंत केलें व मतभेदाला वाव ठेवला नाहीं. यशवंतरावांची काम करण्याची ही खुबी आहे की, ते सर्वांचें शांतपणें एकून घेतील; पण शेवटीं स्वतंत्र बुद्धीने निर्णय घेतील. त्यांचा केवढा दूरदर्शीपणाचा निर्णय होता हा! मद्रास प्रांत होऊन किती तरी वर्षे झालीं, पण आज मद्रास प्रांताच्या ऐवजीं ‘तामिलनाडू’ हें नांव असावें म्हणून तेथे चळवळ सुरू झाली आहे. ‘महाराष्ट्र’च्या ऐवजीं ‘मुंबई’ हें नांव ठेविलें गेलें असतें तर विरोधी पक्षांच्या हातीं काँग्रेसच्या विरुद्ध चळवळीचें रान पेटविण्याकरिता विस्तृत देण्यासारखें झालें असतें.

शासन व काँग्रेससंघटन

यशवंतरावजींच्या प्रयत्नाने व दूरदर्शीपणाने शासनाचे व काँग्रेस संघटनेचे संबंध महाराष्ट्रांत फार चांगले असून त्यांत एकजिनसीपणा येऊं लागला आहे. काँग्रेस संघटनेच्या प्रमुख कामाकरितां आवश्यक तेवढा वेळ ते राखून ठेवतात. परंतु जेव्हां काँग्रेसचे कार्यकर्ते परस्परांतील तंटेबखेडे व मतभेदाचे प्रश्न घेऊन त्यांचेकडे येतात व त्यांचेकडून निर्णयाची अपेक्षा करतात तेव्हां ते दुःखी होतात. तडजोडीने, समन्वयानें आपापसांतील मतभेद मिटावेत अशी त्यांची मनापासून इच्छा असते. असले सलोख्याचें वातावरण निर्माण करणाऱ्यांना त्यांची पुरेपूर मदत असते. या दृष्टीने स्थानिक भानगडीचे प्रश्न स्थानिक मंडळींनीच आपसांत बसून सोडवावेत किंवा तेथेच कोणाच्या मध्यस्थीने सोडवावेत असे त्यांना मनापासून वाटतें. स्थानिक प्रश्नांत किंवा भानगडींत त्यांना कोणीहि ओढूं नये, त्यांचा एक न एक क्षण महत्त्वाचा मानून तो महाराष्ट्र राज्य मजबूत करण्यांत खर्ची व्हावा असें प्रत्येकाने ठरविलें पाहिजे. राज्यपुनर्रचनेच्या चळवळीच्या काळांत काँग्रेस सोडून जाणारे किती तरी कार्यकर्ते काँग्रेसमध्ये परत आले आहेत. यशवंतरावांनी त्यांना दिलासा दिला आहे की, त्यांना मानानें वागविलें जाईल. तरी कांही ठिकाणीं मांडणें होऊं लागलीं आहेत, रस्सीखेंच चालू झाली आहे. पूर्वीच असलेल्या मतभेदांत नवी भर पडली आहे. ही जागा त्यांना कां? जुन्यांचा असा अनादर कां? आमच्या पक्षां काँग्रेसचें काम कमी करणाऱ्यांना व नव्यांना एवढें प्रोत्साहन कां? आमच्या काँग्रेसनिष्ठेचें हेंच बंधीस काय? यशवंतरावांवर आमचा पूर्ण विश्वास आहे, पण अमकी-तमकी माणसें आम्हांला कमी लेखण्याच्या खटपटींत असतांना यशवंतराव त्यांना कां आवरीत नाहीत? आमच्यावरील त्यांचें प्रेम कमी होत आहे

असें आम्ही समजावें काय? अशा प्रकारचीं गा-हाणीं घेऊन ही मंडळी माझ्याकडे येऊन म्हणतात की, “तुम्ही हें सारें यशवंतरावांना समजावून सांगा व आम्हांला साहाय्य करा”; तेव्हा मी त्यांना म्हणतो, “माझ्याकडून हें काम होणार नाहीं. कोणत्याहि व कसल्याहि प्रकारच्या मांडणाचा प्रश्न यशवंतरावांसमोर नेऊन त्यांना धास द्यावयाचा नाहीं हें धोरण मी ठरविलें आहे. त्यांनी आपणहून विचारल्यास मला माहीत असलेली परिस्थिति त्यांना सांगेन व ते जें विचारांतीं ठरवितील त्यालाच मी पाठिंबा देईन.” अशा प्रसंगीं मी म्हणत असतो, “आपला यशवंतरावांवर पूर्ण विश्वास आहे ना? मग त्यांना भेटून अथवा लेखी निवेदन पाठवून ते सांगतील त्याप्रमाणें, जरी आपल्या इच्छेविरुद्ध असलें तरी, वागत चला! एकीकडे त्यांच्यावर विश्वास आहे म्हणून म्हणावें आणि दुसरीकडे राग-आवेशांना बळी जाऊन स्वतःच्या मताप्रमाणें धोरण आंलावें व स्वतःला आणि यशवंतरावांना अडचणींत, धर्मसंकटांत टाकावें, हें सुसंगत ठरणार नाहीं. यशवंतराव सर्व दृष्टीने, सर्व बाजूने विचार करूनच एखाद्या प्रश्नाचे बाबतींत निर्णयाला येतात. आपण एकाच दृष्टीनें एखाद्या प्रश्नाकडे पाहत असतो आणि आपलें मत बनवीत असतो आणि मग यशवंतरावांची चूक झाली असें म्हणतो. ज्याप्रमाणे आंधळ्या माणसाच्या हाताला हत्तीची सोंड लागली म्हणजे हत्ती सोंडे-सारखाच आहे असें तो म्हणूं लागतो; पण डोळस माणसाला हत्तीचें खरें स्वरूप सांगतां येतें, तद्वत् यशवंतराव डोळसपणें व साधक बाधक रीतीनें विचार करून एखाद्या प्रश्नाचा निकाल लावतात. संघटन यंत्राचा एखादा खिळा बेकाम अथवा बाजूला सरकूं नये याबद्दल यशवंतराव सदा दक्ष असतात.”

फड नासोचि नेदावा। पडिला प्रसंग सोडवावा।

अतिवाद न करावा। कोणी एकासी ॥

या समर्थोक्तिनुसार संघटन शाबूत ठेवण्याच्या दृष्टीनें अतिवाद न करतां त्यांच्यासमोर आलेल्या वादग्रस्त प्रश्नांचा ते निकाल देतात.

अशा वेळीं शिस्तीकरिता व नियमांचें पालन व्हावें म्हणून कांही प्रसंगीं जुन्या व चांगले काम करणाऱ्या कार्यकर्त्यांना त्यांच्या चुकीबद्दल यशवंतरावांना पाठीशीं घालतां येत नाहीं. कर्तव्य म्हणून त्यांना कर्तव्य-कठोर व्हावें लागतें. अशा वेळीं त्यांच्या हृदयाला वेदना होतात व त्यांच्या तोंडून असे उद्गार निघतांना मी ऐकले आहे की, “मी काय करूं? ह्या कार्यकर्त्यांनी, माझ्या मित्रांनी मला माझ्या संकटकाळीं फार मदत केलेली आहे. त्यांचें ऋण मी कधीहि विसरणार नाहीं; पण मला माझें कर्तव्य केलेच पाहिजे.” या त्यांच्या उद्गारांवरून त्यांच्या हृदयांत सहकारी कार्यकर्त्यांबद्दल असणाऱ्या सहानुभूतिपूर्ण नाजूक व कोमल भावनांची ओळख होते. एखाद्या वेळीं कार्यकर्त्यांच्या मनासारखें कांही काम होऊं शकलें नाहीं तरी त्याला ते विसरत नाहींत. पुनः प्रसंग आल्यावर त्यांच्या सेवेचें चीज केल्यावांचून ते राहत नाहींत.

कोणत्याहि सरकारी अथवा निमसरकारी संस्थेवर सरकारतर्फे सदस्य-नियुक्तीचा प्रसंग आला की त्यांचेसमोर पंच निर्माण होतो. सारे बरोबरीचे काम करणारे कार्यकर्ते! कोणाला त्यांतून घ्यावें आणि कोणाला घेऊं नये? ज्या कोणा एका-दोघांना घेतलें की बाकीच्यांची नाराजी

व्हावयाची. अशा वेळीं त्यांचे तोंडून असे उद्गार निघतात की, "असले प्रसंग मनाला ताप देणारे असतात. सर्वांची सोय मला करतां आली असती तर किती बरे झाले असते! काय करूं? जागा थोड्या, उमेदवार जास्त! उपाय नाही!" यावरून त्यांचे ठाम मत झाले आहे की, कोणत्याही सरकारी, निमसरकारी वगैरे संस्थांवर सरकारतर्फे सदस्यांना पाठवावयाची नामजद—नॉमिनेट—प्रथा राहू नये. नागपूरच्या अधिवेशनांत पास झालेल्या "सहकारी कायद्यांत" सहकारी संस्थेमध्ये नॉमिनेशनची प्रथा त्यांनी बंद करविली. राज्य-सत्ता विकेंद्रीकरण योजनेला जेव्हा कायद्याचे स्वरूप येईल त्यावेळीं सरकारतर्फे स्थापिलेलीं जिल्हा विकास मंडळे वगैरेसारख्या संस्थांचे अस्तित्व यशवंतराव राहू देणार नाहीत. असें झाल्यास जिल्ह्यांतील साऱ्या संस्था निवडणुकीने-लोकशाही पद्धतीने निर्माण झालेल्या दिसतील. नॉमिनेशनची ही प्रथा बंद झाल्यावर कार्यकर्त्यांमधील असंतोषाचे एक प्रमुख कारण नाहीसे होईल.

मार्गदर्शक घटना

अल्पावधीत काँग्रेस तिकिटार लढविण्यांत येणाऱ्या निवडणुकींचे प्रसंग येतील. काँग्रेसच्या कार्यकर्त्यांनी या बाबतीत निश्चित असे धोरण व विश्वास ठरविली पाहिजे. 'या संस्थेत मी कां आहे? कोणत्या कामाबद्दल मला आकर्षण आहे? जनसेवेचे कोणते कार्य माझ्या आवडीचे आहे?' वगैरे बाबतीत त्यांनी आपला निर्णय घेतला पाहिजे. काँग्रेसचे तिकीट मागणारे अनेक राहतील. नव्या-जुन्यांचा, त्यांच्या कार्याचा सर्व दृष्टीने विचार करून प्रदेश काँग्रेसमध्ये व मुख्य मंत्री या बाबतीत अखेरचा निर्णय घेतील. त्यानंतर ज्यांना तिकीट मिळाले नाही त्यांनी काँग्रेसच्या अधिकृत उमेदवाराला खुल्या दिलाने मदत करून काँग्रेसची प्रतिष्ठा वाढविली पाहिजे. नाही तर, 'बरे झाल्याचे अवघे सांगाती' असे त्यांचे रूप प्रकट होईल.

या बाबतीत यशवंतरावांच्या राजकीय जीवनांतील एक घटना सर्वांना मार्गदर्शक अशी आहे. ते वयाने २३-२४ वर्षांचे असतांनाच त्यांच्यात काँग्रेसप्रेम आणि शिस्त यांचे बीज किती रुजले होते हे स्पष्ट होते. त्या सुमारास कऱ्हाड म्युनिसिपालिटीची निवडणूक झाली. यशवंतरावांचे प्रिय बंधु गणपतराव हे काँग्रेसच्या विरुद्ध उभे होते. पण भावाच्या प्रेमाचा मोह बाजूला सारून यशवंतरावांनी त्यांचे विरुद्ध प्रचार केला आणि त्यांचा पराभव करवला. ते स्वतः या निवडणुकीत उमेदवार नव्हते. तो आमदार व मंत्रिपद मिळविण्याचा काळ नव्हता. यशवंतरावांनी मग हे धाडसाचे काम कशाकरिता केले? केवळ काँग्रेसच्या शुद्ध प्रेमाकरिता व काँग्रेसची निष्ठा व्यक्त करण्याकरिता! यशवंतरावांचे हे उदाहरण काँग्रेसच्या क्षेत्रात काम करणाऱ्या सर्व जुन्या व नव्या कार्यकर्त्यांनी आपल्या हृदयांत कोरून ठेवावयाला पाहिजे. ही त्यांची सुरुवातीच्या राजकीय जीवनांतील काँग्रेसनिष्ठा राज्यपुनर्रचनेच्या पळवळींतील आणीबाणीच्या प्रसंगां कामी आली. या दोन महत्त्वाच्या घटनांमुळे— "हीरा ठेवितां घेणी। वाचे मारितां जो घणी। मोल पावे सरा। करणीचा होय घुरा॥" या तुकोबांच्या वचनानुसार काँग्रेसच्या राजकारणात ते ताबून, मुलाखून निघाले व त्यांचे तेज फाकले. आजचे

हे मुख्य मंत्रिपद व काँग्रेसभेटींतील स्थान त्यांच्या निष्कलंक काँग्रेसप्रेमांमुळे त्यांच्याकडे चालत आले आहे. शिस्तीचे जीवन करे मूलिक असते आणि त्याला किती भेष्टत्व प्राप्त होते, हे यावरून स्पष्ट होते.

महाराष्ट्र राज्य स्थिर व सुदृढ राहण्याच्या दृष्टीने काँग्रेस पक्ष नेहमी मजबूत, संघटित असावयाला पाहिजे. पुढले वर्ष आम निवडणुकीचे आहे. काँग्रेसमध्ये शिस्तबद्धता, एकसूत्रीपणा राहणे अत्यावश्यक आहे. ही परिस्थिति निर्माण करणे काँग्रेस कार्यकर्त्यांच्या हातांत आहे. एकटे यशवंतराव या बाबतीत कांही करू शकणार नाहीत. जे अत्यंत अवघड होते ते म्हणजे विभागीय काँग्रेस कमिठ्यांचे विसर्जन करून एकमेव अशा महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेस कमिटीची निर्मिती करणे व डॉ. खेडकरां-सारख्या अनुभवी, कसलेल्या पुढाऱ्याने पार्लमेंटच्या सदस्यत्वाचा त्याग करून महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेस कमिटीचे अध्यक्षपद स्वीकारणे. ही एवढी मोठी कामगिरी यशवंतरावांशिवाय कोणाला करतां आली असती? दुसऱ्या कोणालाहि हे साभले नसते. यशवंतरावांना या कामगिरीबद्दल द्यावयाचे योग्य बक्षीस तेंच राहू शकेल की, काँग्रेस कार्यकर्त्यांनी काँग्रेस संस्थेमध्ये एकजूट ठेवण्याची पराकाष्ठा करणे. असे घडल्यास यशवंतरावांचा मानसिक ताण कमी होईल व त्यांच्या इतर महत्त्वाच्या अंगीकृत कार्यांत फार मदत केल्यासारखे होईल. श्री. एस. एम. जोशी मुंबईला एका भाषणांत म्हणाले होते की, "ज्या टोपळीत खेकडे घालून ठेवलेले असतात त्या टोपळीवर झांकण ठेवण्याची आवश्यकता नसते. कारण एखादा खेकडा बाहेर जाऊ लागला की लोच दुसरा खेकडा त्याचे पाय मागे ओढतो. अशी वृत्ति कांही महाराष्ट्रीयानांची आजवर राहिली आहे. त्या वृत्तीचा मावी महाराष्ट्राच्या हिताच्या दृष्टीने त्याग करावयास पाहिजे." हे उद्गार आजच्या महाराष्ट्राच्या परिस्थितीत सर्वांनी ध्यानी घेतले पाहिजेत. कारण पुढील १० वर्षे महाराष्ट्राच्या हिताच्या दृष्टीने फार महत्त्वाची आहेत. या अवधीत यशवंतरावांच्या नेतृत्वाखाली महाराष्ट्र आपल्या समाजवादी समाजरचनेच्या ध्येयाची बरीच मोठी मजल गाठल्यावांचून राहणार नाही. त्यांचे हात मजबूत करणे सर्वांचे कर्तव्य आहे. त्यांच्यावर नितांत विश्वास टाकल्याने महाराष्ट्राचे मलेच मले होणार आहे, अशी माझी खात्री आहे.

फेब्रुवारी महिन्यांत श्रीवर्धनजवळच्या जसवली गावी जाहीर सभेत बोलतांना मी म्हटले की, "जर मजजवळ कोणी असे सांगू लागला की यशवंतरावांच्या हातून महाराष्ट्राचे कधीहि मले होणार नाही, ते महाराष्ट्राला खड्ड्यांत टाकल्यावांचून राहणार नाहीत, तर मी त्याला ठासून सांगेन की, यशवंतरावांच्या हातून असे कधीहि होणार नाही. आणि क्षणभर वाईट होईल हे गृहीत धरले तरी मी त्यांच्यावर विश्वास त्यांच्याबरोबर खड्ड्यांतहि जावयाला तयार होईन." एवढा दांडगा विश्वास प्रत्येकाने त्यांचेवर टाकला तरच वैभवशाली महाराष्ट्राचे स्वप्न त्यांचेकडून साकार होऊ शकेल.

"पंडित पंताना पाहतांच लोकमान्य टिळकांची मला आठवण होत असे," असे उद्गार यशवंतरावांनी ता. ९ मार्च रोजी पं. पंत यांना चौपाटीवरील सभेत अर्धाजलि अर्पण करताना काढले. केवढी ही द्या

दोनहि महापुरुषांबद्दल त्यांची श्रद्धा ! छत्रपति श्री शिवाजीमहाराज, लोकमान्य टिळक, महात्मा गांधी व पंतप्रधान नेहरू यांच्या आशीर्वादाने यशवंतरावांच्या हातून महाराष्ट्र सर्वतोपरी उन्नत व सुखी झाल्यावाचून राहणार नाही.

गेल्या ४॥ वर्षांपासून मी त्यांच्या सहवासांत आहे. मला त्यांचे जे अनुभव आले ते मी वाचकांसमोर यथाशक्ति ठेविले आहेत. मला राष्ट्रीय कार्याची प्रेरणा देणारे लोकमान्य टिळक होत. ते १९१७ साली चांचाल, माझ्या जन्मगावी, आले होते. तेव्हापासून तो आजतागायत

महाराष्ट्राच्या राष्ट्रीय क्षेत्रांतील उलाढालींचा इतिहास माझ्या नजरे-समोर होता. म्हणून यशवंतरावांचें राजकीय जीवन मला चांगलें पारखतां आलें व त्यावर माझ्या अनुभवाचे शिके लावतां आले.

अवास्तव स्तुति करणें गैर असतें. परंतु प्रस्तुत लेखांत मी जे दोन स्तुतिपर शब्द लिहिले आहेत ते वस्तुस्थितीला धरून आहेत, असेंच मला वाटतें.

त्यांच्या जन्मदिनाच्या निमित्ताने हा लेख पुरा करतांना परमेश्वराला प्रार्थना करतो की, ते शतायुषी होवोत.



“नव्या महाराष्ट्र राज्यांत आपल्याला भरभराटीचे व सुखाचे दिवस येतील ही सामान्य जनतेची अपेक्षा योग्य अशीच आहे. हा जनतेच्या अपेक्षापूर्तीचा क्षण जवळ आणणें हा महाराष्ट्र राज्याचा मी मानबिंदु मानतो. त्याचबरोबर नव्या राज्यांत शासनाच्या द्वारे लोकांची अधिक कार्यक्षम रीतीने सेवा घडेल अशा प्रकारें शासन यंत्रणेची पुनर्घटना व सुधारणा करण्यासहि आताच चालना मिळाली पाहिजे.”

*

*

*

“१९४८ साली गांधीवधानंतर महाराष्ट्रांत जाळपोळीच्या रूपाने घडलेल्या सामाजिक चुकीचे परिमार्जन करण्याच्या हेतूने, तत्कालीन जळीतपीडितांचीं कर्जे मी, महाराष्ट्र राज्य स्थापनेच्या सुहूर्तावर, माफ केलीं आहेत. मराठी समाजांतील सर्व थर एकत्र आले म्हणजे अटकेपार झेंडा लागतो, ही इतिहासाची साक्ष मला माहित आहे.”

(सांगली येथें दि. १६ मे रोजीं जळीतपीडितांनी केलेल्या सत्काराला उत्तर देतांना.)



गेल्या शतकाचा कारणा



तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी

नवी परिस्थिति वा विरुद्ध परिस्थिति उपस्थित होते आणि त्या परिस्थितीचें आम्हां मनुष्य स्वीकारतो तेव्हा इतिहासांत बदल होत असतो. परंपरेचें सातत्य ही जशी प्रगतीची शक्ति आहे तशी ती प्रगतीचा अडथळाहि आहे. भारतीय इतिहासांत नवें संक्रमण व प्रगतिमय स्थित्यंतर हजारों वर्षांनंतर ब्रिटिशांच्या राज्यांतच घडून आलें. गेल्या दीडशे वर्षांच्या ब्रिटिश रियासतीच्या काळांत हिंदी जीवनांत ज्या प्रकारचें प्रगतिमय स्थित्यंतर घडून आलें, त्या प्रकारचें स्थित्यंतर हिंदी इतिहासांत हजारों वर्षांत घडलें नाही आणि इतक्या अल्पावधीत तर मुळीच कधी घडलें नाही. या स्थित्यंतराने भारतीय संस्कृतीच्या प्रवाहाची दिशाच बदलून टाकली. ब्रिटिशपूर्व काळाचा भारतीय इतिहास पाहिला तर असें दिसतें की, ऐतिहासिक परिणतिक्रम एक प्रकारें मंदावला होता. एवढेंच नव्हे तर त्यांत अगतिकता निर्माण झाली होती. एकंदरीत आशिया खंडाचाच इतिहास असा दिसतो की, त्यांत युरोपच्या ऐतिहासिक परिणतिक्रमाचे एकामागून एक प्रकट होणारे व्यवस्थित टप्पे सापडत नाहीत. ऐतिहासिक विकासक्रम ही कल्पना आशियाच्या व हिंदुस्थानच्या इतिहासशास्त्राशी जुळत नाही.

दोन संस्कृतींचा संघर्ष व संगम

हें जरी खरें मानलें तरी ब्रिटिश राज्यस्थापनेमुळे पाश्चात्य संस्कृतीचा निकट संपर्क निर्माण झाला. अत्यंत प्राचीन अशा भारतीय संस्कृतीशीं अत्यंत आधुनिक व अत्यंत प्रगत अशा पाश्चात्य संस्कृतीचा संघर्ष होऊं लागला व या संघर्षांतच या उभयतांचा संगमहि सुरू झाला. त्यामुळे पाश्चात्य संस्कृतीतील अमोल वारसाहि भारताला प्राप्त होऊं लागला. त्यामुळे पाश्चात्य संस्कृतीला प्रगति करीत असतां जो शक्तीचा वा कालाचा व्यय करावा लागला, संकटें सोसावीं लागलीं, त्या व्ययावाचून व संकटांवाचूनच एका वैभवशाली संस्कृतीची मूल्यसंपदा भारताच्या हातीं लागली. यामुळे या स्थित्यंतराचे परिणाम सामाजिक व वैयक्तिक



हिंदी जीवनाच्या सर्व अंगांवर घडून येऊं लागले. सर्वांगीण जीवन-संक्रमण झाले. या संक्रमणाचा व्याप व व्यास सर्वगामी होता.

संपूर्ण बदललेला बाह्य जीवनक्रम आणि मानसिक मूल्यांतील क्रांति या दोन्ही गोष्टी समाजाच्या सर्वांगीण स्थित्यंतरास समुच्चयाने कारणीभूत होतात. इंग्रजी राज्यामुळे या दोन्ही गोष्टी घडल्या. भौतिक, यांत्रिक सुधारणा आल्या; नवीन पद्धतीचे आर्थिक व्यवहार व जागतिक व्यापार सुरू झाला; नवे संघटित राज्यंत्र उभारले गेले, उदारमतवादी न्यायासन निर्माण झाले, सर्व नागरिकांना समान दर्जा देणारी शिक्षणसंस्था जन्माला आली, आधुनिक पद्धतीच्या वैयक्तिक स्वातंत्र्याला महत्त्व देणारा, सर्व धर्मीयांना समान लेखणारा कायदा निर्माण झाला, विचारविनिमयाची वृत्तपत्रादि प्रमावी साधने उत्पन्न झाली.

पाश्चात्य संस्कृति आणि भारतीय संस्कृति या मानसिकदृष्ट्या जणू काय आकाशस्थ भिन्न ताऱ्यांवर घसणाऱ्या संस्कृतीप्रमाणे एकमेकीपासून दूर होत्या. या उभय संस्कृतींच्या संघर्षाने व संगमाने भारतीयांच्या संस्कृति-मूल्यांत परिवर्तन घडले. नव्या शिक्षणाचा लाभ झाल्याबरोबर येथील शिक्षितांचीं मने एकदम विशुत्संचार होऊन यंत्र धराऊं लागवें त्याप्रमाणें नवविचारांनी धराऊं लागलीं. जीवनाकडे पाहण्याचा दृष्टिकोन त्यामुळे बदलून गेला. बुद्धीचें व विचाराचें अगदी नवें असें अधिष्ठान प्राप्त झालें. जीवनाचा अर्थ करण्याची रीतीच बदलून गेली. त्यामुळे सामाजिक व धार्मिक स्थित्यंतरास प्रारंभ झाला. हिंदी समाजाला घुसवून टाकणारी जीं अनेक सामर्थ्ये इंग्रजी राज्यामुळे उत्पन्न झालीं त्यांपैकी इंग्रजी विद्येचें शिक्षण हें एक महत्त्वाचें सामर्थ्य गणलें पाहिजे. सामाजिक, धार्मिक व राजकीय सुधारणा व्हावयास रुढि तोडावी लागते व कायद्याचा विरोध नष्ट व्हावा लागतो. एवढेंच नव्हे तर राज्यसंस्थेचा कायद्याच्या द्वारे पाठिंबा मिळावा लागतो. इंग्रजी शिक्षणामुळे रूढीचें मानसिक बंधन शिथिल झालें; आणि इंग्रजी राज्याची मूळची उदारमतवादी परंपरा असल्यामुळे सुधारणाप्रवण कायदे निर्माण करण्यास अनुकूल वातावरण उत्पन्न झालें. जमातीच्या जापांतून व्यक्तीला मुक्त करण्याचें कार्य इंग्रजी कायद्याच्या व न्यायालयाच्या संस्थेने केले. समाजसुधारणेच्या प्रवृत्तींना त्यामुळे मोकळीक मिळाली. जातीच्या सामाजिक बहिष्काराच्या शस्त्राची धार बोटत होत जाऊन शेवटीं तें शस्त्र पूर्ण गंजून पडलें—आणि आचार-विचार-स्वातंत्र्याचें नवीन युग हिंदी समाजांत प्रादुर्भूत झालें. धर्म-सुधारकांची आणि समाजसुधारकांची एक देशव्यापी चळवळ हळूहळू निर्माण होऊं लागली. समा, परिषदा, संस्था, वृत्तपत्रे यांच्या द्वारे ती प्रसरण पावूं लागली.

नवीं धार्मिक, सामाजिक व राजकीय आन्दोलनें

धर्म, समाज व राज्य या तिन्ही क्षेत्रांत व विषयांत नवा विचार व मूळगामी समीक्षण सुरू होऊन या संस्थांमध्ये संपूर्ण परिवर्तन घडवून आणणारी तीन महत्त्वाचीं आंदोलनें या देशांत गेल्या दीडशें वर्षांच्या कालावधीत निर्माण झालीं. पहिला नवयुगधर्माचा स्थापक राजा राम मोहन रॉय होय. राजा राममोहन रॉय यांना समाजसुधारणा आणि धर्म-सुधारणा यांचा संबंध अविभाज्य होय, या सिद्धांताचें दर्शन झालें. धर्मदृष्टि बदलल्याशिवाय सामाजिक बंधनें नष्ट करण्याचें मानसिक सामर्थ्य

लाभत नसतें. कारण, हीन प्रकारच्या धार्मिक अंधश्रद्धेनेच सामाजिक रूढि बळकट केलेली असते. धार्मिक अंधश्रद्धेचें पोषण धार्मिक पोष्या करित असतात. राजा राममोहन रॉय यांनी ग्रंथप्रामाण्यावर आघात केला. ग्रंथप्रामाण्यावर आधारलेल्या जुन्या सर्व धर्मसंस्था प्रत्येक समाजास दुसऱ्या समाजापासून मानसिक दृष्ट्या अलग करतात. त्यामुळे मानवी सहकार्य व बंधुभाव यांची वाढ होत नाही. राजा राममोहन रॉय यांना भावी व्यापक जागतिक मानव संस्कृतीचें विशाल स्वप्न दिसलें. याकरिता त्यांनी सर्व मानवांच्या विवेकबुद्धीवर अधिष्ठित झालेला एक धर्म स्थापन व्हावयास पाहिजे असा विचार घोषित केला. भिन्न धर्मग्रंथाचें प्रामाण्य व विरुद्ध विरुद्ध रूढि यांच्यावर आधारलेले धर्म मागे पडले पाहिजेत, असा व्यापक संदेश त्यांनी दिला. या व्यापक संदेशाचा प्रभाव महाराष्ट्रा-घरहि पडला. महाराष्ट्रांत या व्यापक संदेशाची प्रेरक शक्ति परावर्तित होऊन पोचली.

ब्राह्म-प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज व सत्यशोधक समाज

मुंबई शहरांत इंग्रजी सुशिक्षितांची जी पहिली पिढी तयार झाली तिच्यावर राजा राममोहन यांच्या विचारांचे पडसाद उमटले. विष्णु-शास्त्री पंडित, लोकहितवादी, नाना शंकरशेट, वेदरामजी मलबारी, वि. ना. मंडलिक, भाऊ दाजी लाड, भगवानदास पुढोत्तमदास, कावसजी जहांगिर, मंगळदास नथुभाई आदि महाराष्ट्र व गुजरात येथील सामाजिक सुधारणेचे प्रवर्तक झाले. त्यांच्यामधूनच अधिक प्रमावी अशा दोन व्यक्ति म्हणजे न्या. महादेव गोविंद रानडे, डॉ. रा. गो. भांडारकर पुढे आल्या. हिंदु समाजातील कुटुंबसंस्था बदलानी, स्त्री स्वतंत्र व्हावी, जातिभेद नष्ट व्हावा, मूर्तिपूजेच्या कर्माकांडाचें बंड मोडावें, सर्व धर्मांच्या लोकांत बंधुभाव यावा अशी आतुरता या धार्मिक व सामाजिक चळवळीच्या मुळाशी होती. बंगालमध्ये ब्राह्मो समाज व मुंबईत प्रार्थनासमाज या रूपाने या धर्मसुधारकांच्या व समाजसुधारकांच्या संघटना अस्तित्वांत आल्या.

ब्राह्मसमाज व प्रार्थनासमाज यांच्यापेक्षा विचाराने संकुचित परंतु हिंदु समाजाच्या सुधारणेच्या दृष्टीने अधिक कार्यक्षम आणि परिणामकारक चळवळ पंजाबमध्ये उत्पन्न झाली. ती म्हणजे आर्यसमाजाची. आर्यसमाजाचे प्रस्थापक स्वामी दयानंद यांचा जन्म सौराष्ट्रांत झाला. गेल्या शतकांत गुजरातमधून भारताला अत्यंत धोर अशा दोन विभूतींची देणगी मिळाली, असें इतिहासास म्हणावें लागेल. त्या दोन विभूति म्हणजे स्वामी दयानंद व महात्मा गांधी होत. स्वामी दयानंदांचें कार्यक्षेत्र गुजरात न राहतां पंजाब बनलें. एकेश्वरवाद हें आर्यसमाज व ब्राह्मसमाज यांचें समान लक्षण होय. परंतु ब्राह्मसमाज हृदयाचें म्हणजे विवेकबुद्धीचें प्रामाण्य मान्य करतो व धर्मग्रंथास दुय्यम स्थान देतो. आर्यसमाज आपला पवित्र धर्मग्रंथ वेद होय असें मानतो. बाकीच्या सामाजिक सुधारणा दोन्ही पंथांस सारख्याच मान्य आहेत. आर्यसमाजास जातिभेद अमान्य आहे. आर्यसमाज ही हजारों वर्षांतली पहिलीच जोरदार व आक्रमक अशी हिंदुधर्माची संस्था होय.

ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज आणि बुद्धिवादी समाजसुधारकांचा पंथ या सर्वोच्चापेक्षा भिन्न धार्मिक व सामाजिक क्रांतीची चळवळ

महाराष्ट्रातील मागासलेल्या जमातीत उत्पन्न झाली. या चळवळीचे मूळ प्रवर्तक ज्योतिबा फुले होत. ज्योतिबा फुले यांनी सत्यशोधक समाजाची स्थापना १८७३ साली पुणे शहराी केली. हिंदु धर्माच्या परंपरेवर बौद्धिक आक्रमण करणारी ही चळवळ होती. सामाजिक विषमता व त्या विषमतेने निर्माण केलेले बहुजनसमाजाचे पतन यांचे आविष्करण या चळवळीने केले. सामाजिक अन्यायाच्या विरुद्ध उठाव करणारी भारतातील ही पहिली चळवळ होय. सामाजिक जन्मसिद्ध उच्च-नीचतेच्या रूढीवर लोकहितवादी, आगरकर यांच्यासारखे अनेक सुधारक टीका करित होते. परंतु ज्यांच्यावर युगानुयुगे अन्याय झाला त्यांचा उठाव त्या टीकेने केला नाही. असा उठाव ज्योतिबा फुले व त्यांच्या पाठीमागून निर्माण झालेली सत्यशोधक समाजाच्या नेत्यांची परंपरा यांनी निर्माण करून सतत कायम ठेवला. सत्यशोधक समाजामुळे हिंदी समाजातील मागासलेल्या खालच्या थरातील माणसांना आत्मज्ञान व आत्मविश्वास प्राप्त झाला. मागासलेल्या खालच्या थरांना आपल्या प्रगतीची आशा उत्पन्न झाली. या थरांमध्ये या चळवळीमुळे मानसिक अस्वस्थता आणि उद्यानाची तळमळ निर्माण झाली. ज्योतिबा फुले यांनी अस्पृश्य व स्पृश्य यांना एकत्र शिकविण्याची पाठशाळा स्थापून अस्पृश्यतानिवारणाच्या चळवळीचा प्रारंभ १८५२ साली केला. हा भारतातल पहिला अस्पृश्यता-निवारक सुधारक होय. सत्यशोधक चळवळीला ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर असे जातीय झगड्यांचे प्रतिगामी व अराष्ट्रीय रूप येऊन त्यांत संकुचित मनोवृत्तीची बीजे उत्पन्न झाली, हे जरी खरे असले तरी सामाजिक समतेच्या ध्येयवादाची पूर्वतयारी या नात्याने या चळवळीने मनोभूमिका तयार केली.

गांधींचे राष्ट्रवापी आंदोलन

ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, सत्यशोधक समाज इत्यादि संघटना मूलगामी व सामाजिक परिवर्तन करणारा विचार देऊन आता मागे पडल्या आहेत. ते केवळ लहानसे संकुचित मुमुर्षु गट याच रूपाने आज दिसत आहेत. आजच नव्हे तर गेली चाळीस वर्षे त्यांना ही अशी अवदशा प्राप्त झाली आहे. परंतु या संघटनांनी ज्या धार्मिक व सामाजिक आंदोलनांची मुहूर्तमेढ रोवली ती आंदोलने व्यापक स्वरूपांत फलित झाल्यासारखी किंवा निदान प्रगत व परिणत झाल्यासारखी दिसत आहेत. गेल्या शतकांत निर्माण झालेल्या संघटनांपैकी एकच व्यापक संघटना टिकाव धरून अधिक परिणामकारक स्वरूपांत या देशांत प्रचंड रूपाने विस्तार पावलेली दिसत आहे. ती म्हणजे अखिल भारतीय राजकीय संघटना (काँग्रेस) होय. धार्मिक व सामाजिक चळवळींना संकुचित संस्थारूप गटांच्या चौकटीबाहेर आणण्याचे कार्य गांधीयुगापासून सुरू झाले. धैर्यशाली धर्मसुधारकांचा व समाजसुधारकांचा शूर नेता या दृष्टीने महात्मा गांधीकडे पाहिल्यास त्यांचे नेतृत्व अधिक उठावदारपणे डोळ्यांत भरते. गांधींच्या नेतृत्वाखाली गेल्या शतकातील सुधारकांचे महत्त्वाचे कार्य उत्कर्षाची परिसीमा गाठीत असलेले दिसते. स्त्रियांच्या समानतेचा ध्यास फुले यांच्यापासून कसे यांच्यापर्यंतच्या सुधारकांनी घेतला होता. स्त्रियांच्याविषयी गांधींची कर्तबगारी गेल्या शतकातील सुधारकांच्या स्वर्गवासी आत्म्यांस मोक्षाचा आनंद दिल्याशिवाय राहणार नाही. म. गांधींनी शेकडो स्त्रियांना समाज

कारण व राजकारण यांत महत्त्वाचे काम दिले. त्यामुळे स्त्रियांचे व पुरुषांचे समानत्वाचे नाते स्थापित झाले.

राजकीय व सामाजिक आंदोलनांचा सांघा

गेल्या शतकातील राजकीय स्वातंत्र्याची चळवळ टिळकयुगांत सामाजिक व धार्मिक सुधारणेच्या चळवळीपासून विलग पडली होती. लो. टिळकांनी त्यांच्यांतला संबंध छेदून टाकला होता. महादेव गोविंद रानडे व तत्कालीन अन्य राजकीय नेते यांनी राजकीय आंदोलन व सामाजिक आंदोलन यांचा सांघा निर्माण केला होता; तो लोकमान्य टिळक यांनी तोडून टाकला. न्या. रानडे यांच्या सामाजिक परिपदेचा मंडप ज्या दिवशी टिळकांच्या अनुयायांनी जाळला त्याच दिवशी या संबंधविच्छेदावर शिकामोर्तब झाले. राजकीय प्रश्नांच्या पोटांत सामाजिक प्रश्न गर्मित असतो व सामाजिक प्रश्नांत राजकीय प्रश्न अंतर्भूत असतो याचे मान टिळकयुगातील राजकीय आंदोलनास राहिले नाही. म. गांधींनी हा तुटलेला संबंध पुन्हा सांघला. एवढेच नव्हे तर हिंदुसमाजाच्या रचनेतील सर्वांत आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टीने पीडित व दलित असा वर्ग कोणता ते दाखवून देऊन त्याच्या उद्धाराची चळवळ हाताशी घेतली. अस्पृश्यतानिवारणाच्या प्रश्नावर १९१८ साली लो. टिळकांनी आपले निश्चित मत लेखी नोंदण्याचे टाळले; परंतु त्याच वेळी म. गांधींनी आपल्या साबरमतीच्या आश्रमांत अस्पृश्य-कन्या स्वतःच्या मुलीप्रमाणे सांभाळली; व अस्पृश्यतेच्या उच्छेदाच्या चळवळीला देशव्यापी स्वरूप आणले. जातिभेदाचे उच्चाटन करण्याकरिता स्वतःच्या आश्रमांत रोटीबेटी व्यवहाराचे सर्व निबंध मोडले. एवढेच नव्हे तर आपल्या पुत्राचा ब्राह्मणकन्येशी विवाह घडवून आणला. हिंदु-मुस्लिम एकतेकरिता त्यांनी आत्मसमर्पण केले. अशा रीतीने राजा राममोहन रॉयपासून तो महात्मा गांधीपर्यंत सामाजिक समतेचा इतिहास उत्कर्षाचा मार्ग आक्रमीत स्वराज्याच्या कालखंडांत प्रविष्ट झाला.

राष्ट्रीयत्वाचे दोन आविष्कार

ब्रिटिश राज्याचा प्रतिकार करण्याची वृत्ति ब्रिटिश राज्य स्थापन झाल्यानंतर क्रिया-प्रतिक्रिया न्यायाने फार थोड्या अवधीत वर डोकें काढू लागली. त्याचे कारण पाश्चात्य शिक्षण हे मुख्य होय. पाश्चात्य सुधारणेचे सामर्थ्य अपरंपार व जबरदस्त आणि ब्रिटिश राज्याची पकड अत्यंत पक्की असतांना त्याची बंधने तोडून बाहेर पडण्यास धीर देणारा प्रभावशाली ध्येयवाद या पाश्चात्य शिक्षणाच्या माध्यमातून येथील मनांत प्रादुर्भूत झाला. राष्ट्रीयत्व किंवा राष्ट्रभिमान हे या ध्येयवादाचे नामाभिधान होय. राष्ट्रीयत्व हा आधुनिक युगाच्या उदयाबरोबर पाश्चात्य देशांत प्रगट झालेली राजकीय निष्ठा होय. ब्रिटिश राज्य हिंदुस्थानांत पक्के बनत असतांना या ध्येयवाद्याला पुरी शंभर वर्षे सुद्धा शाली नव्हती. राष्ट्रवाद हा गेल्या दोनशे वर्षांच्या अवधीतच उद्भवलेला विचार होय. पाश्चात्य संस्कृतीतून आलेला हा विचार एका पाश्चात्य राष्ट्राच्या साम्राज्याचे सामर्थ्य हरण करणारा विचार ठरला. ब्रिटिश साम्राज्याने आपल्याबरोबर आणलेल्या या प्रभावी विचाराच्यामुळेच भारतांत ब्रिटिश साम्राज्यशाही पराभूत झाली, आणि हेच विचारात्मक मागासलेल्या आशियाई व आफ्रिकन भूप्रदेशांत पसरून पाश्चात्य साम्राज्यशाहीचा

अंत करण्यस कारणीभूत झाले आहे. पाश्चात्य साम्रज्याशाही आता या पृथ्वीवरचे अखेरचे क्षण मोजीत पडली आहे.

भारतीय राष्ट्रवादाचे दोन प्रकारचे आविष्कार उत्पन्न झालेले दिसतात. एक निधर्मी किंवा ऐहिक (Secular) व दुसरा आध्यात्मिक राष्ट्रवाद होय. पाश्चात्य संस्कृतीच्या झगझगाटाने दिपलेल्या व ब्रिटिश राज्याचें येथील आगमन ही शुभ दैवी घटनाच जणू काय होय, असें मानणाऱ्या नवशिक्षितांनी ब्रिटिशांच्या उदारमतवादाचें, लोकशाही जीवनपद्धतीचें, वैज्ञानिक किंवा यांत्रिक सुधारणांचें मनःपूर्वक स्वागत केलें. ब्रिटिश राज्यपद्धति हळूहळू सुधारेल, लोकानुकूल व लोकाभिमुख हळूहळू होईल व तिची परिणति भारतीय प्रजातंत्रांत होऊं शकेल, असें तिचें मनोगत आहे, असें समजून ब्रिटिशांच्या मनधरणीचा कार्यक्रम या नवसुशिक्षितांनी अंगिकारला. या नवशिक्षितांचा हा ऐहिक (Secular) राष्ट्रवाद समाजसुधारणेच्या कार्यक्रमाला अधिक महत्त्व देत होता. हिंदी लोकांची समाजपद्धति मध्ययुगीन, मागासलेली आणि लोकशाही राज्यकारभार पेलण्यास असमर्थ असल्यामुळे तिच्यांत बदल होणे आवश्यक आहे, ब्रिटिशांच्या राज्याच्या प्रतिकारापेक्षा आपण आपलेच सुधारलेले बरे, असा अंतर्मुखी दृष्टिकोन बाळगणारा नेमस्त राष्ट्रवाद प्रथम उदभवला. या नेमस्त राष्ट्रवादाचा चालना येथे आलेल्या ब्रिटिश राज्यकर्त्यांतील अनेक उदारधी छूम, वेडरबर्न इत्यादि मंडळींनी दिली. प्रामुख्याने महाराष्ट्रांतील नवशिक्षितांचे अग्रणी, प्रौढ व व्यापक विचारांचे धुरंधर व दूरदर्शी असे न्या. मू. महादेव गोविंद रानडे व त्यांचे मित्र, शिष्य व प्रशिष्य यांनी या नेमस्त राष्ट्रवादाचा अंगिकार व प्रचार केला. ब्रिटिश राज्यच हळूहळू राजकीय सुधारणेच्या संस्था निर्माण करील, त्याकरिता त्याचें मन वळविलें पाहिजे, असा या संप्रदायाचा विचार होता.

राष्ट्रवादाचा प्रखर व प्रतिकारवादी आविष्कार भारतीय अध्यात्मवादी अधिष्ठानावर झाला. पाश्चात्यांची संस्कृति, राज्यपद्धति व विद्या यांचा संपूर्ण महिमा अंगिकारणारा सुशिक्षित मनुष्य एकप्रकारें भारतीय मनाची पराभूत मनोवृत्ति अधिक दृढ करित होता, असें दिसूं लागलें होतें. आम्ही पूर्ण मागासलेलो, उच्च दर्जाच्या राज्यसंस्थेस अपात्र असे लोक आहोंत, अशा विचाराने स्वातंत्र्याची भावना पूर्ण दडपली गेली होती. कोणत्याहि राष्ट्राला दुसऱ्या राष्ट्रावर राज्य करण्याचा नैतिक अधिकार नाही अशा तऱ्हेचा संदेश ग्रहण करण्यास पराभूत मन तयार नसतें. आम्ही भारतीय नालायक आहोंत, अशा प्रकारची प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सूचना नेमस्त राष्ट्रवाद करित होता. या सूचनेने येथील एका सुशिक्षितांच्या गटांत अस्वस्थता निर्माण केली; त्यांचा स्वाभिमान जाग्रत झाला. त्याने मोठ्या धीराने या सनातन राष्ट्राच्या दीर्घ अशा संपूर्ण भूतकाळावर चौफेर नजर टाकली आणि एकदम त्या भूतकाळाचें दिव्यदर्शन घडलें व त्यांतून आश्वासन देणारा दिव्य आदेश बाहेर आला. “नव्हे, नव्हे! आमच्यापार्शीं सर्व मानवजातीला धन्य करणारा आणि भौतिक बंधनांतून मुक्त करणारा असा कांही खोल विचार आहे. भारताकडे मानवजातीला मुक्त करण्याचें असें कांही एक कर्तव्य ईश्वराने सोपविलें आहे.” असें त्या आदेशाचें सार होतें. लोकमान्य टिळक हे या अध्यात्मवादी राष्ट्रवादाची स्थापना करणारे पहिले महापुरुष होत. योगी अरविंद घोष यांनी

लोकमान्यांच्या पासूनच प्रेरणा घेऊन निश्चयाने ज्ञानसमाधि लावली आणि आधुनिक ज्ञानविज्ञानांच्या पलीकडे असलेलें असें दिव्य आध्यात्मिक जीवनाचें दर्शन देण्याचा अधिकार भारतालाच आहे, आमचें हेंच एक अलौकिक वैशिष्ट्य आहे; मानवजातीला तारणारा संदेश आमच्या अध्यात्मवादांत आहे. आम्ही परकीय राज्यांचीं बंधनें तोडलींच पाहिजेत. कारण, आमचें मानवजातीमधील स्थान अत्यंत उच्च आहे, त्याकरितां परकीय राज्याचें बंधन तोडणें हें आमचें दैवी संकेताने ठरलेलें पहिलें कर्तव्य आहे. आध्यात्मिक संस्कृतीची अपार संपदा याच देशांत अनेक युगांच्या पूर्वी निर्माण झाली. त्या संपदेची आठवण बुजली म्हणून आम्ही परतंत्र झालों, विवस्वान मनु, भगवान कृष्ण इत्यादि कर्मयोगी लोकपालांचा भगवद्गीतेमध्ये साररूपाने संग्रहित झालेला असा हा आध्यात्मिक संदेश लोकमान्य टिळक, स्वामी विवेकानंद, रामतीर्थ, योगी अरविंद व महात्मा गांधी यांनी भारताला दिला. टिळक, अरविंद व गांधी हे आध्यात्मिक राष्ट्रवादाचे प्रेषित झाले. या राष्ट्रवादाच्याच अनुसंधानाने लो. टिळकांनी “आधी सामाजिक की आधी राजकीय” या प्रश्नाचा निकाल लावला. आम्ही सामाजिक सुधारणा स्वराज्यानंतर बघून घेऊं; आधी राजकीय बंधमुक्तीच झाली पाहिजे. त्याकरिता राजकारणावरच सर्व शक्ति केंद्रित करावयास पाहिजे, हा विचार प्रभावी झाला.

राजकारणाचे तीन प्रवाह : नेमस्त, सशस्त्र व जनताभिमुख

राष्ट्रीयत्वाच्या या दोन प्रकारच्या आविष्कारांचे परिणाम संमिश्र प्रकारचे होऊन भारतीय राजकारणांत १९०५ च्या सुमाराला तीन प्रवाह अलगपणे स्पष्ट दिसूं लागले. पहिला प्रवाह नेमस्त राष्ट्रवादाचा, दुसरा प्रवाह सनदशीर पण जहाल असा सक्रिय प्रतिकारवादाचा व तिसरा सशस्त्र प्रतिकारवादाचा. नेमस्त राष्ट्रवादी मंडळींनी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेसची १८८५ साली मुंबईस स्थापना करून १८८५ ते १९०५ पर्यंत काँग्रेसचें राजकारण असलेल्या ब्रिटिश राज्याच्या चौकटींत हिंदी लोकांना अधिक महत्त्वाचें स्थान मिळविण्याच्या मागण्यांवर केंद्रित केलें होतें. या मागण्या थोड्याबहुत परंतु फार मंद गतीने मान्य होऊं लागल्या. लोकांचा असंतोष मात्र वाढतच चाल्ल्या. या असंतोषाचे दोन भाग पडले. स्वातंत्र्याच्या ध्येयवादाने भडकलेले, परिणामांची क्षिति न बाळगणारे असे थोडे मूठभर तटण सशस्त्र उठावाचा कट करूं लागले. १९०५ सालीं एका आशियाई राष्ट्राने म्हणजे जपानने शांत महासागराच्या परिसरांत एका पाश्चात्य राष्ट्राचा म्हणजे रशियाचा पराभव केला, या ऐतिहासिक घटनेचा आशियाई राष्ट्रें सुद्धा पाश्चात्यांशीं बरोबरी करूं शकतात व वरचढहि होऊं शकतात, असा अर्थ केला गेला. आशियाई राष्ट्रांच्या अस्मितेला आवाहन दिलें गेलें व त्यामुळे ब्रिटिशांच्या राज्यालाहि थोड्या भारतीयानी शस्त्र उगारून इधारा दिला. कोणत्याहि बुद्धिवादी पद्धतीने वा युक्तिवादाने या दहशतवादी शस्त्रसंप्रदायाचें व्यवहार्य समर्थन होऊं शकत नव्हतें. परंतु एक माणूस काळ्या पाण्यावर गेला किंवा एकाद्या माणसाचें शिर फासावर लटकलें गेलें या एका लहानशा वातेंने सबंध राष्ट्रांची पराभूत झालेली मनोवृत्ति विजयाच्या आशेने मनोबंधनें नष्ट करून आन्धान देण्यास उद्युक्त होऊं लागली. अपरिमित व शस्त्रास्त्रसंभाराने सुसज्ज अशी विश्वव्यापी

साम्राज्यशक्ति ही लहानशा पिस्तुलाच्या आवाजाला कसटासमान लेखते, या युक्तिवादाच्या पलीकडे असलेला असा एक गूढ राष्ट्रीय अस्मितेचा स्फुल्लिंग घगघरूं लागला !

या राष्ट्रीय आस्मितेच्या स्फुल्लिंगाचें रक्षण करणारा महान राष्ट्रीय अध्वर्यु लोकमान्य टिळकांच्या रूपाने आत्मयशाचें आवाहन देत उभा राहिला. लो. टिळकांचें राजकारण वस्तुतः सशस्त्र क्रांतिवादी नव्हतें. त्यांचे विचार क्रम-विकास व सुधारणा यांची मागणी करून राजकारण पुढे नेणारे होते. दादाभाई नौरोजी एकोणिसाव्या शतकाच्या शेवटच्या कालखंडांत ब्रिटिश संसदेमध्ये निवडून आले तेव्हा लोकमान्य टिळकांना वाटलें की, ब्रिटिश संसदेमध्ये भारताचे प्रतिनिधि योग्य प्रमाणांत बसविणें हेंच आपलें राजकीय ध्येय साध्य झालें तरी भारत बंधमुक्त झाला. त्यांनी दादाभाई नवरोजींना भारताचा महान् देशदूत म्हणून गौरविलें. ह्युमसाहेबांना आपल्या स्तुतिस्तोत्रांनी पूजिलें. त्यांना आशा वाटत होती की, भारतहि क्रमाक्रमाने ब्रिटिश लोकशाहीचा सदस्य बनूं शकेल. परंतु १९०५ साल-नंतर जनता जागृत करून, जनतेमध्ये असंतोष भडकवून, तिच्या प्रभावाखालीच स्वराज्य हा जन्मसिद्ध हक्क मिळवितां येईल, असें त्यांना दर्शन घडलें. ब्रिटिशांच्याकडून स्वराज्याचे हक्क हिसकलेच पाहिजेत व ते हिसकण्यास जनतेला उभे केलें पाहिजे, असें जनता-भिमुख राजकारण लो. टिळकांनी प्रथम निर्माण केलें. या राजकारणानेच स्वराज्य या ध्येयाची घोषणा प्रथम केली. या घोषणेचा व तिला अनुकूल असा स्वदेशी, बहिष्कार व राष्ट्रीय शिक्षण अशा त्रिविध कार्य-क्रमाचा अंगीकार करून हें जनताभिमुख राजकारण लो. टिळकांच्या आत्मयज्ञाने देशामध्ये वेगाने पसरलें. या जनताभिमुख राजकारणाचाच अखेरचा विजयी नेता म. गांधींच्या रूपाने १९१७-१८ सालच्या सुमाराला पुढे आला.

संसदीय राजकारणाची जोड

संसदीय लोकशाहीचे प्राथमिक प्रयोग पहिल्या जागतिक महायुद्धानंतर भारतांत सुरू झाले. मोल्ले-मिंटो सुधारणा व मॉटेय्यू-चेम्सफर्ड सुधारणा हे दोन महत्त्वाचे टप्पे भारतांतील संसदीय लोकशाहीच्या विकासाच्या दृष्टीने अध्ययन करण्यासारखे आहेत. या दोन सुधारणांच्या कालखंडा-मध्ये लोकशाही कायद्यांची निर्मिती म्हणजे विधेयकें आणि त्यांची अंमल-बजावणी यांचा प्रत्येक प्रयोग करण्याचें शिक्षण भारतीय लोकप्रतिनिधींना मिळालें. १९२५ ते ३० च्या कालखंडांत संसदीय लोकशाहीला अत्यंत प्रतिभाशाली आणि प्रज्ञावान असे नेते लाभले. दे. म. विठ्ठलभाई पटेल आणि पं. मोतीलाल नेहरू यांनी युरोपियन किंवा ब्रिटिश संसदीय नेत्यांच्या प्रशंसेस पात्र अशी कर्तव्यगारी मध्यवर्ति विधान सभेंत दाल-विली. एका बाजूला गांधींच्या नेतृत्वाखाली एकापाठीमागून एक अशी देशव्यापी जनांदोलने निर्माण होऊं लागली आणि कायदेमंडळांत या आंदोलनांना पाठिंबा देणारे लोकप्रतिनिधि ब्रिटिशांनी निर्माण केलेल्या संकुचित लोकशाही संस्थांना विदारक धक्के देऊं लागले. संसदीय चळवळ व जनतेचें आंदोलन अशा दोन रूपांत स्वराज्याची चळवळ वेगाने प्रगति करूं लागली.

म. गांधींनी एकापाठीमागून दुसरी व तिच्या पाठीमागून तिसरी

अशा जनतेच्या देशव्यापी तीन चळवळी वादळापाठीमागून वादळें यावीं याप्रमाणे निर्मिल्या. गांधी हा वायुदेवच होता. असहकारिता १९२०-२१ सालीं, कायदेभंग १९३०-३२ सालीं आणि चले जाव १९४२ ते ४५ सालीं या अशा तीन चळवळींनी सर्व देश तळापासून मंथन होऊन पूर्ण जागृत व साम्राज्यशाहीचीं सर्व प्रकारचीं बंधनें तोडण्यास उभा राहिला. या चळवळीचें पथ्य व मार्ग शस्त्रहीन क्रांति हा होता.

भारतांत समाजवादाचा उदय

भारताच्या स्वातंत्र्यप्राप्तीच्या इतिहासांत १९२० नंतर राष्ट्रवादा-बरोबरच पाश्चात्य देशाकडून समाजवादी ध्येयवाद आला. या समाजवादी ध्येयाची साम्यवादी स्वरूपांत निर्मिती व संघटना मुख्यतः एम. एन्. रॉय यांनी केली. साम्यवादी किंवा कम्युनिस्ट संप्रदायास महत्त्व न देतां समाजवादी ध्येयाचा साररूपाने स्वीकार पं. जवाहरलाल नेहरू यांनी केला. समाजवादी ध्येयवादाने भारतीय राजकारणांत सामाजिक समतेचें नैतिक मूल्य दृढमूल झालें आणि राजकारणाला आर्थिक नियोजनाची जोडहि समाजवादी विचारसरणीमुळे प्राप्त झाली. सामाजिक मूलगामी नवरचना केल्याशिवाय भारतास सामर्थ्यशाली राष्ट्र हें रूप प्राप्त होणार नाही, अशा तऱ्हेच्या विचाराची प्रेरणा समाजवादी ध्येयामुळे भारतीय राज-कारणांत उत्पन्न झाली.

एका राष्ट्राचीं दोन राष्ट्रें कां झालीं ?

भारतीय राष्ट्रवादानेच भारत स्वतंत्र झाला. स्वतंत्र होत असतां भारताचे दोन भाग झाले. ते दोन भाग अनपेक्षित आणि अनिष्ट जरी होते तरी ते अपरिहार्यपणें झाले. जणू काय ऐतिहासिक शक्तीपुढे अग-तिकपणे नमल्यामुळे पाक व हिंद असे राष्ट्रांचे दोन भाग पडले. हा एक प्रकारें दैवदुर्विपाकच म्हटला पाहिजे. कांही विचारवंतांचें यासंबंधी असें म्हणणें आहे की हे दोन भाग होण्याचीं एकंदरीत तीन कारणें संभवतात. पहिली नजीकचीं दोन कारणें म्हणजे ब्रिटिशांची भेदनीति व हिंदी नेत्यांचा आध्यात्मिक राष्ट्रवाद होय. भेदनीतीचा इतिहास स्पष्ट आहे. आध्यात्मिक राष्ट्रवादाचें अधिष्ठान हिंदूंच्या उपनिषदांतील, गीतेंतील व पारमार्थिक दर्शनांतील तत्त्वज्ञान होय. या तत्त्वज्ञानाच्या प्रेरणा मुसलमानांचें भावनात्मक एकीकरण करण्यास विरोधी आहेत. त्यामुळे राष्ट्रीय चळवळींत मुसलमान समाज सामील होऊनहि त्यांचें मन हिंदु मनाशीं सांधलें गेलें नाही. तिसरें महत्त्वाचें कारण म्हणजे गेल्या अनेक शतकांमध्ये हिंदु आणि मुसलमान जमाती एकत्र नांदत असूनहि एकाच सामाजिक, आर्थिक व राजकीय जीवनांत जगत असूनहि, या दोन जमातींत सामाजिक समरसता निर्माण होऊं शकली नाही. सामाजिक समरसता हाच राष्ट्रीय ऐक्याचा आधार होय. सामाजिक समरसतेचा अभाव ही एक ऐतिहासिक दुर्घटना होय. या ऐतिहासिक पार्श्वभूमीमुळे निर्वाणीच्या क्षणीं भारतीय राजकारण धोक्यांत सापडलें. हिंद व पाक असा भारत कायमचा दुर्मंगला गेला. एवढेंच नव्हे तर शेजारी शेजारी उत्पन्न झालेलीं हीं दोन राष्ट्रें मित्रराष्ट्रें म्हणून शेजारधर्माने राहणें कठीण आहे, अशा तऱ्हेचा दुस्वास कायमचा निर्माण झाला. या दुस्वासाच्या आपत्तीची तलवार भारत व पाक यांच्या डोक्यावर किती दिवस लटकत राहणार, याबद्दल भविष्यवाद सांगणें अशक्य झालें आहे. या सामाजिक

समरसतेचा अभाव आज इत्यरूपाने भारत आणि पाक या विच्छेदनाच्या स्वरूपांतच केवळ छळत नाही; तर या प्रत्येक राष्ट्रांत या दोन जमाती एकत्र राहिल्या आहेत, पण त्यांना राष्ट्रीयत्वाच्या उच्चतम भावनेने एकत्र सांभलेले नाही. त्यामुळे भारतीयोंचे अंतर्गत राजकारणहि दुर्बळ राहणार आहे. या सामाजिक समरसतेच्या अभावाला मूळ कारण हिंदूंची जातिसंस्था होय. ही हिंदूंची जातिसंस्था जोपर्यंत भारतांत राहिल तोपर्यंत भारताचे राष्ट्रीय ऐक्यहि शिथिल व अट्टाहून भारतीय ऐक्याचे सुद्धा केव्हा तुकडे करील याचा भरवसा सांगता येत नाही. या राष्ट्रीय दौर्बल्यामुळे वायव्येकडून व उत्तरेकडून येऊं पाहणारे धोके अधिकच साशंक व भयभीत करतात.

उपसंहार—तीन प्रश्न

या सर्व समालोचनांतर तीन महत्त्वाचे प्रश्न विचारचक्षुंमुढे उभे राहतात. सर्वांत मूळ्यामी प्रश्न म्हणजे सामाजिक नवरचनेचा होय. हा सर्वच पौर्वात्य राष्ट्रांचा प्रश्न आहे. या प्रश्नाला अप्रगत राष्ट्रांचा प्रश्न म्हणतात. हा प्रश्न दीर्घ कालपर्यंत प्रयोग करित सोडवावयाचा आहे. विद्यमान पिढ्या त्याचा नवा सांगाडा तयार करू शकतील, त्याला नवी दिशा व नव्या ध्येयाची प्रेरणा देऊं शकतील. परंतु ध्येय सरकार होण्यास अनेक पिढ्या जाव्या लागतील. लोकशाही समाजवाद असा या ध्येयाचा निर्देश भारतीय पंचवर्षीय नियोजन आयोगाने केला आहे. जाती-यता, धर्मभेद व संकुचित रुढींच्या संस्था यांच्या मनोबंधनांतून मुक्त अशी मनःस्थिति निर्माण करणारे शिक्षण, दारिद्र्यांतून खात्रीने बाहेर पडतां येईल असे आश्वासन देणारे आर्थिक प्रयत्न आणि सहकारितेने जीवन जगतं येईल अशी श्रद्धा निर्माण करणारे सामाजिक संस्थांचे संघटन या त्रिविध उपायांनीच सामाजिक नवरचनेचा प्रश्न उलगडतां येईल.

दुसरा महत्त्वाचा प्रश्न राजकीय सत्तेचे म्हणजे राज्याच्या शक्तीचे दृढीकरण हा आहे. राज्यशक्तीला दुर्बळ करणाऱ्या अंतर्गत सामाजिक व राजकीय प्रवृत्ति पुष्कळ आहेत. त्यामुळे भारतीय राज्यसत्ता विशाल व जगाचे आकर्षण करणारी दिसत असली तरी ती अजून बाल, नाजुक व क्षणभंगुर आहे. पक्षोपपक्षांचे वैविध्य, अतिरेकी प्रचार व सत्तारूढ पक्षांतील वैयक्तिक सत्ताभिलाषेचे विष फोफावल्यास हा बोलारा संकटांत सापडण्याचा संभव आहे. वैयक्तिक स्वातंत्र्य व संघटनास्वातंत्र्य हे केवळ आपापल्या विवेकनिष्ठ ध्येयवादी मतभेदाकरिता वापरण्याऐवजी सत्तास्पर्धेचे साधन म्हणून

वापरण्याचा मोह अधिक प्रभावी होतो. त्यामुळे बेबंदशाहीचे संकट जवळ येऊं लागते. लोकशाही राज्यसत्ता दृढ नसल्यास एका बाजूने बेबंदशाही व दुसऱ्या बाजूने हुकूमशाही अशी संकटे दोन बाजूंनी उभी राहतात. विचारस्वातंत्र्य, आचारस्वातंत्र्य किंवा संघटनास्वातंत्र्य हे लोकशाहीच्या विकासास पूरक असणारे मूल्य आहे. परंतु हे स्वातंत्र्य वापरणारा लोकशाहीचा नागरिक विवेकी असावा लागतो. म्हणजे ऑरिस्टॉटलपासून आतापर्यंत लोकशाहीच्या संदर्भात एक महत्त्वाचा सिद्धान्त सांगितला जातो. तो असा की, लोकशाहीच्या संरक्षणशक्तीची जोपासना लोकशिक्षणच करू शकते. केवळ 'सुशिक्षित नागरिक' या शब्दावलीने सूचित होणारे शिक्षण यांत अभिप्रेत नाही. लोकशाहीस सामर्थ्य देणारे लोकशिक्षण हे विशिष्ट प्रकारचेच असावे लागते. हे लोकशिक्षण विचार व आचार या दोन प्रकारचे असते. लोकशाहीच्या स्थानिक संस्थांचा वापर करणाऱ्या नागरिकांचा आचारमार्ग व विचारमार्ग विशिष्ट प्रकारचा असतो. त्या विशिष्ट आचार व विचार मार्गाचे शिक्षण देण्याचे कार्य लोकशाहीवर श्रद्धा असलेल्या राजकीय पक्षांनी अंगिकारावयास पाहिजे. असे कार्य या देशांत सर्व लोकशाही पक्षांनी स्वीकारावयास हवे. ते जर त्यांनी स्वीकारले नाही तर सत्तास्पर्धेचे राजकारण पक्षांच्या पोटांत व बाहेर बोकामून बेबंदशाहीचे संकट नजीक येऊं लागेल.

या संदर्भात अखेरचा तिसरा महत्त्वाचा प्रश्न उत्पन्न होतो. पक्षोपपक्षांच्या राजकारणाच्या गोंधळांतून जनमनाला मुक्त करणारे देशव्यापी विधायक राजकीय आंदोलन प्रभावी करणे हा होय. काँग्रेस हा संसदीय पक्षेत राजकीय पक्ष म्हणून कार्यवाही करित असला तरी तो अजून देशव्यापी विधायक आंदोलनाचा नेता बनू शकेल. स्वातंत्र्यपूर्व कालांत काँग्रेस ही जनतेच्या स्वराज्यविषयक आंदोलनाचे संघटित रूप म्हणून वावरत होती. स्वातंत्र्योत्तर कालांत त्याला राजकीय संकुचित रूप प्राप्त झाले. त्यांत सत्ताप्राप्तीमुळे अनेक वैगुण्ये उत्पन्न झाली किंवा असलेली उघडकीस आली. कार्यकर्ता व विचारवंत नेता म्हणून काँग्रेसजनाचे मूल्य राहिले नाही. कारण, स्वातंत्र्याच्या चळवळींत सर्वमान्य अशी एकच भावना असली म्हणजे पुरत होती. नव्या जबाबदाऱ्या पेलणारा नवा माणूस काँग्रेसचा सदस्य म्हणून काम करू लागला तरच देशव्यापी विधायक आंदोलनाची उभारणी होऊं शकेल. त्याला नव्या विचारांची शिक्षा व नव्या आचारांची दीक्षा देण्याची आवश्यकता आहे.



गे ली स ते चा ली स व र्णे

- १९४४ मार्च १२ —सातारा जिल्ह्यांतील देवराष्ट्रे गावीं मातोश्री विठाबाई यांचे पोटी जन्म.
- १९४८ —कराड येथे प्लेगच्या साथीत बडील श्री. बळवंतराव यांचे निधन.
- १९४७ —मराठी सातवी इयत्ता उत्तीर्ण व कराड येथील टिळक हायस्कूलमध्ये प्रवेश.
- १९४० —पुणे येथील वक्तृत्व स्पर्धेत पहिल्या क्रमांकाचे १५० रुपयांचे बक्षीस मिळविले (वय १६).
- १९४० ते १९४२ —म. गांधीप्रणीत कायदेमंगाच्या चळवळीत उडी व १८ महिन्यांचा कारावास. तुसंगांत नवीन दृष्टीचा साक्षात्कार.
- १९४४ —मॅट्रिक्युलेशन परीक्षेत उत्तीर्ण व कोल्हापूर येथील राजाराम कॉलेजांत प्रवेश.
- १९४८ —मुंबई विद्यापीठाच्या बी. ए. पदवी परीक्षेत सुयश. विषय—इतिहास व अर्थशास्त्र. नंतर पुणे येथे लॉ कॉलेजांत प्रवेश.
- १९४० —एल्एल. बी. परीक्षेत सुयश व बकिलीच्या व्यवसायास सुरुवात (वय २६).
- १९४२ मे —फलटण येथील मोरे कुटुंबांतील सुकन्येशीं विवाह.
- १९४२ ऑगस्ट १ —म. गांधी यांनी 'चले जाव' ची घोषणा केली.
- १९४२ ऑगस्ट } सातारा जिल्ह्यांतील भूमिगत चळवळीत
ते } प्रवेश, चळवळीचे संचालन आणि
१९४३ एप्रिल } मार्गदर्शन (वय २८-२९).
- १९४३ एप्रिल —रुग्ण पत्नी सौ. वेणूताई यांना भेटण्यासाठी फलटण येथे आगमन झाले असतां पोलिसांनी अटक केली.
- १९४३ —थोरले बंधू श्री. शानोबा यांचा मृत्यु.
- १९४५ —तुसंगातून सुटका.
- १९४६ —मुंबई विधिमंडळाच्या निवडणुकीत कराड मतदारक्षेत्रातून सुयश व गृहखात्याचे पार्लमेंटरी सेक्रेटरीपद (वय ३२).

- १९४८ —मधले बंधू श्री. गणपतराव यांचा मृत्यु.
- १९५२ —मुंबई विधिमंडळाच्या सार्वत्रिक निवडणुकीत कराड येथे यश व पुरवठा मंत्रीपदाची सूत्रे हातीं आली. (वय ३८).
- १९५३ सप्टेंबर २८ —विदर्भ, मराठवाडा आणि पश्चिम महाराष्ट्र यांच्या एकीकरणाची पूर्वतयारी करणाऱ्या 'नागपूर करारा' वर नागपूर येथे पश्चिम महाराष्ट्राचे वतीने, श्री भाऊसाहेब हिरे श्री. कुंटे प्रभृतीसमवेत स्वाक्षरी.
- १९५५ ऑक्टोबर १० —राज्यपुनर्रचना समितीचा अहवाल प्रसिद्ध झाला. विदर्भाचे वेगळे राज्य व उर्वरित मराठी प्रदेश व गुजराती प्रदेश यांचे संयुक्त राज्य सुचविणारी शिफारस.
- १९५५ डिसेंबर १ —फलटण येथे सातारा जिल्हा काँग्रेस कमिटीच्या सभेत 'उपोषण, संप, राजीनामे हे संयुक्त महाराष्ट्र मिळविण्याचे मार्ग नव्हेत' असे ठासून प्रतिपादन करणारा ठराव मंजूर. "महाराष्ट्रापेक्षां नेहरू श्रेष्ठ" आणि 'मुंबईसह संयुक्त महाराष्ट्र मिळविण्याचे प्रयत्नांत या पुढे श्री. शंकरराव देव यांचे नेतृत्व स्वीकारावयास मी तयार नाही' अशी श्री. चव्हाण यांची घोषणा.
- १९५५ डिसेंबर २ —राज्यपुनर्रचना समितीच्या शिफारशीने प्रशुब्ध झालेलें जनमत यशवंतरावांच्या या घोषणेने अधिकच मडकलें आणि नंतर सतत वर्षभर यशवंतरावांवर शिव्याशापांचा वर्षाव होत राहिला.
- १९५६ ऑक्टोबर —लोकसभेने विदर्भासह विशाल द्विभाषिक मुंबई राज्याची स्थापना करण्याचे बाजूने आपला कौल दिला.
- १९५६ नोव्हेंबर १ —विशाल द्विभाषिक मुंबई राज्याची स्थापना व श्री. चव्हाण यांचेकडे मुख्य मंत्रीपद (वय ४२).

१९५७ एप्रिल — मुंबई विधिमंडळाच्या सार्वत्रिक निवडणुकीत कराड येथे अतीतटीचा सामना होऊन विजय आणि पुनश्च मुख्यमंत्रीपद (वय ४३).

१९५७ नोव्हेंबर १० — प्रतापगडावर शिवस्मारकाचे पंतप्रधान पं. नेहरू यांचे हस्ते उद्घाटन व संयुक्त महाराष्ट्र समितीच्या वतीने द्विभाषिक विरोधी मोर्चा. राजकीय वातावरण तप्त; पण मोर्चा व समारंभ शांततेने पार पडले.

१९५८ सप्टेंबर — अ. भा. काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटीवर नियुक्ति.

१९५८ नोव्हेंबर — बेळगांव-कारवार सीमा प्रदेश महाराष्ट्रांत समाविष्ट करून घेण्यासाठी संयुक्त महाराष्ट्र समितीच्या वतीने चळवळ सुरू.

१९५८ डिसेंबर — सीमा प्रश्नाची दाद मागण्यासाठी भारताच्या राजधानीत संयुक्त महाराष्ट्र समितीच्या वतीने सत्याग्रह.

१९५९ जानेवारी — अ. भा. काँग्रेसच्या नागपूर अधिवेशनांत तृतीय पंचवार्षिक योजनेविषयीचा ठराव मांडला.

१९५९ मार्च — शस्त्रक्रिया व ४२ दिवसांची विश्रांति.

१९५९ ऑगस्ट — द्विभाषिक राज्याचा कारभार यशस्वी होत असला तरी राज्यांतील जनतेत एकतामतेची भावना निर्माण झालेली नाही म्हणून, मुख्यमंत्री या नात्याने तें मी यापुढे चालवू शकणार नाही, असा निर्णय घेऊन तो काँग्रेस श्रेष्ठींना कळविला.

१९५९ सप्टेंबर — द्विभाषिक मुंबई राज्याच्या पुनर्रचना-संबंधी विचार करण्यासाठी काँग्रेस वर्किंग कमिटीने नऊ सदस्यांची समिति नेमली.

१९६० जानेवारी — द्विभाषिक राज्याची पुनर्रचना करून मुंबईसह मराठी प्रदेशाचे व गुजरात प्रदेशाचे अशी दोन राज्ये निर्माण करण्याचा निर्णय नऊ सदस्य समितीने घेतला.

१९६० मार्च — बारामती येथील लोकसभेच्या पोटनिवडणुकीत काँग्रेस पक्षाच्या उमेदवाराला प्रचंड बहुमताने निवडून देऊन, महाराष्ट्र राज्याची निर्मिति लोकशाही पद्धतीने व शांततेने करण्याच्या प्रयत्नावर मराठी जनतेने विश्वास व्यक्त केला.

१९६० एप्रिल — लोकसभेने द्विभाषिक राज्याची पुनर्रचना करून मुंबईसह महाराष्ट्र व गुजरात अशी दोन राज्ये निर्माण करण्याच्या योजनेवर शिक्कामोर्तब केले.

१९६० मे १ — महाराष्ट्र राज्याची उत्साही वातावरणांत स्थापना व नवीन राज्याचे पहिले मुख्यमंत्री म्हणून शपथविधि (वय ४६).

१९६० जून — पुणे येथे पं. गोविंदवल्लभ पंत याचे उपस्थितीत म्हैसूरचे मुख्यमंत्री श्री. जत्ती. यांनी सीमेचा प्रश्न वादविषय असल्याचे मान्य केले. श्री. चव्हाण व श्री. जत्ती यांचे सीमाप्रश्नाचा विचार करण्यासाठी व आपापल्या सरकारांना रिपोर्ट सादर करण्यासाठी प्रत्येकी दोन प्रतिनिधी मिळून चार सदस्यांची नेमणूक करण्यांत येईल, अशी घोषणा करणारे संयुक्त पत्रक.

१९६० नोव्हेंबर — अ. भा. काँग्रेस निवडणूक मंडळावर निवड.

१९६० नोव्हेंबर १० — नागपूर कराराच्या अंमलबजावणीचा महत्त्वाचा भाग म्हणून नागपुरांत महाराष्ट्र विधिमंडळाचे एक अधिवेशन दरवर्षी भरविण्यास सुरुवात.

१९६१ जानेवारी — काँग्रेस महासमितीमधून निवडणूक पद्धतीने प्रथमच झालेल्या निवडणीत वर्किंग कमिटीवर निवड.

१९६१ मार्च ३० — विदर्भातील जनतेच्या वतीने नागपूर येथे ४७ व्या वाढदिवसानिमित्त सत्कार समारंभ.



धन्य शाली माउली

मातुश्रीसह

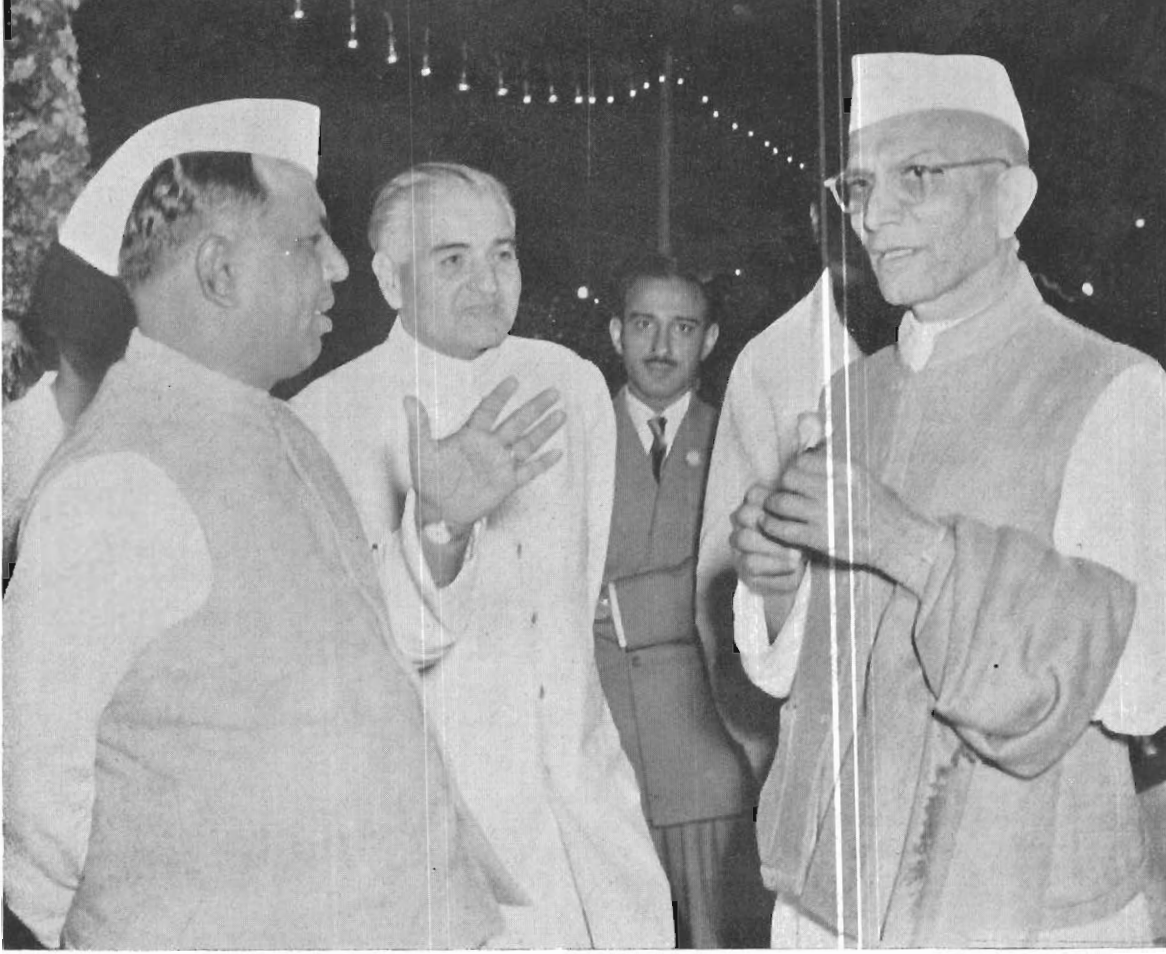


मंत्रिपदापासून मुख्य मंत्रिपदापर्यंत

—पुरवठामंत्री

—श्री. रफीअहमंद किडवई यांचेसमवेत





श्री. मोरारजी देसाई यांचेसह

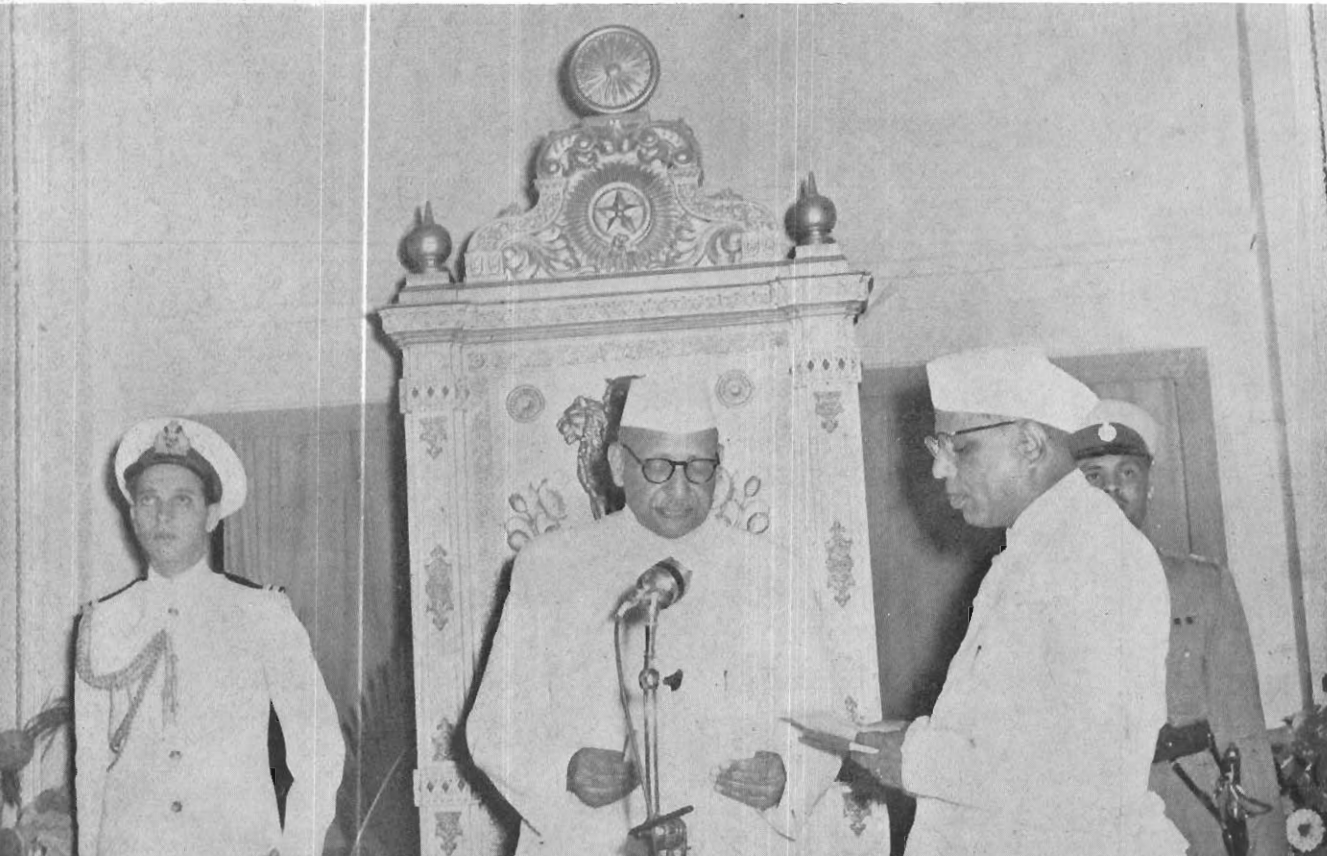
द्विभाषिक राज्याच्या मुख्य मंत्रिपदाची शपथ घेत असतां



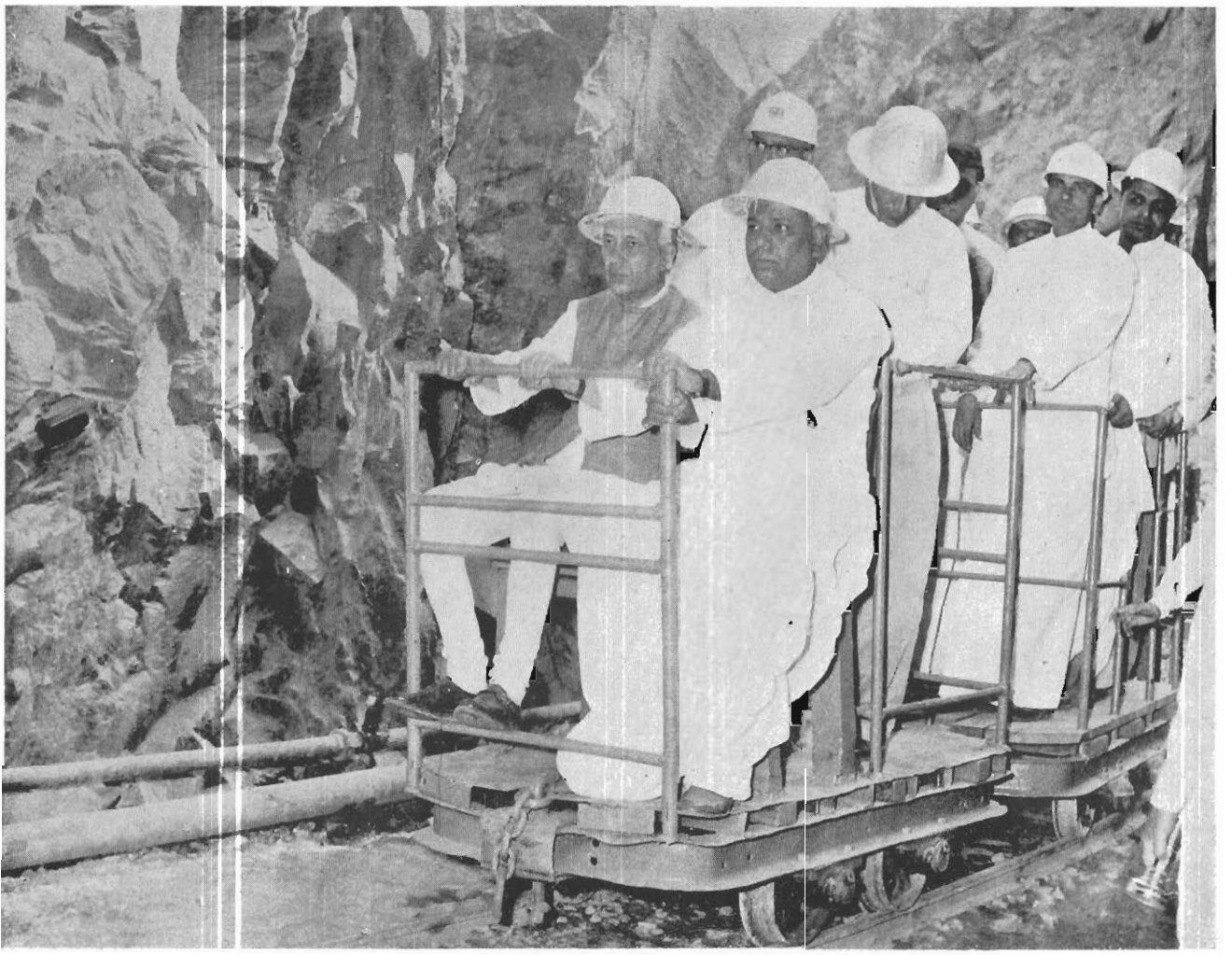


द्विभाषिक मंत्रिमंडळाच्या एका बैठकीनंतर

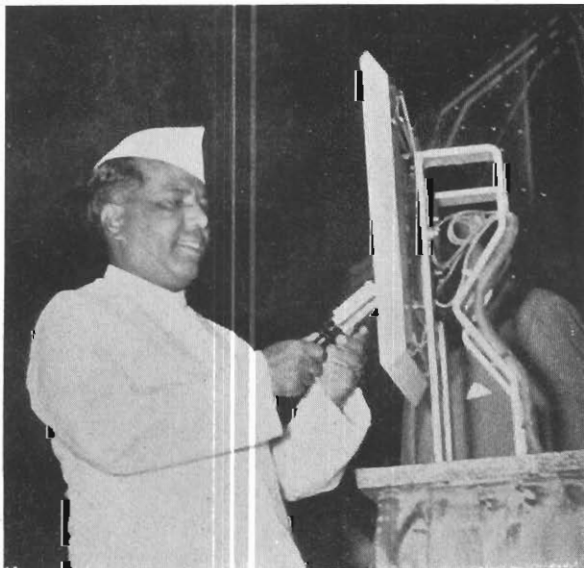
महाराष्ट्र राज्याच्या मुख्य मंत्रिपदाची शपथ घेत असत







कोयना धरणास पंडित नेहरुंनी पाहिली भेट दिल्ली ल्या वेळीं



ट्रॉम्बे येथील 'अम्बरा' अणुकेंद्राचे उद्घाटन करताना



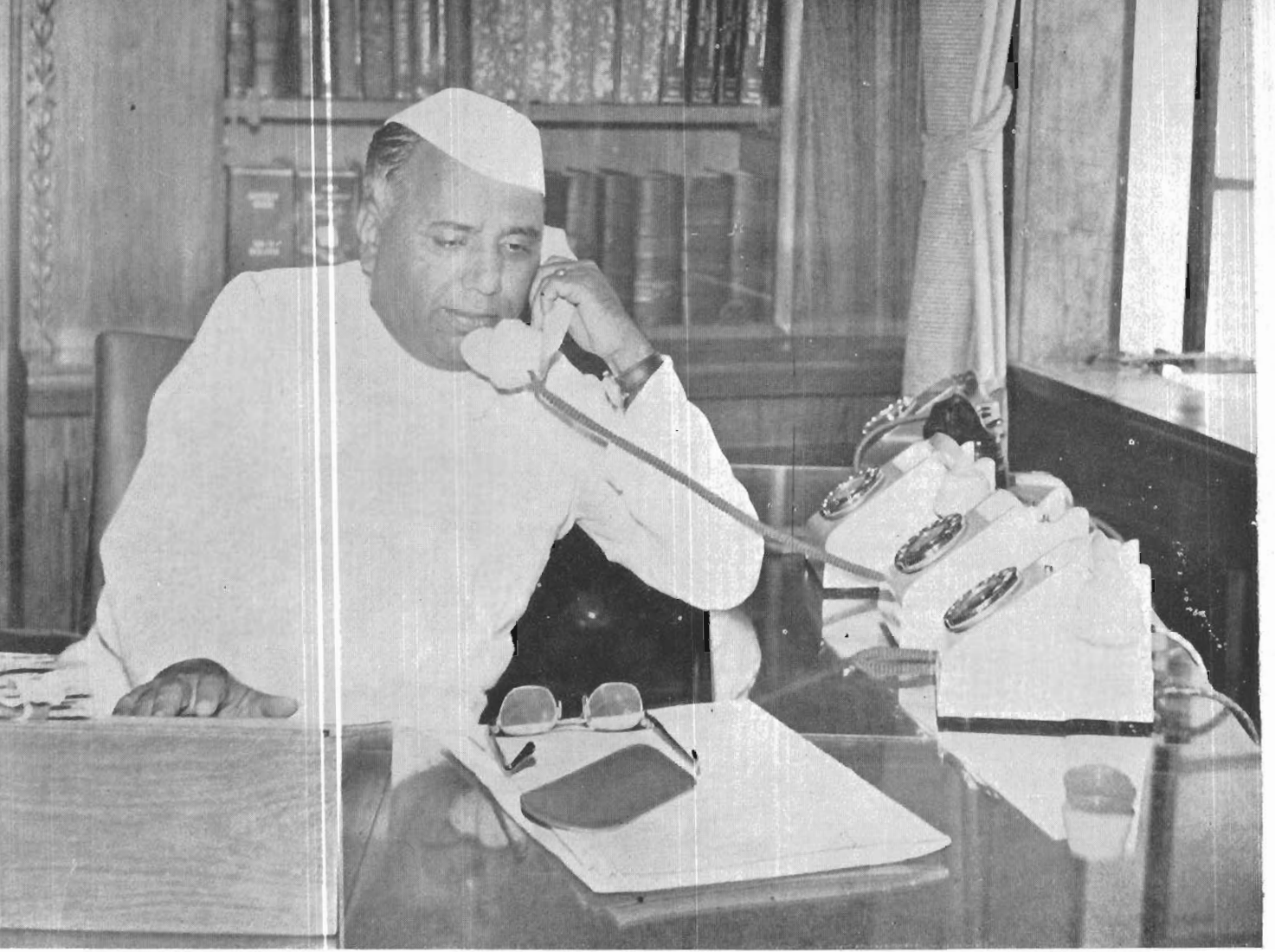
सोनियाचा दिवस !



श्रीर सलामत तो पगडी पचास

वनमहोत्सवांतील वृक्षारोपण



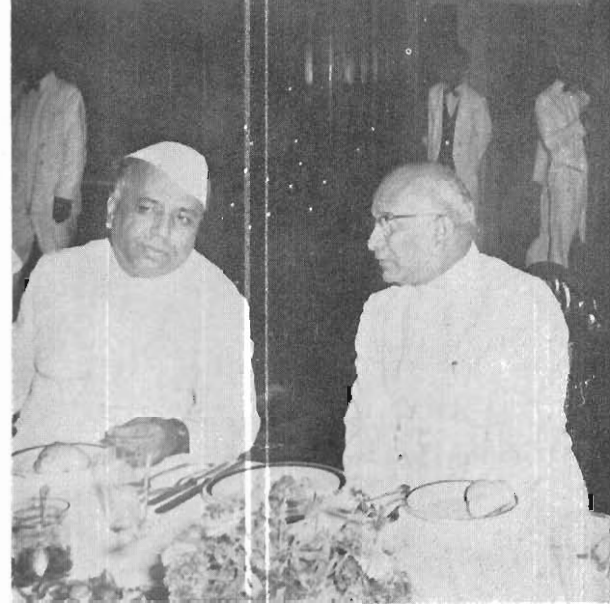


कार्यमग्न मुख्य मंत्री

पुणे विद्यापीठ-कुलपति डॉ. परांजपे व श्री. चव्हाण

श्री. चव्हाण व महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेसचे अध्यक्ष श्री. खेडकर





श्री. चव्हाण व श्री. कन्नमवार

श्री. चव्हाण व श्री. कन्नमवार

नागपूर येथील एका समारंभांत—श्री. भवानीशंकर निशेगी, सौ. गोपिकाबाई कन्नमवार, श्री. चव्हाण व श्री. कन्नमवार

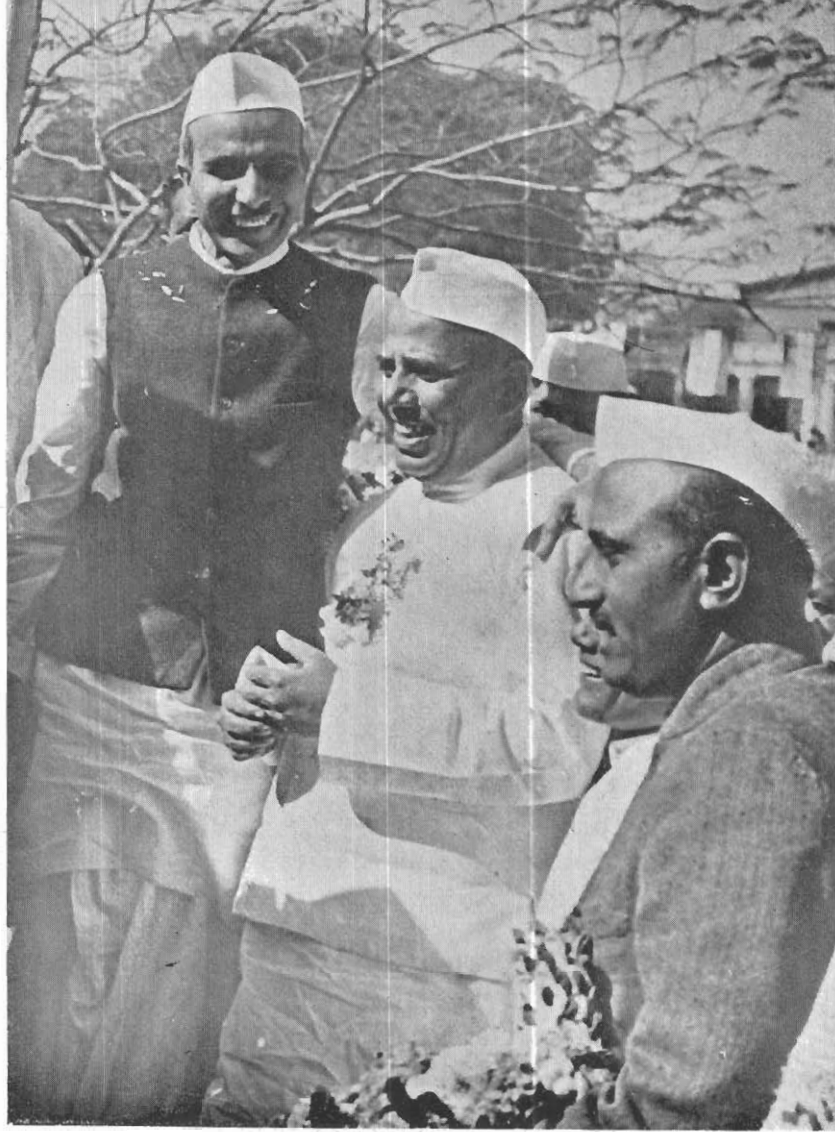




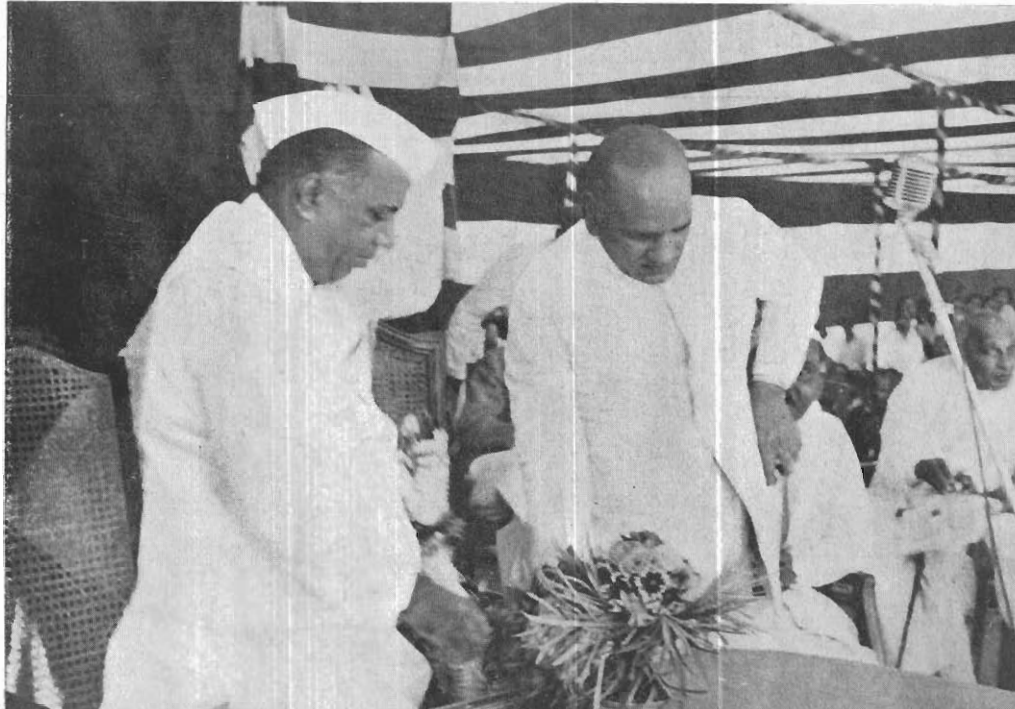
इंडोनेशियाचे अध्यक्ष डॉ. सुकर्ण यांचे आदरातिथ्य
श्री. चव्हाण व श्री. जे. आर. डी. टाटा



अ. भा. काँग्रेसच्या
नागपूर अधिवेशनाच्या वेळीं
श्री. देवर, श्री. चव्हाण
व श्री. गावंडे



नागपूरचे महापौर श्री. पन्नालाल
देशराज मुख्य मंत्र्यांचें
स्वागत करित असतां



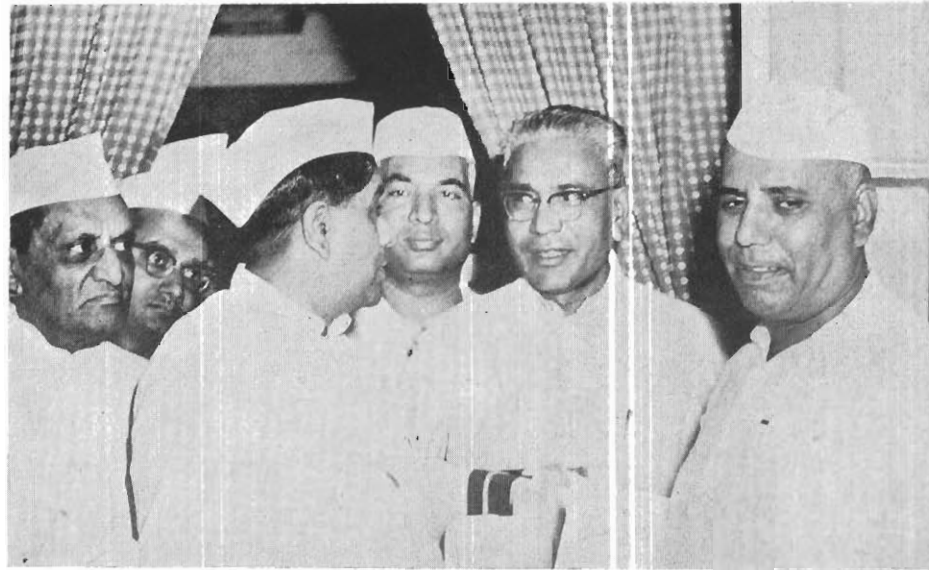


कर्तृत्व आणि प्रेरणा

जीवनीं संजीवनी लाभे न सौभाग्याविना
आकारितें 'कर्तृत्व' हें ती अंतरीची प्रेरणा



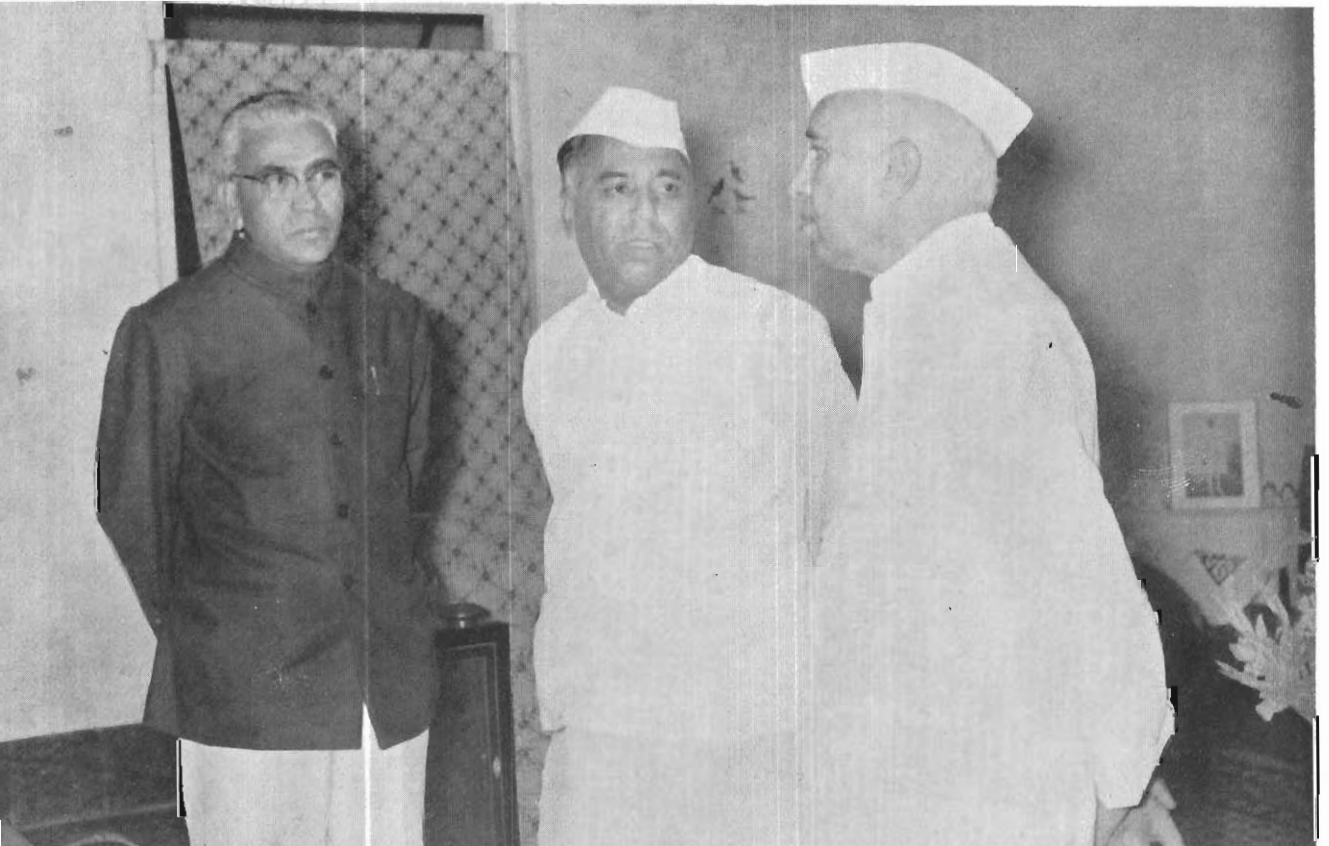
मंत्रिमंडल
हैंच
मित्रमंडल

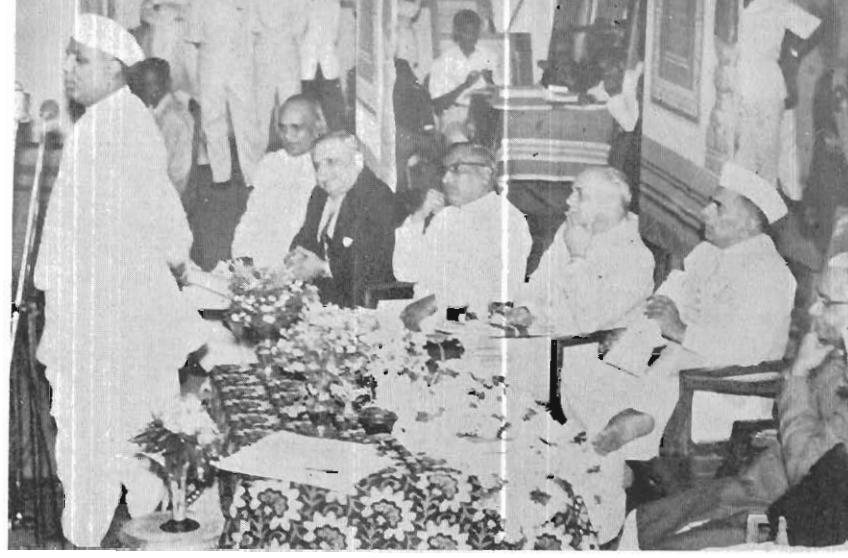




मोलापूर जिल्ह्यांतील ताली घालण्याच्या कामाची पाहणी करीत असतां पंडित नेहरू, श्री. नाईक व श्री. चव्हाण

सोलापूर येथे श्री. नाईक, श्री. चव्हाण व पंडित नेहरू

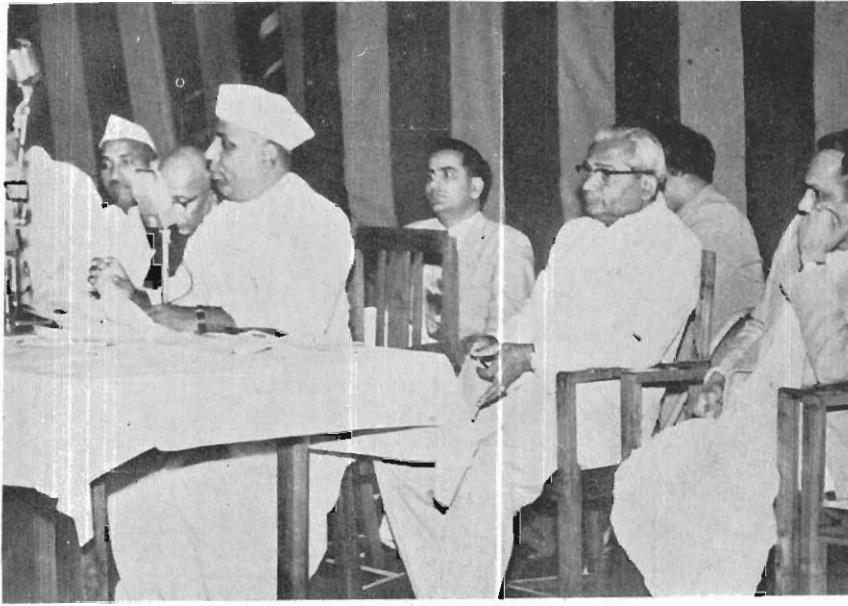




नागपूर विभाग औद्योगिक परिषदेंत

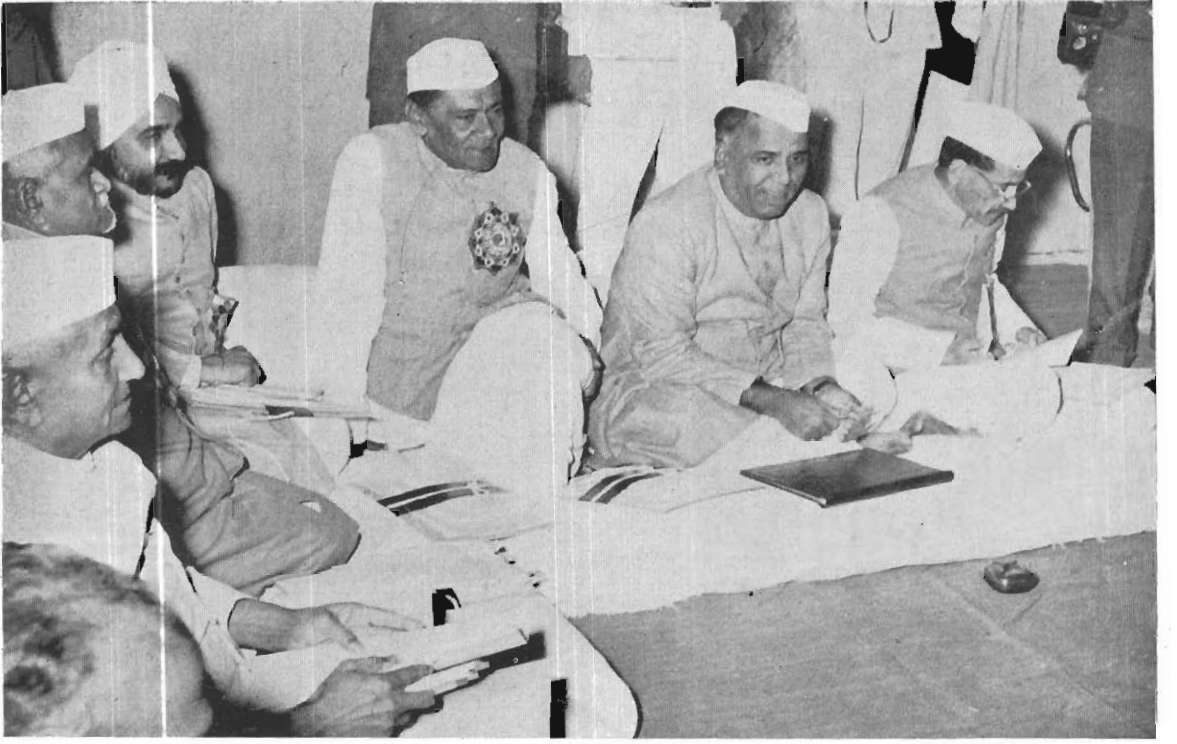


विणकरांची सभा—खापा

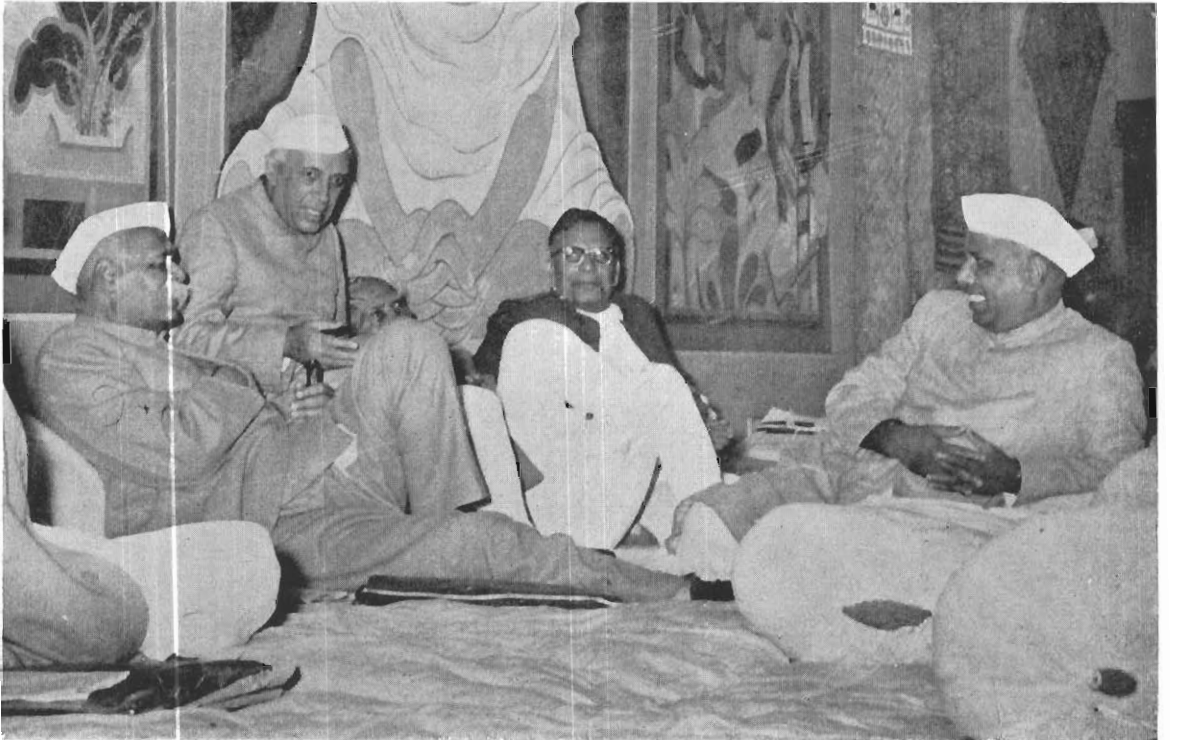


नागपूर येथे विणकरांचे प्रश्न समजावून घेतांना
विदर्भ पत्रकार संमेलनांत





काँग्रेस महासमित्तीच्या भावनगर अधिवेशनांत



“सांभाळ आता पुढे ‘एकलव्या’ प्रश्नेरचिया त्या कृपासंकटा”

“हिंदी चिनी भाई भाई”
या घोषणेच्या काळात—



गाझा पट्टीतून
परत मायदेशी आलेल्या
सैनिकांचे स्वागत करतांना



प्राइझ वॉडचा नंबर उचलतांना





राणी एलिझाबेथ
आणि प्रिन्स फिलिप
यांची मुंबईस भेट

सांताक्रुझ विमानतळावर
राजभवनानेकडे



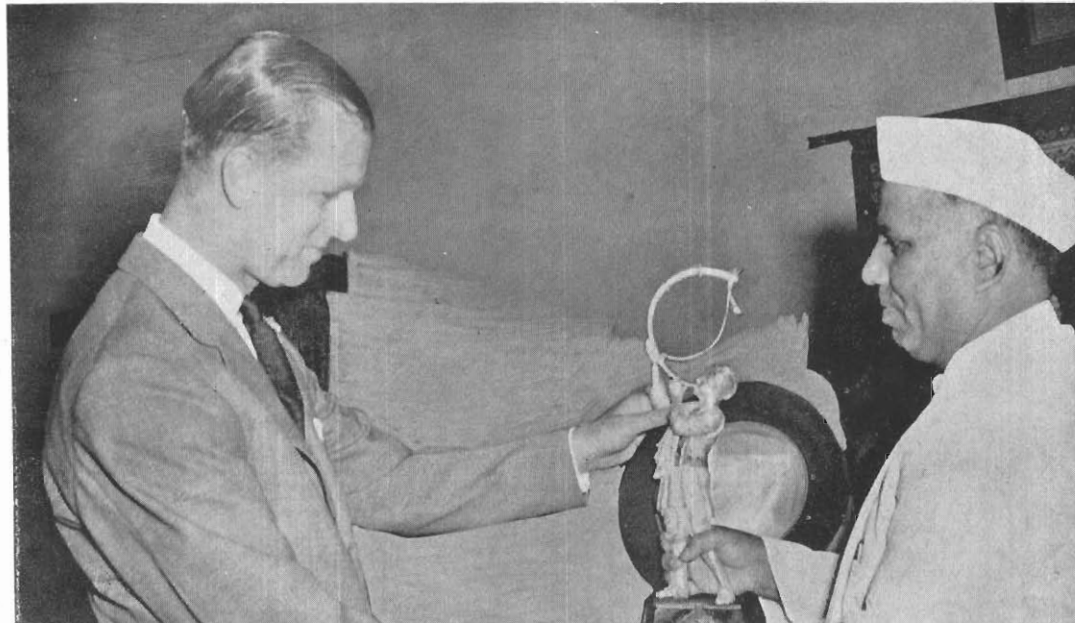


हास्यविनोदाचे क्षण



स्नेहोपहार

निरोपाची भेट





शिवराजास आठवाँ ।
जीवित्व तृणवत् मानावें ।
इहपरलोकीं राहावें ।
कीर्तीरूपें ॥

आहे तितुकें जतन करावें ।
पुढें आणिक मिलवावें ।
महाराष्ट्र राज्य करावें ।
जिकडे तिकडे ॥

लोकीं हिंमत धरावी ।
शतींची तलवार करावी ।
चढती वाढती पदवी ।
पावाल येणें ॥

—रामदास



भारताच्या प्रवेशद्वारासमोरील अश्वारूढ शिवरायांच्या पुतळ्याचा अनावरण समारंभ

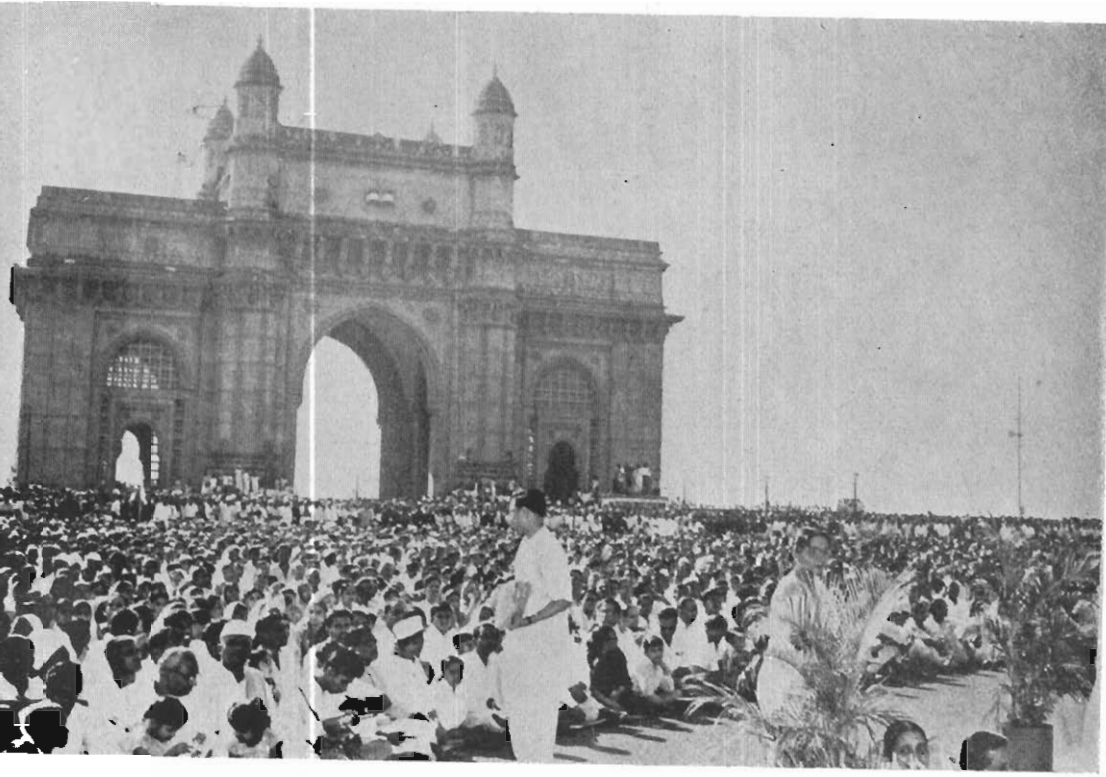
दख्खनच्या हे प्रतापसूर्या !
जयजयजय शिवराया,
जय हे छत्रपती शिवराया !!

दिशादिशांतुनी आज तुझ्यावर तेजाची झिरपणी
नभोटुंदुभि झडती, आली ही मंगल पर्वणी
तरंग गाती पुरुषसूक्त हे लोळण घेई दर्या
जयजयजय शिवराया !

तूच प्राण, अभिमान आमुचा, युगपुरुषा शिवराया
सहस्रकंठांतुनी प्रभू हे शिवमंगल तुज गाथा
“महाराष्ट्र” जाहले आज हे तुझ्या ऋषेची छाया
जयजयजय शिवराया,
जय हे छत्रपती शिवराया !

—राना वडे—‘शिवमंगल’





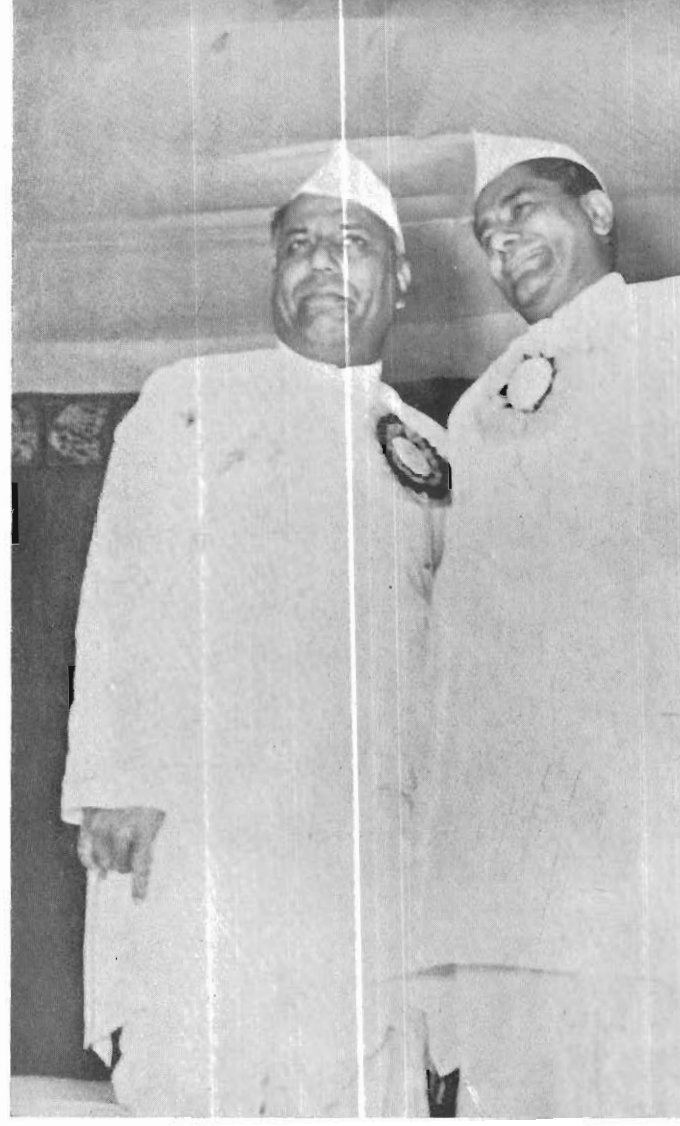
शिवरायांच्या अश्वारूढ
पुतळ्याच्या अनावरण समा-
रंभातील आणखी कांहीं दृश्ये

समारंभास लोटलेला जनसागर





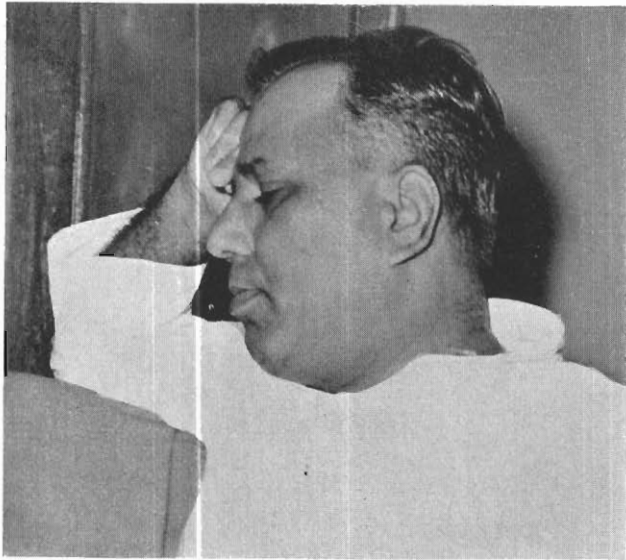
व्यासपीठाकडे येत असतांना



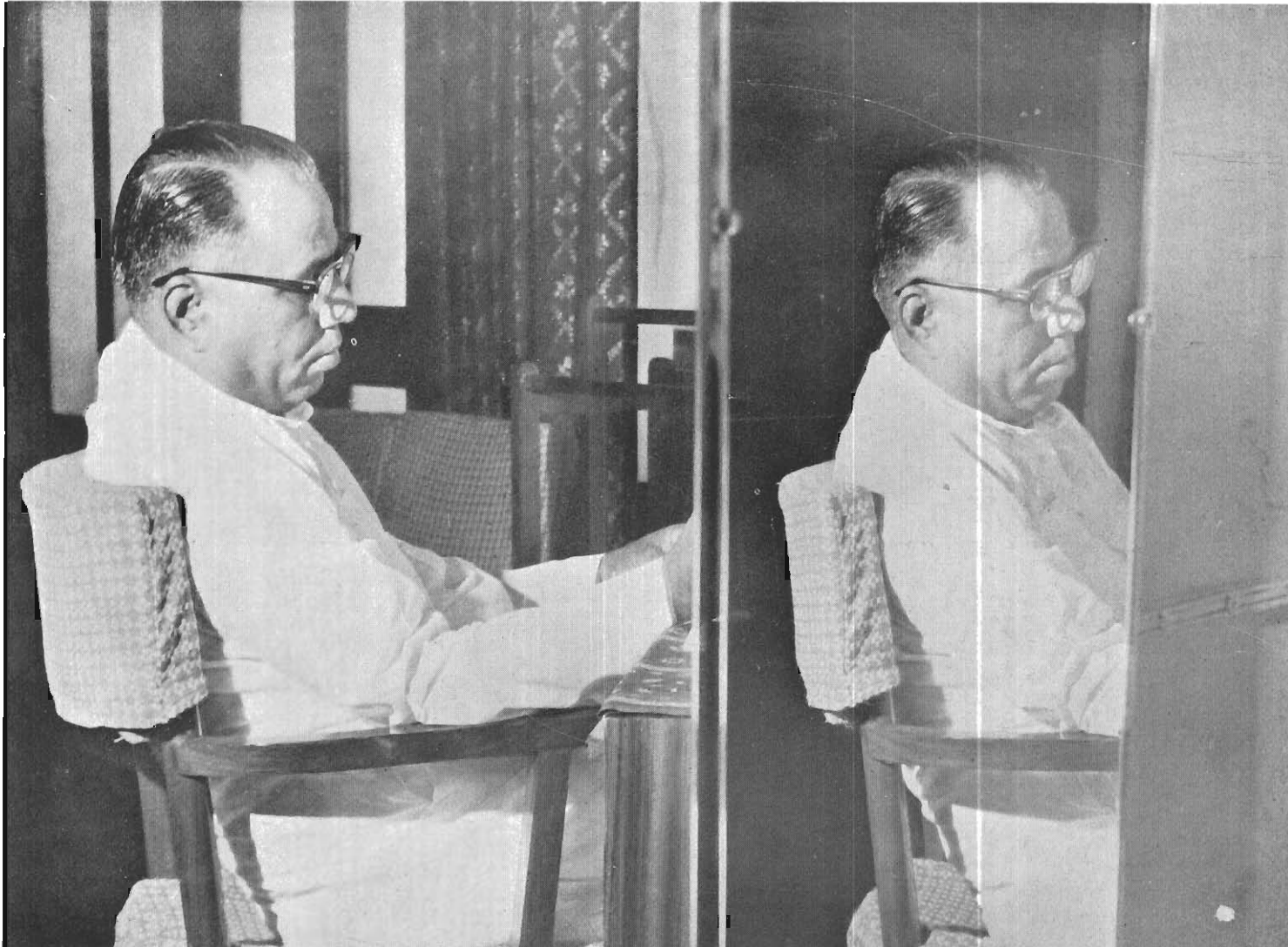
उत्सव समितीचे अध्यक्ष श्री. बाळासाहेब देसाई यांचे समवेत

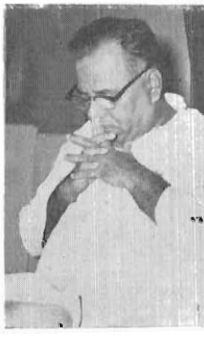
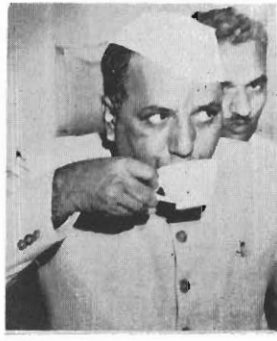
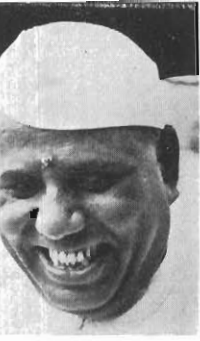


शिवप्रतिमेस
ओवळणाच्या
सुवासिनी

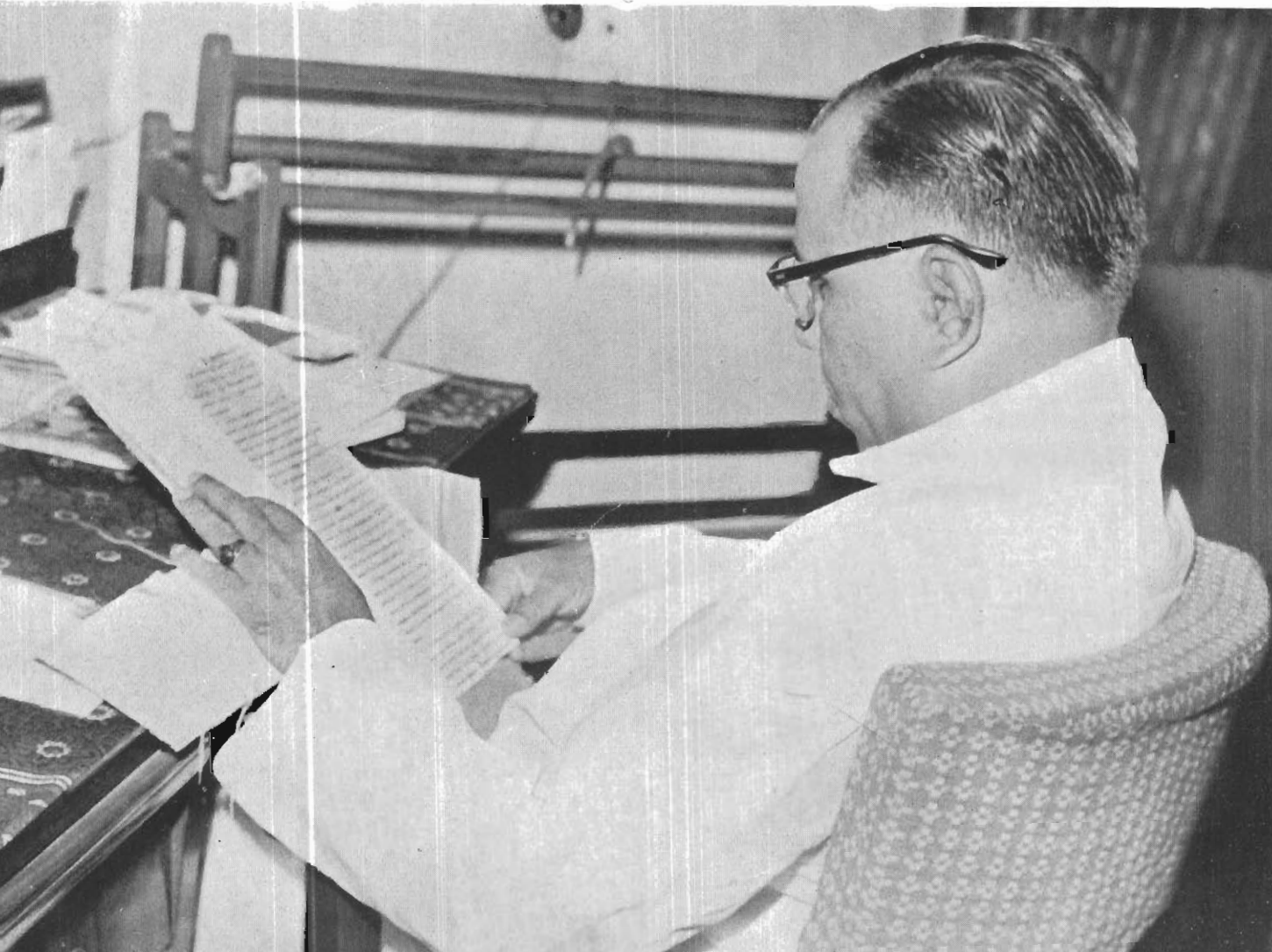


पल लागताच डोळा संधी अशी बघून
पाठीस लागलेले हे दोन धूर्त कोण !

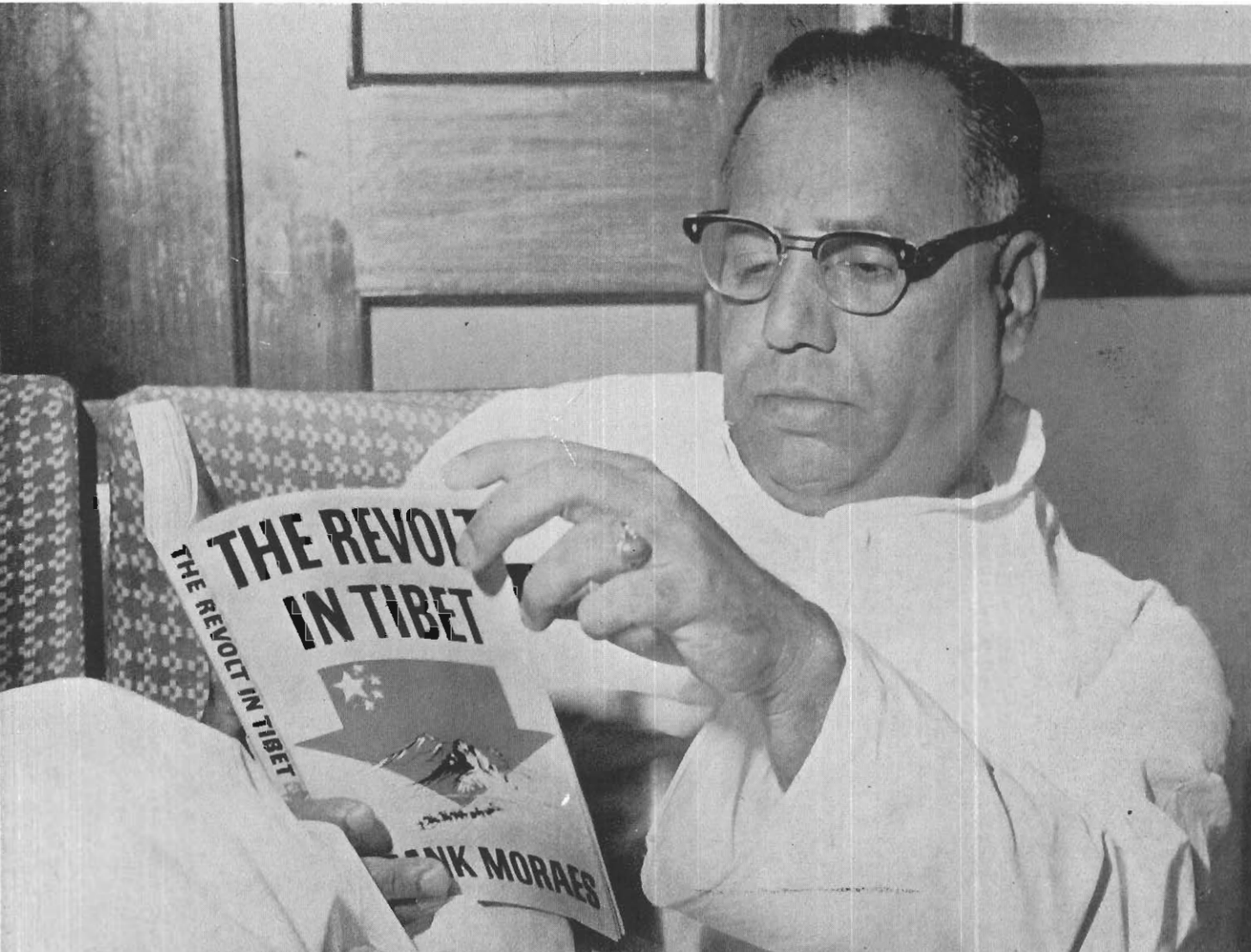




“अम्हां लाभला कर्षकांच्या कुर्ळांचा महाधोरणी धूर्त लोकाग्रणी”



आता विचार उत्तरेचा!





श॒तं जी॒वि श॒रदो॑ वर्ध॒मानः
श॒तं हे॒मन्ताञ्छ॒तमु॑ वस॒न्तान् ॥
श॒तमिन्द्रा॒ग्नी सं॒विता॑ बृ॒हस्पतिः॑
श॒तायु॑षा ह॒विषे॑मं पुन॒र्दुः ॥

क्र. १०-१६१-४

मसलत
पंतप्रधान इंदिरा गांधी - अश्वंतराव



'वाटचाल'



देवराष्ट्र



मुंबई 'सहादि'



१ रेसकोर्स रोड, नवी दिल्ली

चव्हाण कुटुंबीय



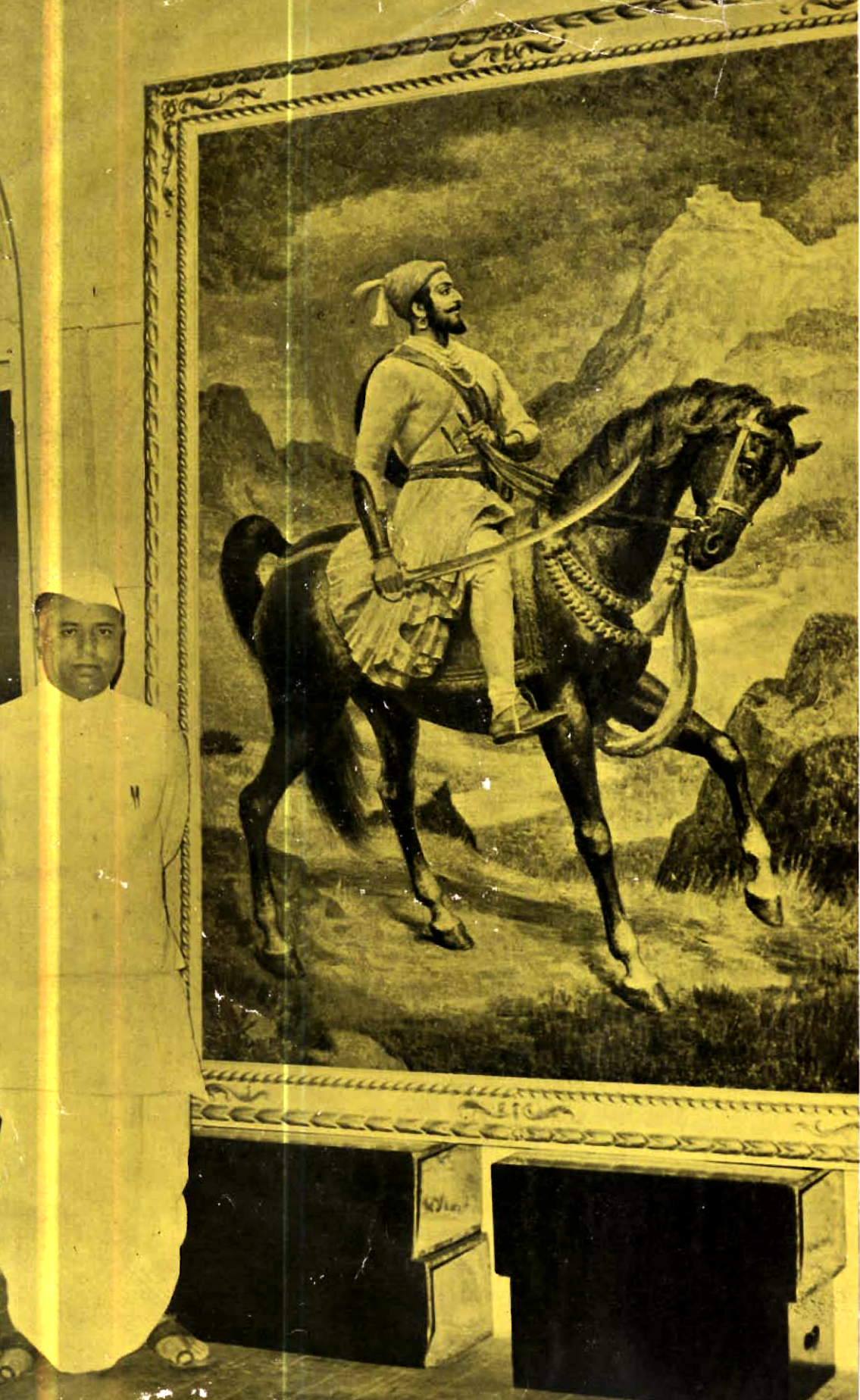
बळवंतराव चव्हाण (वडील)
ज्ञानोबा चव्हाण (बंधू)
गणपतराव चव्हाण (बंधू)



मातोश्री श्रीमती अक्का
(विगई)
आणि यशवंतराव

श्रीमती बाधाबाई कोतवाल
(अगिनी)





आशीष लामो प्रतापी
शिवाचा धुरीणा तुला
खड्गहस्तासह